"त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में जनवादी चेतना"(आधुनिकता के संदर्भ में)

संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती के मानव विज्ञान विद्या शाखा के अंतर्गत हिंदी में आचार्य उपाधि प्राप्त करने हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबंध

● शोधार्थी ●

मोनिका आशिष उमक

अंशदायी प्राध्यापक

श्री शिवाजी कला व वाणिज्य महाविद्यालय,अमरावती

● शोध निर्देशक ●

डॉ. संगीता जगताप

सहयोगी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, चिखलदरा

● अनुसंधान केंद्र ●

हिंदी विभाग, कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय

चिखलदरा, अमरावती (महाराष्ट्र) 2022

(केंद्र क्रमांक 163)

संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती

2023

प्रमाणपत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **मोनिका आशिष उमक** ने मेरे निर्देशन में **'त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में जनवादी चेतना'(आधुनिकता के संदर्भ में)** विषय पर यह शोध प्रबंध संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय अमरावती द्वारा निर्धारित मापदंडों के अनुसार पूर्ण किया है।

संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया यह शोध प्रबंध उनके परिश्रम का फल है, मैं संस्तुति करती हूँ कि इसे परीक्षणार्थ अग्रेषित किया जाए।

शोध निर्देशक

डॉ. संगीता जगताप
सहयोगी प्राध्यापक, हिन्दी विभागाध्यक्ष,
कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय,
चिखलदरा, अमरावती.

दिनांक : / /2023

चिखलदरा, अमरावती.

घोषणापत्र

मैं **मोनिका आशिष उमक** घोषित करती हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध **'त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में जनवादी चेतना'(आधुनिकता के संदर्भ में)** मेरा व्यक्तिगत एवं मौलिक कार्य है।

मैं यह भी घोषित करती हूँ कि यह शोध प्रबंध जहाँ तक मुझे ज्ञात है पूर्व किसी भी विश्वविद्यालय में पीएच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

शोधार्थी

(मोनिका आशिष उमक)
अंशदायी प्राध्यापक
श्री शिवाजी कला व वाणिज्य महाविद्यालय,
अमरावती

दिनांक: / /2023

अमरावती

प्राक्कथन

जनवादी साहित्य जनता का साहित्य रहा है। इसमें जनता के सुख-दुःखों, मनोभावों, विचारों के साथ संपूर्ण जीवन का सूक्ष्म प्रतिबिंब अंकित होता रहा है। सामान्य जन ही इस साहित्य का केंद्रबिंदु है। जनवादी साहित्य केवल साहित्य बनकर नहीं रहता तो जन सामान्य को शोषण से मुक्ति का सशक्त हथियार एवं साधन बनता है। जनवादी साहित्यकार के लिए साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि अपने सामाजिक दायित्व को निभानेवाला हथियार होता है जनवादी साहित्यकार अपने समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव के लिएजन सामान्य जनता को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता है। इस साहित्य में सामान्य जनता के दुःख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं का सजीव चित्रण अंकित हुआ है, जो हमें अन्य साहित्य में दिखाई नहीं देता।

वैसे देखा जाए तो साहित्य में जनवादी परंपरा काफी पुरानी रही है। इसी कारण कुँवरनारायण कहते हैं, साहित्य का जनवाद राजनैतिक के जनवाद से ज्यादा पुराना है और ज्यादा व्यापक है। इसमें जिस साहित्य का सृजन लोकाश्रय में हुआ है वह साहित्य जनता के सुख-दुःखों, भावनाओं, विचारों और समस्याओं की अभिव्यक्ति का ही माध्यम बना है। ऐसे साहित्य को जनवादी साहित्य कहा जा सकता है। इसी आधार पर हिंदी साहित्य में कबीर सूर, तुलसी आदि मध्ययुगीन कवियों से लेकर आधुनिक युग के कई साहित्यकारों को जनवादी साहित्यकार एवं उनके साहित्य को जनवादी साहित्य कहा जाता है।

जनवादी चेतना का काव्य आंदोलन हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह काव्य आंदोलन समस्त जनता के अधिकारों एवं आजादी की घोषणा करता है। इस आंदोलन में मेहनतकश और शोषित जनता की संस्कृति की प्रधानता है। कला और साहित्य इस आंदोलन में सामंतों के मनोरंजन के साधन न रहकर आम मेहनतकश जनता के जीवन का अंग बन जाते हैं। इसमें सारी जनता देश के राजनीतिक जीवन में हिस्सा लेती है और राजनीतिक कामों को स्वयं चलाती है। वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर आदि भेद इस आंदोलन को अमान्य है। जनवादी

चेतना का काव्य आंदोलन सामान्य जनता के नैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए प्रयास करता है। जनवादी कविता में इस देश के आम आदमी की आशा-आकांक्षाओं का जहाँ चित्रण हुआ है, वहाँ उसके संघर्ष और आक्रोश की भी सार्थक अभिव्यक्ति हुई है। जनवादी चेतना के काव्य का स्वरूप उसके कथ्य और शिल्प में क्रम से विकसित होता हुआ दिखायी देता है। जनवादी काव्य का स्वरूप समय, परिस्थिति और परिवेश के अनुसार ढलता गया। आगे चलकर तो जनवादी कविता ने अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ अपनी अनिवार्यता सिद्ध की है। आज जनवादी कविता का स्वरूप इतना पुष्ट और सुदीर्घ हो गया है कि यही साहित्य परिपूर्ण रूप से सार्थक लगता है। आज हम कह सकते हैं कि हिन्दी की जनवादी कविता ने अपने आपको काव्य की मुख्यधारा तो सिद्ध किया ही है साथ ही अपनी सार्थकता भी सिद्ध की है। जनवादी चेतना को लेकर चलने वाला हिन्दी का यह काव्य आंदोलन वर्तमान युग में किसी एक भावधारा या विचारधारा से बंधा हुआ न रहकर व्यापक स्तर पर अनेक विचारधाराओं से जुड़ा हुआ है। यह सच है कि इस काव्य आंदोलन पर साम्यवादी विचारधारा का अधिक प्रभाव है क्योंकि जनवाद के मूल में सर्वहारा अधिनायकत्व का मतलब है धनिकों के लिए जनवाद के स्थान पर गरीबों के लिए जनवाद स्थापित करना। इसका अर्थ है कि जनवादी चेतना उस वर्ग विशेष के लिए सबकुछ है जो पिछड़ा हुआ, शोषित और पीड़ित रहा है।

त्रिलोचन ने आर्थिक यथार्थ बोध के वर्ग-भेद, वर्ग संघर्ष, बेरोजगारी, मजदूरों-श्रमिकों की स्थिति और समस्याएँ इत्यादि अनेक पक्षों की भरपूर आलोचना की है। त्रिलोचन ने गरीबी को देखा परखा और मंच पर पूँजीवाद के अत्याचार, अन्याय और मजदूर व किसानों के शोषण के चश्मदीद गवाह रहे हैं। 'वर्ग संघर्ष' त्रिलोचन के लिए 'मार्क्सवाद दर्शन' नहीं जीवन का यथार्थ रहा है। इसलिए त्रिलोचन के काव्य के पात्र किसान हैं, श्रमिक हैं, भोले-अनपढ़ ग्रामीण रहे हैं। कवि की संवेदना पूर्ण रूप से अपने श्रम पर निर्भर रहकर अपनी जीविका कमाने वाले साधारण तथा गरीब जनता के साथ है। वह व्यक्ति चाहे किसान हो, गरीब मजदूर हो या अन्य कोई। त्रिलोचन की पैनी दृष्टि से किसान जीवन का और दलितों का कोई भी चित्र नहीं छूटा है। ये इन दोनों का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन करते हैं। त्रिलोचन किसानों को जीते-जागते मानव समुदाय के रूप में देखते हैं। उनकी कविताओं में गरीबी, शोषण, और उत्पीड़न के शिकार, किसान खेतीहर मजदूर और इन खेतीहर मजदूरों में भी स्त्रियों की

जीवन-दशा का यथार्थ वर्णन किया है। उन्होंने देश की अशिक्षा को गरीबी को, जात-पाँत के भेदभाव को, नारी के पिछड़ेपन को कृषि की स्थिति को अपने काव्य में यथार्थ वर्णन किया है।

प्रथम अध्याय में जनवाद और जनवादी साहित्य: अर्थ, स्वरूप एवं व्याप्ति पर प्रकाश डाला गया है। इसके अंतर्गत जनवाद शब्द का अर्थ एवं स्वरूप, जनवाद का अभिप्राय तथा जनतंत्र(डेमोक्रेसी) के विषय में अब्राहम लिंकन की परिभाषा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। जनचेतना का काव्यमय विकास बतलाते हुए जनवादी साहत्य की अवधारणा को गांधीजी, लोहिया तथा आचार्य नरेंद्रदेव की अभिमतानुसार उजागर करने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा इस अध्याय में जनवादी साहित्य का स्वरूप, जनवादी काव्यधारा का विकास यह नवजागरण काल, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग की काव्यगत उपलब्धियों के माध्यम से पूर्णरूपेण यथावत बतलाने का प्रयास किया है। अंत में समकालीन हिंदी कविता में जनवादी काव्य दृष्टि को उजागर किया है।

द्वितीय अध्याय में त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में आधुनिक बोध का अध्ययन किया गया है, जिसमें आधुनिक का तात्पर्य, नामकरण, उपविभाजन, आधुनिकता की अवधारणा, उद्भव तथा प्रभाव को विश्लेषत कर स्पष्ट किया गया हैं। इसके अलावा आधुनिक बोध के आयाम, आधुनिकीकरण और आधुनिकता बोध का संबंध, उसकी प्रवृत्तियां, आनेवाली समस्याएं, नैतिकता और आधुनिक युग बोध में अंतर विश्लेषित कर स्पष्ट किया गया है। अंत में त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में आधुनिक बोध के स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय में त्रिलोचन शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अध्ययन किया गया हैं। इसमें त्रिलोचन के व्यक्तित्व अंतर्गत जन्म, पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा-दीक्षा, व्यक्तित्व के पहलू के साथ त्रिलोचन शास्त्री का कवि-व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। त्रिलोचन शास्त्री के कविता संग्रहों में निहित जनवादी चेतना को विविध उदाहरणों के माध्यम से बतलाया गया है। साथ ही त्रिलोचन का अन्य साहित्य में समाविष्ट कहानी संग्रह, गीत, ग़ज़ल, आलोचक के रूप में त्रिलोचन, डायरी, सॉनेट का यथावत वर्णन करने का प्रयास किया गया हैं।

चतुर्थ अध्याय आधुनिक हिंदी की प्रतिनिधिक कविता में जनवादी चेतना रहा है। इसमें भारतेन्दु युगीन काव्य, द्विवेदी युगीन काव्य, छायावादी काव्य को समयानुरूप बदलती राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक परिस्थितियों को माध्यम से अध्ययन कर उजागर किया

गया हैं। साथ ही युगीन संदर्भ से जुड़ी मानवतावादी विचारधारा, वैयक्तिकता, युग-चित्रण, जनवेदना की अभिव्यक्ति, राष्ट्रीय जनवादी चेतना तथा भाषा और शैलीगत विशिष्टता का विश्लेषण का प्रस्तुत किया गया हैं। इसके अलावा प्रगतिवादी काव्य की पृष्ठभूमि एवं प्रवृत्तियों के साथ साठोत्तरी हिंदी साहित्य पर आधुनिकता के प्रभाव का अध्ययन कर, आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रबंध काव्य की दशा-दिशा को साठोत्तरी काव्य के प्रमुख हस्ताक्षरों के माध्यम से उजागर करने का प्रयास किया गया हैं।

पंचम अध्याय में त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में निहित जनवादी चेतना अंतर्गत सर्वहारा वर्ग का चित्रण, क्रांति की भावना, सामाजिक-आर्थिक विषमता का चित्रण, आर्थिक विपन्नता, पूंजीपति वर्ग के प्रति आक्रोश, संघर्ष की भावना, शोषण का विरोध, समसामायिक समस्याओं का चित्रण, अन्याय-अत्याचार का विरोध तथा नयी आशा का सौंदर्य के माध्यम से उपयुक्त काव्य-पंक्तियों का समावेश कर दर्शाया गया हैं।

षष्ठ अध्याय यह त्रिलोचन शास्त्री के काव्य का शिल्पपक्ष एवं संरचना रहा हैं। इस अध्याय अंतर्गत त्रिलोचन के काव्य में निहित शिल्प, शिल्पगत अर्थ, परिभाषा, स्वरूप, शिल्प योजना, भाषागत-सौष्ठव, बिंब-प्रतीक-छंद विधान तथा लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग के माध्यम से देश के आम आदमी, शोषित, पीडित, दलित वर्ग की व्यथा एवं यातनाओं का सजीव तथा मार्मिक चित्रण कर, आनेवाली पीढ़ी तथा लेखकों को एक मार्मिक संदेश पहुँचाने महत्वपूर्ण कार्य किसतरह किया है? यह प्रस्तुत कर उजागर करने का प्रयास किया गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार में त्रिलोचन की जनवादी चेतनामयी विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है। त्रिलोचन के लिए कोई शब्द न तो छोटा है, न ही मूल्यहीन रहा है। त्रिलोचन के लिए शब्द वास्तव में उस समाज की जीवित सत्ता है, जिसमें वह प्रचलित रहा है। शब्द उनके लिए जनता है। जैसे कोई जनता उनके लिए न तो हेय है, न तुच्छ वैसे ही वे शब्द के माध्यम से जनता का जीवित स्पंदित जन रूप में साक्षात्कार करते हैं और सुख-दुख में उसके साथ हो जाते हैं। त्रिलोचन के लिए शब्द कलात्मक सत्ता नहीं है, उसकी आंतरिक रचना और अन्वेषण का सार है। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द को ही कविता किसी कलात्मक आग्रह में नहीं कहा गया है। त्रिलोचन की लोक भाषा के

शब्दों के प्रयोग की कितनी गहरी पकड़ है, वे शब्द उन्हें एक विशिष्ट श्रेणी में ले जाते हैं, यह सभी अध्यायों के निचोड़ के माध्यम से परिलक्षित किया गया है।

- मोनिका आशिष उमक

आभार

गुरु की पारस दृष्टि से, लोह बदलता रूप।
स्वर्ण कांति-सी बुद्धि हो, ऐसी शक्ति अनूप।।

त्रिलोचन प्रगतिशील काव्य-धारा के अनुपम कवि हैं। ये ऐसे रचनाकार हैं, जिन्हें यादों की परिधि में घेरा नहीं जा सकता। वास्तव में, त्रिलोचन जीवन-संघर्ष और जीवन-सौन्दर्य के अप्रतिम कवि रहे है। उनकी कविता में चित्रित संघर्ष और सौन्दर्य केवल उनका नहीं, बल्कि उस हिन्दी भाषी जाति का संघर्ष और सौन्दर्य है, जिसे देखने और पहचानने की क्षमता हिन्दी कविता के आधुनिकतावादी माहौल में लगातार खोती गयी है। त्रिलोचन ने न केवल उसे देखा और पहचाना है, बल्कि उससे वैसा आन्तरिक लगाव स्थापित किया है, जैसा कविता में तुलसीदास और निराला तथा गद्य में प्रेमचन्द जैसे कथाकारों में ही देखने को मिलता है। प्रगतिशील कवि त्रिलोचन ने प्रचलित अर्थ में राजनीतिक कविताएँ बहुत कम लिखी हैं, पर राजनीति की मूल्यपरक गहरी चेतना निस्संदेह उनकी कविता को सदा अनुप्राणित करती रही है। उनकी कविता इस बात का प्रमाण है कि प्रगतिशील कविता कोई संकीर्ण और एकपक्षीय कविता नहीं, बल्कि ऐसी कविता है जिसमें जीवन की तरह ही व्यापकता और विविधता है, प्रकृति की तरह ही रंग-बिरंगापन है।

त्रिलोचन ने अपने कविता संग्रह अंतर्गत गीत, ग़ज़ल, सॉनेट-जैसे हिन्दीतर कविता के क्लासिकीय काव्य रूपों में भी कविता रची है और हिन्दी के नये पुराने काव्य रूपों तथा छन्दों में भी। उनकी विशेषता यह है कि वे काव्य रूप की स्थिरता और सार तत्व की गतिशीलता के द्वन्द्व से कविता में एक ऐसे वेग और शक्ति की सृष्टि करते हैं जिनकी मिसाल हिन्दी कविता अंतर्गत केवल निराला में सुलभ रही है। क्लासिकीय अनुशासन और आधुनिक स्वच्छन्दता त्रिलोचन की अपनी पहचान रही है। तुलसीदास ने संस्कृत शब्दों के योग से अवधी भाषा को उन्नत किया था, त्रिलोचन ने अवधी भाषा के योग से खड़ी बोली को रस से भर दिया है। उनकी हीरे की तरह कठोर और दीप्तिपूर्ण काव्य-भाषा अवधी की देशी भाषा जैसी मिठास से युक्त रहे है।

इस ऐसे बहुमूल्य एवं तेजस्वी- हस्ताक्षर रचनाकार के कृतिअवदान को उद्दिष्ट करके न तो कोई स्वतन्त्र गम्भीर समीक्षा कृति ही आयी है और न ही कोई गम्भीर और तत्त्वाभिनिवेशी शोधाध्ययन ही प्रस्तुत हुआ है। सम्भवतः इसी तथ्य सत्य के आलोक में श्रद्धास्पद मेरे गुरुवर्य तथा मार्गदर्शक डॉ. संगीता जगताप से प्रस्तुत विषय मेरे लिए अनुसन्धेय ठहराया, जिसके लिए आपने स्वीकृति प्रदान की। ऐसा कहा जाता है कि गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गुरु ज्ञानरूपी वह दीपक है, जिसके प्रकाश से अज्ञानरूपी अंधकार का नाश हो जाता है। किसी भी कार्य की पूर्णता तथा सफलता के लिए एक सहृदय मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है। मेरे इस अनुसंधान कार्य के लिए ऐसे ही सरलता, सहजता तथा बोधगम्य आकलन शैली के माध्यम से मुझे उपकृत करनेवाली मेरी निर्देशिका डॉ. संगीता जगताप के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम कर्तव्य मानती हूँ।

कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, चिखलदरा के मेरे परम आदरणीय प्राचार्य एवं भूतपूर्व उपकुलपति, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती, डॉ. राजेश जयपुरकर, जिन्होंने मुझे इस अनुसंधान कार्य हेतु मेरा मनोबल बढ़ाकर, मेरा अनुसंधान के प्रति साहस द्विगुणीत कर, यथासंभव मुझे मार्गदर्शन तथा सहायता प्रदान की, इसके लिए आपका सहृदय आभार व्यक्त करती हूँ। इसके अलावा इस महाविद्यालय में कार्यरत प्रा. आनंद बक्षी सर जिनका मुझे इस अनुसंधान कार्य हेतु सहयोग प्राप्त हुआ, इसके लिए आपके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

मनुष्य ने आजीवन शिष्य बनकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए ताकि वह अपने ज्ञान की कमियों को पूर्ण कर, अपना भविष्य उज्ज्वल कर सकें। मेरे इस शोध कार्य के दौरान मेरे अज्ञान को दूर करने का महती कार्य डॉ. रवींद्रकुमार शिरसाट, प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, श्रीमती केशरबाई लोहोटी महाविद्यालय अमरावती तथा डॉ. चंदन विश्वकर्मा, अनुवाद हिंदी विभाग, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती ने किया हैं। मैं आपके असीम सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर आभार व्यक्त करती हूँ।

मैंने यह जाना-समझा कि इस शोधकार्य के दौरान वास्तविक रूप में उपस्थिति दर्शाकर सभी ने मुझे सहयोग प्रदान किया है। किंतु अदृश्य रूप में भी किसी का आशीर्वाद तथा उनकी उपस्थिति मेरे चारोओर विद्यमान रही है, जिसमें मेरे माता-पिता (श्री अरविंद हरिभाऊ सोनटक्के तथा सौ.

विमल अ. सोनटक्के) तथा मेरे गुरुवर्य श्री किरण विष्णुपंत पातुरकर, जिनका बहुत बड़ा योगदान मुझे यहां तक पहुँचाने में रहा है। अत: मैं आपके चरणों में वंदन कर, आपका आभार व्यक्त करती हूँ।

एक सहयोगपूर्ण भावना से पल-पल साथ देनेवाला तथा अपनी सहचरी को आगे बढ़ानेवाला अच्छा पति प्राप्त करना यह सौभाग्य की बात होती है। ऐसे ही सौभाग्यशाली होने में मैं स्वयं को गौरवशाली महसूस करती हूँ। मेरे इस शोधकार्य को पूर्णता प्रदान करने में मेरे पति श्री आशिष लक्ष्मणराव उमक का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। इस अनुसंधान कार्य में मेरे दोनों पुत्र जय तथा सोहम इन दोनों ने भी अनुसंधान कार्य के क्रियाकलाप को ध्यान में रख कर, मुझे यथोचित सहयोग प्रदान किया, ऐसे सहृदयी, संवेदनशील पति की भी मैं ऋणी रहते हुए, आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। एक माता के रूप में बच्चों के ममतामयी सहयोग के प्रति उन्हें अपना आशीर्वाद प्रदान करती हूँ। मेरी सासु माँ स्व. श्रीमती कमलाबाई लक्ष्मणराव उमक, जिनकी प्रेरणा से मेरे इस अनुसंधान कार्य में ऊर्जा बनी रही, आपके प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। यदि इन सभी का सहयोग प्राप्त न होता तो शायद मैं यह अनुसंधान कार्य कर ही नहीं पाती।

शोधकार्य का महत्वपूर्ण कार्य होता है कम्प्यूटर द्वारा टाइप करना, जिसका उल्लेखनीय कार्य श्री ओम देशमुख ने किया है, जिन्होंने टंकण संबंधी समय-समय पर आनेवाली समस्याओं को दूर करने में मेरी सहायता की है। मैं आपके प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ।अंत में मैं मेरे समस्त परिवार के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी शुभकामनाओं ने हमेशा मेरा उत्साहवर्धन कर, मेरा आत्मबल बढ़ाया, जिसके फलस्वरूप मैं आज इस मंजिल तक पहुँच पायी हूँ। महाराष्ट्र यह मराठी प्रदेश होने के कारण टंकण की त्रुटियाँ हो सकती है, जिसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

विनित

(मोनिका आशिष उमक)
अंशदायी प्राध्यापक,
श्री शिवाजी कला व वाणिज्य महाविद्यालय,
अमरावती

अनुक्रमणिका

त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में जनवादी चेतना (आधुनिकता के संदर्भ में)

पृष्ठ संख्या

1. प्रथम अध्याय जनवाद और जनवादी साहित्य: अर्थ, स्वरूप एवं व्याप्ति 1-64

1.1 जनवाद शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

1.1.2 जनवाद का अभिप्राय

1.1.3 जनतंत्र (डेमोक्रेसी): अब्राहम लिंकन की परिभाषा

1.2 जनचेतना का अर्थ

1.3 जनवादी काव्यमयी चेतना का विकास

1.4 जनवादी साहित्य की अवधारणा और स्वरूप

1.4.1 गांधीजी की जनवाद संबंधित अवधारणा

1.4.2 लोहिया की जनवाद संबंधित अवधारणा

1.4.3 आचार्य नरेंद्र देव की जनवाद संबंधित अवधारणा

1.5 जनवादी साहित्य का स्वरूप

1.6 जनवादी साहित्य की परिभाषा

1.7 हिंदी का जनवादी काव्य

1.7.1 हिंदी में जनवादी काव्यधारा का विकास

1.8 जनवादी काव्य की महत्ता

1.8.1 नवजागरण काल (भारतेंदु युग और द्विवेदी युग)

1.8.2 कविता की भाषा के अंतर्गत खड़ी बोली

1.8.3 भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग की काव्यगत उपलब्धियाँ

1.8.4 छायावाद और जनवादी चेतना

1.9 प्रगतिवाद बनाम जनवाद

1.10 समकालीन हिंदी कविता में जनवादी काव्य दृष्टि

1.11 निष्कर्ष

2. द्वितीय अध्याय त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में आधुनिक बोध 65-126

2.1 आधुनिकता से अभिप्राय

2.1.1 नामकरण

2.1.2 उपविभाजन
2.2 आधुनिकता
2.2.1 आधुनिकता की अवधारणा
2.2.2 आधुनिकता का उद्भव
2.2.3 आधुनिकता का प्रभाव
2.3 आधुनिक बोध के आयाम
2.3.1 साहित्य और परिवर्तित परिवेश
2.3.2 आधुनिकता और आधुनिकीकरण
2.4 आधुनिकता और समसामायिकता
2.5 युग तथा बोध का अर्थ
2.5.1 आधुनिक युगबोध का अर्थ
2.5.2 आधुनिकीकरण और आधुनिकता बोध
2.5.3 आधुनिक बोध की कुछ प्रवृत्तियाँ
2.5.4 विज्ञान और आधुनिक बोध
2.5.5 आधुनिक युगबोध की विभिन्न समस्याएं
2.6 नैतिकता और आधुनिक युगबोध
2.7 त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में आधुनिक बोध: एक विहंगम दृष्टि

3. तृतीय अध्याय त्रिलोचन शास्त्री: व्यक्तित्व एवं कृतित्व 127-205
3.1 व्यक्तित्व
3.1.1 जन्म तथा स्थान
3.1.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि
3.1.3 शिक्षा-दीक्षा
3.1.4 व्यक्तित्व के पहलू
3.1.5 त्रिलोचन शास्त्री का कवि-व्यक्तित्व
3.1.6 कृतित्व
3.2 कविता संग्रह
3.2.1 धरती (1945)
3.2.2 गुलाब और बुलबुल (1956)
3.2.3 दिगंत (1957)
3.2.4 ताप के ताये हुए दिन (1980)
3.2.5 उस जनपद का कवि हूँ (1981)

3.2.6 अरधान (1984)
3.2.7 तुम्हें सौंपता हूँ (1985)
3.2.8 फूल नाम है एक (1985)
3.2.9 अनकहनी भी कुछ कहनी है (1985)
3.2.10 सबका अपना अपना आकाश (1987)
3.2.11 चैती (1987)
3.2.12 अमोला (1989)
3.3 त्रिलोचन जी का अन्य साहित्य
3.3.1 कविता संग्रह
3.3.2 गीत
3.3.3 ग़ज़ल
3.3.4 आलोचक
3.3.5 डायरी
3.3.6 सॉनेट

4. चतुर्थ अध्याय आधुनिक हिंदी की प्रतिनिधिक कविता में जनवादी चेतना 206-295
4.1 भारतेन्दु युगीन काव्य
4.1.1 भारतेन्दु युगीन कविता की मुख्य विशेषताएं
4.2 द्विवेदी युगीन काव्य
4.2.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ
4.2.2 आर्थिक परिस्थितियाँ
4.2.3 धार्मिक परिस्थितियाँ
4.2.4 सामाजिक परिस्थितियाँ
4.2.5 साहित्यिक परिस्थितियाँ
4.3 द्विवेदी युगीन काव्य-प्रवृत्तियाँ
4.3.1 नैतिकता और आदर्श
4.3.2 राष्ट्र-प्रेम
4.3.3 विषय-वस्तु विशेषताएं
4.3.4 मानवतावाद
4.3.5 हास्य-व्यंग्य
4.4 छायावादी काव्य
4.4.1 छायावादी काव्य का समय

4.4.2 प्रेरक परिस्थितियाँ
4.5 छायावाद की परिभाषा
4.5.1 मानवतावादी विचारधारा
4.5.2 वैयक्तिकता
4.5.3 युग चित्रण
4.5.4 जनवेदना की अभिव्यक्ति
4.5.5 राष्ट्रीय जनवादी चेतना
4.5.6 भाषा और शेलीगत विशिष्टता
4.6 प्रगतिवादी काव्य
4.6.1 मानवतावाद
4.6.2 यथार्थवाद
4.6.3 प्रगतिवादी काव्य की पृष्ठभूमि
4.7 प्रगतिवादी काव्य की प्रवृत्तियाँ
4.8 प्रगतिवादी काव्य
4.8.1 प्रयोगवाद का स्वरूप
4.8.2 प्रयोगवाद की परिभाषाएं
4.8.3 कवि आलोचकों की दृष्टि से प्रयोगशील काव्य
4.8.4 प्रयोगवाद के मुख्य उद्देश्य
4.9 प्रयोगवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
4.10 साठोत्तरी काव्य
4.10.1 साठोत्तरी काव्य से तात्पर्य
4.10.2 साठोत्तरी हिंदी साहित्य पर आधुनिकता का प्रभाव
4.10.3 आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रबंध काव्य
4.11 साठोत्तरी काव्य के प्रमुख हस्ताक्षर

5. पंचम अध्याय त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में जनवादी चेतना 296-358
5.1 सर्वहारा वर्ग का चित्रण
5.2 क्रांति की भावना
5.3 सामाजिक-आर्थिक विषमता का चित्रण
5.4 आर्थिक विपन्नता (गरीबी) का चित्रण
5.5 पूंजीपति वर्ग के प्रति आक्रोश
5.6 संघर्ष की भावना

5.7 शोषण का विरोध
5.8 समसामायिक समस्याओं का चित्रण
5.9 अन्याय-अत्याचार का विरोध
5.10 नयी आशा का सौंदर्य

6. षष्ठ अध्याय त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में शिल्प पक्ष एवं संरचना 359-402
6. त्रिलोचन के काव्य में निहित शिल्प
6.1 शिल्प का अर्थ
6.2 शिल्प की परिभाषा
6.3 शिल्पगत स्वरूप
6.3.1 शिल्प योजना
6.4 भाषागत-सौष्ठव
6.5 बिंब विधान
6.6 प्रतीक विधान
6.7 छंद विधान
6.8 लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग

7. सप्तम अध्याय उपसंहार 403-416

8. अध्यायनुसार संदर्भ ग्रंथ सूची 417-449
8.1 मूल कविता संग्रह
8.2 आलोचक ग्रंथ
8.3 विविध
8.4 पत्र-पत्रिकाएं

****

प्रथम अध्याय

जनवाद और जनवादी साहित्य: अर्थ,स्वरूप एवं व्याप्ति

1.1 जनवाद शब्द का अर्थ एवं स्वरुप:-

जनवाद और जनतंत्र ये दोनों बहुत ही करीबी शब्द हैं। जनतंत्र से अभिप्राय है- डेमोक्रसी। डेमोक्रसी, यह जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था को कहते हैं। यह व्यवस्था जिस 'वाद' यानी 'तत्त्व' के आधार पर खड़ी है, उसे 'जनवाद' कहते हैं। जनवाद और जनतंत्र इन दोनों के तत्व, आधार, नियम काफी मिलते-जुलते हैं। दरअसल जनवाद यह जनतंत्र और जनतांत्रिक व्यवस्था की परिकल्पना से जुड़ा है।

जनवादी चेतना की सर्वसम्मत परिभाषा करना कठिन है क्योंकि जनवादी चेतना को पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियों ने अपने-अपने मता अनुसार परिभाषित किया है। हिंदी साहित्य कोश के अनुसार जनवाद, कला, साहित्य और जीवन को देखने का नज़रिया है, जो जनसामान्य को महत्व देता है। जनवाद के मूल में जन शब्द बहुत पुराना है। जनवादी यह शब्द प्रगतिवादी साहित्य से भी जुड़ा हुआ है।

वैसे देखा जाए तो साहित्य में जनवादी परंपरा काफी पुरानी है। इसी कारण कुँवरनारायण कहते हैं, "साहित्य का जनवाद राजनैतिक के जनवाद से ज्यादा पुराना है और ज्यादा व्यापक है।"[1] इसमें जिस साहित्य का सृजन लोकाश्रय में हुआ है वह साहित्य जनता के सुख-दु:खों, भावनाओं, विचारों और समस्याओं की अभिव्यक्ति का ही माध्यम बना है। ऐसे साहित्य को जनवादी साहित्य कहा जा सकता है। इसी आधार पर हिंदी साहित्य में कबीर सूर, तुलसी आदि मध्ययुगीन कवियों से लेकर आधुनिक युग के कई साहित्यकारों को जनता की अनुभूतियों को लिखनेवाले साहित्यकार एवं उनके साहित्य को जनवादी साहित्य कहा जाता है।

जनवादी साहित्य जनता का साहित्य है। इसमें जनता के सुख-दु:खों, मनोभावों, विचारों के साथ संपूर्ण जीवन का सूक्ष्म प्रतिबिंब अंकित होता है। सामान्य जन ही इस साहित्य का केंद्रबिंदु है

जनवादी साहित्य केवल साहित्य बनकर नहीं रहता तो जन सामान्य को शोषण से मुक्ति का सशक्त हथियार एवं साधन बनता है। जनवादी साहित्यकार के लिए साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि अपने सामाजिक दायित्व को निभानेवाला हथियार होता है जनवादी साहित्यकार अपने समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव के लिए जन सामान्य जनता को अन्याय-अत्याचार से निज़ाद दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता है। इस साहित्य में सामान्य जनता के दु:ख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं का सजीव चित्रण अंकित हुआ है, जो हमें अन्य साहित्य में दिखाई नहीं देता।

1.1.2 जनवाद का अभिप्राय:-

'जनवाद' शब्द अंग्रेजी के 'डेमोक्रेसी' शब्द का हिंदी प्रतिरूप है। हिंदी में 'डेमोक्रेसी' शब्द के लिए 'जनवाद' के अतिरिक्त प्रजातंत्र, लोकतंत्र, जनतंत्र, जम्हूरियत, लोकशाही आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

'डेमोक्रेसी' शब्द का शाब्दिक अर्थ देखे तो यह ग्रीक भाषा के 'देमोस' (Demos) और 'केटिन' (Kratein) नामक दो शब्दों को मिलाकर बना है। इसमें 'देमोस' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- 'जनता' और क्रेटिन धातु का शाब्दिक अर्थ है - 'शासन करना'; अत: डेमोक्रेसी का शाब्दिक अर्थ हुआ 'जनता का शासन'।

धीरेन्द्र वर्मा जी के मतानुसार, "जनवाद के मूल में 'जन' शब्द काफी पुराना है। भारतीय वाडमय में जनपद जन की प्रतिष्ठा काफी प्राचीनकाल से चली आ रही है। जनवादी के लिए हम कह सकते हैं कि यह कला, साहित्य और जीवन के विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो जनसामान्य को महत्व देता है।"[2]

वैसे यह परिभाषा अपने आप में बहुत विषद और व्यापक है। सामान्य अर्थों में 'जन' शब्द से समाज में रहने वाले लोगों का बोध होता है। 'जनवादी' यह शब्द प्रगतिवादी साहित्य से भी जुड़ा हुआ है। जनवादी चेतना कला, साहित्य, जीवन, आदि के प्रति एक अलग दृष्टि रखती है। इसमें सामान्य जीवन को अधिक महत्व दिया गया है।

जनवादी शब्द आज, साहित्य और समीक्षा में अधिक व्यापक अर्थ लेकर प्रयुक्त हो रहा है। कला और साहित्य में जनवादी चेतना के पीछे मार्क्सवादी दर्शन की प्रेरणा है। मार्क्स ने समाज और उसके विविध रूपों की जो व्याख्या की वह कला और साहित्य अंतर्गत परिलक्षित होती दिखाई देती हैं।

डॉ. कुंवरपाल सिंह ने इस विषय में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहते हैं -"जनवाद का वास्तविक अर्थ पूँजीपति और सामंतीय व्यवस्था और उसके जीवन मूल्यों का सक्रिय विरोध तथा श्रमिक वर्ग और पीड़ित जन के साथ वास्तविक हमदर्दी, जिसमें देशभक्त क्रांतिकारी शक्तियों की एकता और उसके संकल्प का नाम है - जनवाद।"[3]

इस परिभाषा से ज्ञात होता है कि जनवादी चेतना का लक्ष्य सामंतीय व्यवस्था का विरोध करते हुए सामान्य वर्ग के प्रति मानवमात्र में सहानुभूति पैदा करना, आम जनता को शिक्षित करते हुए उनके सांस्कृतिक विकास के लिए प्रयत्न करना और उनके संघर्षात्मक जीवन को स्वर देकर उनके जीवन मूल्यों में परिवर्तन निर्माण करना रहा है।

लोकतंत्र की कोई ऐसी निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती जो इस शब्द के पीछे छिपे हुए संपूर्ण इतिहास तथा अर्थ को समाहित करती हो। भिन्न-भिन्न युगों में विभिन्न विचारकों ने इसकी अलग-अलग परिभाषाएं की हैं परंतु यह सर्वदा स्वीकार किया है कि लोकतंत्रीय व्यवस्था वह है जिसमें जनता की संप्रभुता हो।

लोकतंत्र को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है लेकिन कोई ऐसी निर्धारित परिभाषा नहीं है, जो इस शब्द के पीछे छिपे हुए संपूर्ण इतिहास तथा अर्थ का समाहित करती हो। मोटे तौर पर लोकतंत्र से हमारा तात्पर्य उस शासन व्यवस्था से है, जिसमें जनता अपना शासन तंत्र स्वयं संचालित करती है। सामान्यतः लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था दो प्रकार की होती हैं : (क) विशुद्ध या प्रत्यक्ष लोकतंत्र तथा (ख) प्रतिनिधि सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र। इन दोनों में मूलभूत अंतर यह है कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र वह होता है, जिसमें देश के समस्त नागरिक प्रत्यक्ष रूप से राजकार्य संपादन में भाग लेते हैं। वह प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतंत्र में जनभावना की अभिव्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है।

विभिन्न देशों के विद्वानों ने लोकतंत्र या जनवाद की परिभाषाएँ की हैं और ये परिभाषाएँ दुनिया भर में मान्य है। सन् 1789 ई. में फ्रांस में जो जनक्रांति हुई, उसके मूल में कुछ फांसीसी दार्शनिकों का भी हाथ था जो स्वतंत्रता एवं समानता की सर्वथा नयी परिभाषाओं एवं अर्थों के द्वारा फ्रांसीसी जनता को प्रखर बना रहे थे। इनमें मोंतेस्क्यू और रूसो, वाल्टेयर आदि प्रमुख थे। अमेरिका के राजनीतिज्ञ राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने लोकतंत्र की बहुत ही लघु परंतु सारगर्भित परिभाषा प्रस्तुत की है "लोकतंत्र में सरकार का रूप जनता की, जनता के द्वारा एवं जनता के लिए होना चाहिए।"[4] वस्तुतः लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली में जनता प्राण तत्व के समान है।

1.1.3 **जनतंत्र (डेमोक्रेसी): अब्राहम लिंकन की परिभाषा :-**

आधुनिक जगत में लोकतंत्र के संबंध में जिन व्यक्तियों का प्रमुख योगदान रहा है और जिनके द्वारा की गयी लोकतंत्र की परिभाषाएँ अमेरिका एवं पश्चिमी देशों में मान्य रही है, उनमें अब्राहम लिंकन का एक प्रमुख स्थान है। अब्राहम लिंकन के समय में रंग-भेद की समस्या जोरों पर थी। लिंकन को गृहयुद्ध का भी सामना करना पड़ा था और उन्होंने इन सभी कठिनाइयों से जूझते हुए अमेरिका में लोकतंत्रीय भावनाओं को और भी मजबूत किया। गेटिसबर्ग में अपना ऐतिहासिक भाषण देते हुए अब्राहम लिंकन ने अमेरिकी जनता को सावधान करते हुए कहा था कि हमारे संघर्ष का, जिसमें अनेक लोगों ने अपना बलिदान दिया है, एक महान उद्देश्य है और उस उद्देश्य की सार्थकता केवल अमेरिकी महाद्वीप तक ही सीमित न होकर समस्त मानव-जाति के लिए सार्थक है। उन्होंने कहा कि हम अपनी आजादी की रक्षा तभी कर सकते हैं। (लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा कि लोकतंत्र में सरकार का रूप जनता की, जनता के द्वारा एवं जनता के लिए (गवर्नमेंट ऑफ द पीपुल, बाई द पीपुल फॉर द पीपुल) के लिए होता है।"[5]

अब्राहम लिंकन की इस छोटी-सी परिभाषा में लोकतंत्र के मूलभूत तत्वों का पूरा समावेश मिलता है। जनता की सरकार का चुनाव जनता के ही द्वारा होना चाहिए और जनता द्वारा चुनी गयी सरकार अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति ही उत्तरदायी होती है। इस प्रकार लिंकन की इस परिभाषा में जनता ही सर्वशक्तिमान एवं सर्वोपरि रहा है।

1.2. जनचेतना का अर्थ:-

"चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान चेतना की प्रमुख विशेषताएँ हैं-निरंतर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह। इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविछिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से। विभिन्न विषयों की अलग-अलग समय पर चेतना होने पर हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि मैंने अमुक वस्तु देखी थी। यदि हमारी चेतना अखण्ड और अविच्छिन्न न होती तो यह अनुभव हमें न होता। लेकिन यह अखंडता और अविच्छिन्नता साहचर्य से ही संभव होती है।"[6]

डिक्शनरी ऑफ फिलासफी' में चेतना को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि "नवनिष्ठ पदार्थ पर चिंतन का सर्वोच्च स्वरूप है, जो केवल मनुष्य में पायी जाती है। चेतना उन सभी मानसिक क्रियाओं का योग है जो वस्तुगत यथार्थ के बारे में आदमी की समझ और उसकी व्यक्तिगत समझ में रूप से सहायक होती है। चेतना का जन्म मनुष्य की सामाजिक उत्पादन-प्रक्रिया में होता है और यह भाषा से अविभाज्य रूप से जुड़ी होती है। मनुष्य जन्म एक ऐसे संसार में लेता है जहाँ उसके पूर्वजों द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण किया गया है। इसके के लिए मनुष्य अपनी समझ को विकसित करता है। इसी के साथ-साथ मनुष्य में चेतना का भी विकास होता है।"[7]

यथार्थ के साथ चेतना के संबंध का स्वरूप मनुष्य की शारीरिक संरचना से प्रत्यक्षतः नियमित न होकर अन्य लोगों के संपर्क के द्वारा प्राप्त व्यावहारिक दिया की आदतों के द्वारा संपन्न होता है। इसीलिए मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य को उस सामाजिक कसौटी पर कसता है जो उसके और उसके अलावा अन्य लोगों के बीच समान होता है। चूंकि मनुष्य वस्तुओं को अपनी समझदारी और अपने ज्ञान के आधार पर ही परखता है, अतः संसार के प्रति उसके अलग-अलग नज़रिए को ही विविध संज्ञा दी जाती है।

विवेक और ज्ञान जो मनुष्य के सामाजिक ऐतिहासिक क्रिया और मानवीय भाषा के परिणाम होते हैं, इनके अभाव में चेतना असंभव है। किसी वस्तु का कोई भी ऐंद्रिक या किसी भी प्रकार की इंद्रियानुभूति अथवा विचार यह चेतना का हो अंग होता है क्योंकि इसका एक निश्चित अर्थ होता है। ज्ञान वाच्यार्थ और अयं जो भाषा में सुरक्षित होते हैं, मनुष्य के भावों, इच्छा, ध्यान एवं अन्य मानसिक

क्रियाओं को एक अकेली चेतना में मिश्रित करके उन्हें निर्देशित करते हैं और उन्हें एक दूसरे से अलग भी करते हैं। ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं वैधानिक विचारों, नैतिकता, धर्म, सामाजिक मनोविज्ञान एवं कलागत उप-सन्धियों द्वारा संगृहीत ज्ञान समाज की चेतना का निर्माण करते हैं। मनुष्य की सजीव ऐंद्रिक एवं इच्छा नियमित मानसिक क्रिया के बाहर किसी भी प्रकार का चिंतन नहीं होता। चिंतन में केवल सूचनाओं को संसाधित ही नहीं किया जाता बल्कि यह यथार्थ का एक ऐसा सक्रिय, ऐंद्रिक रूपांतरण होता है, जो यथार्थ के अपने स्वयं के सार तत्व के अनुरूप होता है।

भाषा के भीतर सोचना, सोचने का महज एक प्रकार-भर है। दूसरी ओर यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि चेतना की अवधारणाओं को मनोविज्ञान के संपूर्ण मंथन किया जाय, अर्थात् हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया प्रत्येक प्रदत्त क्षण में चेतना में समाहित होती है। यह संभव है कि तमाम मानसिक संवेग किसी समय विशेष पर चेतना के चौखटे के बाहर हों। ऐतिहासिक अनुभव ज्ञान और इतिहास द्वारा स्वीकृत नि प्रणालियों का समाहार करते हुए चेतना के भीतर यथार्थ की स्वामिनी बन जाती है, अपने सामने नये उद्देश्यों और सोच-समझ को निश्चित करती है तथा मनुष्य के समस्त व्यावहारिक क्रियाओं को निर्देशित करती है। साथ ही इसपर चेतना का प्रभाव भी पड़ता है अर्थात् क्रिया चेतना के द्वारा नियमित और संचालित होती है। मनुष्य को ज्यों ही अपनी सर्जनात्मक योग्यताओं का ज्ञान होता है, वह प्रकृति और समाज को बदलना चाहता है और बदलने की इस प्रक्रिया में उसका अपना भी रूपांतरण हो जाता है। पदार्थ के साथ चेतना के संबंधों को लेकर युगों-युगों से विचारधारात्मक संबंध चला आ रहा है।

संक्षेप में अपने दृष्टिकोण के साथ सर्वहारा के विश्व दृष्टिकोण को एकात्म हुए अपने समानधर्माओं के संपर्क के फलस्वरूप प्राप्ति ज्ञान का अपनी करते मुक्ति जैसे विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला सचेतन प्रयत्न, जिसमें समाज के प्रति एक निश्चित (जनवादी) दृष्टिकोण अपनाया गया हो, जनवादी चेतना कहलाता है।

साहित्य और समाज का हमेशा ही गहरा संबंध रहा है। यह एक-दूसरे को प्रभावित नियंत्रित तथा संचालित करते हैं। जागरुक साहित्यकार की सहानुभूति समाज के साथ रहती है। बदलते सामाजिक मूल्यों के साथ ही साहित्य की पद्धतियाँ बदल जाती हैं। स्वाधीनता के बाद सामाजिक जीवन मूल्यों में अनेक परिवर्तन हुए। साहित्य, संस्कृति, मान्यतायें आदि के परंपरावादी मूल्यों को

खंडित करके नये मूल्यों को स्वीकार करने वाली परिस्थितियों निर्माण हुई सामाजिक जीवन में अराजकता, आतंक, बेरोजगारी आदि के विकृत रूप धारण करने से सामाजिक क्षेत्र में एक प्रकार से क्रांति हुई। सन् 1960 के बाद हिन्दी कविता में अलग-अलग तरह के आंदोलन चलते हुए दिखाई देते हैं, इनमें आधुनिक कविता, अकविता, सहज कविता, विचार कविता अस्वीकृत कविता ठोस कविता आदि आंदोलन प्रमुख हैं। जनवादी चेतना का विकास भी समय की मांग के अनुसार हुआ है। धीरे-धीरे यह धारा अपने आप में प्रबल होती गई। अब माना जाने लगा कि साहित्य की मुख्य प्रेरणा समाज है, अतः साहित्य का लक्ष्य ही समाज को बेहतर बनाना ही है जनवादी चेतना के कवियों ने यही कार्य किया है जनवादी चेतना की कविता में सामान्य वर्ग की पीड़ा, आशा, आकांक्षाएँ आदि की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। इस धारा के केन्द्र में सामान्य आदमी है। इस धारा का अध्ययन करने से पहले जनवादी चेतना के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

जनवादी चेतना को लेकर चलने वाले साहित्य में मानव के सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति हुई। हर युग के श्रेष्ठ कवि का दृष्टिकोण भी जनवादी रहा है। सच्चा कवि अपनी वर्गगत सीमाओं का उल्लंघन कर सामान्य जन का साथ देता है। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के सिद्धांत पर वह अटल रहता है। यूँ तो उसकी सहानुभूति हर वर्ग के साथ रहती है पर उसकी नज़र सामान्य जन की ओर होती है, जिससे उसके साहित्य का सौन्दर्य बढ़ता है और शक्ति बढ़ती है। सच्चा कवि सामाजिक प्रगति की समस्याओं के प्रति आवाज उठाता है। उसके चिंतन लेखन में पीड़ित वर्ग ही होता है, जो कवि परिस्थितिओं को समझकर समाज के बदलते हुए मूल्यों की सटीक अभिव्यक्ति करता है, वह अमर बन जाता है। जनवादी कवियों ने अंधेरे बंद कमरे में एकाकी चिंतन में मग्न होकर कविताओं का सजून नहीं किया बल्कि समाज के साथ रहकर उनके दुख-दर्दी आशा-आकांक्षाओं आदि को अत्यंत प्रभावशाली रूप में मुखरित किया है।

जनवादी चेतना का उद्देश्य समाजवादी समाज रचना की स्थापना करना रहा है। जनता को शिक्षित करना, पतनशील सामंती मूल्यों का हास तथा समाजवादी और बुर्जुआ संस्कृति के स्थान पर जनवादी संस्कृति की स्थापना करना जनवादी साहित्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है। "जनवादी कविता सामान्य जनता की जिंदगी को उसकी सपूर्ण प्रतिनिधिकता तथा समग्रता से प्रस्तुत करती है और अपने इसी व्यापक तथा पुष्ट जनाधार के कारण किसी भी समय तथा किसी भी युग में शासक शोषक

वर्ग के समक्ष चुनौती के रूप में प्रस्तुत होती है। जनवादी कविता जनता की जिंदगी के बीच उगते हुए उसकी आशाओं, आकांक्षाओं, उसके सपनों तथा संघर्षों को वाणी देती है। किसी भी राष्ट्र या देश की जनता की अपनी संस्कृति उसके कर्म या आचरण को हम बड़े सहज रूप में उसमें प्रतिबिंबित देख सकते हैं। वह एक स्तर पर जनता के जीवन से उसकी कर्मठता तथा संघर्षशीलता से प्रेरणा लेती है, दूसरे स्तर पर जनता को शिक्षित तथा जागृत करते हुए उसके आकांक्षित जीवन को उसके समक्ष चित्रमयता तथा पैनेपन के साथ प्रस्तुत करते हुए उसे अपने इस प्राप्तव्य तक पहुँचने में मदद करती है।"[8] इस कथन से ज्ञात होता है कि जनवादी चेतना के कवियों ने पीड़ित जनता का यथार्थ चित्रण किया है। तत्कालीन समाज की जर्जरित रूढ़ियों एवं परंपराओं पर भी इन्होंने गहरा व्यंग्य किया है। सामान्य वर्ग अज्ञान और अंधकार के जाल में फंसा था। उन्हें अपने जीवन की मान्यताएँ तथा लक्ष्य ज्ञात नहीं थे। ऐसे दिशाहीन जनता की उन्नति के लिए जनवादी चेतना के कवियों ने प्रयत्न किया है। जो कवि पुरानी मान्यताओं को लेकर कविताएँ लिखते थे ऐसे कवियों का यान भी जनवादी चेतना के कवियों ने सामान्य जन की ओर आकर्षित किया है।

अतः हम कह सकते हैं कि जनवादी चेतना का काव्य आंदोलन समस्त जनता के अधिकारों एवं आजादी की घोषणा करता है। इस आंदोलन में मेहनतकश और शोषित जनता की संस्कृति की प्रधानता है। कला और साहित्य इस आंदोलन में सामंतों के मनोरंजन के साधन न रहकर आम मेहनतकश जनता के जीवन का अंग बन जाते हैं। इसमें सारी जनता देश के राजनीतिक जीवन में हिस्सा लेती है और राजनीतिक कामों को स्वयं चलाती है। वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर आदि भेद इस आंदोलन को अमान्य है। जनवादी चेतना का काव्य आंदोलन सामान्य जनता के सांस्कृतिक, सामाजिक तरक्की के लिए प्रयत्न करता है। जनवादी कविता में इस देश के आम आदमी की आशा-आकांक्षाओं का जहाँ चित्रण हुआ है, वहाँ उसके संघर्ष और आक्रोश की भी सार्थक अभिव्यक्ति हुई है। जनवादी चेतना के काव्य का स्वरूप उसके कथ्य और शिल्प में क्रम से विकसित होता हुआ दिखायी देता है। जनवादी काव्य का स्वरूप समय, परिस्थिति और परिवेश के अनुसार ढलता गया। आगे चलकर तो जनवादी कविता ने अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ अपनी अनिवार्यता सिद्ध की है। आज जनवादी कविता का स्वरूप इतना पुष्ट और सुदीर्घ हो गया है कि यही साहित्य परिपूर्ण रूप से सार्थक लगता है। आज हम कह सकते हैं कि हिन्दी की जनवादी कविता ने अपने आपको

काव्य की मुख्यधारा तो सिद्ध किया ही है साथ ही अपनी सार्थकता भी सिद्ध की है। जनवादी चेतना को लेकर चलने वाला हिन्दी का यह काव्य आंदोलन वर्तमान युग में किसी एक भावधारा या विचारधारा से बंधा हुआ न रहकर व्यापक स्तर पर अनेक विचारधाराओं से जुड़ा हुआ है। यह सच है कि इस काव्य आंदोलन पर साम्यवादी विचारधारा का अधिक प्रभाव है क्योंकि जनवाद के मूल में सर्वहारा अधिनायकत्व का मतलब है धनिकों के लिए जनवाद के स्थान पर गरीबों के लिए जनवाद स्थापित करना। इसका अर्थ है कि जनवादी चेतना उस वर्ग विशेष के लिए सबकुछ है जो पिछड़ा हुआ, शोषित और पीड़ित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय काव्य में जनवादी चेतना सामाजिक स्थितियों के अनुरूप ही विकसित होती गई। आज उस संपूर्ण साहित्य को जनवादी कहा जायेगा जिसके अंतर्गत सामंतीय अवधारणाओं, साम्राज्यवादी मूल्यों और पूँजीवाद के विरोध में स्वर बुलंद किया जायेगा। जहाँ शोषण, अन्याय, अत्याचार जैसी जन विरोधी बातों का विरोध होगा वहीं जनवादी साहित्य का स्वरूप निश्चित होगा। जनवादी साहित्य में शोषित और पीड़ित जनता की स्थितियों का जहाँ यथार्थ चित्रण किया जाता है वहीं उनके आकांक्षाओं, विश्वासों और आस्थाओं को भी मुखरित किया जाता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि जनवादी साहित्य का स्वरुप किसी एक वाद विशेष के घेरे में बंधकर नहीं रह सकता। जनसामान्य की भावनाओं का, शोषित पीड़ित और मेहनतकश वर्ग की समस्त यातना को चित्रण जिस कविता में होता है वह कविता सच्चे अर्थ में जनवादी कविता है फिर भले ही उसका संबंध जनवादी चेतना के आंदोलन से रहा हो या न रहा हो।

जनवादी साहित्य प्रगतिवादी साहित्य शब्द का अर्थ ग्रहण नहीं करता जब कि उसमें यह जनवादी भावधारा का होना अनिवार्य माना गया है। जनवादी साहित्य के संदर्भ में जब हम भारतीय समाज को देखते हैं, तो स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज अत्यधिक व्यापक है साथ ही साथ वह विविध भाषाओं में बँटा हुआ है। इस समाज में शोषकों में भी कुछ बड़े शोषक और कुछ कम शोषक हैं। कुछ अत्यधिक शोषित हैं और कुछ कम शोषित हैं। शोषकों का वर्ग पूँजीवादियों का है और शोषित वर्ग पिछड़ी जातियों के हैं। इसी अर्थ में ध्यान रखना होगा कि मार्क्सवादी साहित्य और जनवादी साहित्य में कुछ अंतर है। कुछ विद्वानों ने जनवाद को प्रगतिवाद का ही एक रूप माना है। पर

वास्तव में प्रगतिवाद अपने आप में एक स्वतंत्र और पूर्ण विधा है। जनवादी कवि के लिए आवश्यक नहीं कि वह मार्क्सवादी हो पर मार्क्सवादी के लिए जनवादी होना अनिवार्य है।

1.3 जनवादी काव्यमयी चेतना का विकास :-

हिन्दी कविता का इतिहास काफी विस्तृत है, जो विभिन्न युगों और प्रवृत्तियों से गुजरते हुए आधुनिक काल और साठोत्तरी कविता तक क्रम से विकसित होता गया है। यह सच है कि भारतीय साहित्य में जनजीवन की पीड़ा और सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति अविरल रूप से होती आयी है। हिन्दी साहित्य में आदिकाल से लेकर भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल तक जनवादी काव्यधारा का विकास होते रहा है। हिन्दी की जनवादी काव्यधारा भारतीय जीवन के संघर्ष और आंदोलनों की सुदृढ़ भूमि पर प्रवाहित होती रही है। उसके प्रवाह में स्वयं भारतीय जनजीवन की बाह्यांतर में प्रवाह मानता व्यक्त हुई है। यूँ तो हिन्दी साहित्य में लोकमंगल और जनकल्याण की भावना आदिकालीन साहित्य में भी दिखाई देती है पर उसका और अधिक गहरा और विकसित रूप भक्तिकालीन कविता में दिखायी देता है। भक्तिकाल में जिस ईश्वर भक्ति की अवधारणा हुई है उसमें मानव प्रेम की ही अभिव्यक्ति हुई है और यह मानव प्रेम जनकल्याण से भिन्न नहीं है। रीतिकाल में जनवादी काव्यधारा अवश्य क्षीण हुई पर इस काल में कुछ कवि ऐसे हुए जिनकी कविता में जनवादी कविता की छवि देखी जा सकती है। इसमें यह कहा जा सकता है कि "भारतेन्दु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर किसानों को लक्ष्य करके उन्हें संघठित और आंदोलित करने की दृष्टि से जितना गद्य, पद्य लिखा गया है, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया।"[9] इस कथन से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युगीन साहित्यकार सर्वहारा वर्ग से अपना नाता जोड़कर उनके सुख को अपने काव्य का विषय बनाता है। इसप्रकार से प्रेमघन और बद्रीनारायण चौधरी ने अपनी कविता 'जीर्ण जनपद में अन्यायपूर्ण न्याय व्यवस्था, ढोंगी लोग जनता की गरीबी आदि का चित्रण किया है। इसके पश्चात छायावादी युग में भी निराला जैसे क्रांतिकारी कवि हुए जिनकी कविता में जनवादी कविता का स्तर बड़े सशक्त स्वर में उभरा है। उनकी अनेक काव्यान्तर्गत जनवादी कविता का वह रूप दिखायी देता है जो प्रगतिवादी कवियों का मूल आधार रहा है। तोड़ती पत्थर जैसी जनवादी कविता इस युग में सब

से पहले निरालाजी ने ही लिखी है। और यहीं से प्रगतिवादी काव्य आरंभ होता है, जो वर्तमान युग तक चलती रही है।

साहित्य, कला, संस्कृति के क्षेत्र की शुरुआत अकस्मात नहीं होती, बल्कि उसके विकास की एक निश्चित और व्यवस्थित प्रक्रिया होती है। हर युग साहित्यिक प्रवृत्ति की जड़े उसके पूर्ववर्ती युग में दिखाई देती है और बाद में उसका विस्तृत विकास संभव है। जनवादी कविता की प्रवृत्ति की जड़े भी उसके पूर्व साहित्य में दिखाई देती हैं। रूस की क्रांति के बाद मार्क्सवादियों ने प्रोलेट तथा आना जैसी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की थी। इन संस्थाओं के द्वारा कई समाजशास्त्रियों ने मार्क्स के वर्ग संघर्ष वाले सिद्धांत को लागू करने के लिए सर्वहारा वर्ग के साहित्य की मांग की। इन समाजशास्त्रियों के विचार तथा साहित्य संबंधी दृष्टिकोण की चर्चा 1932 तक सुनने को मिलती है। इसके बाद 'मैक्सीम गोर्की' ने इन शिक्षा संस्थाओं को भंग करके सोवियत लेखक संघ की स्थापना की। इस संघटन के लेखकों के सामने गोर्की ने एक क्रांतिकारी सम्मत व्यापक जीवन दर्शन रखा। इस दर्शन को सामाजिक यथार्थवाद नाम से संबोधित किया गया। सन 1935 में इ.एम. फार्सटर के नेतृत्व में पॅरीस में प्रगतिशील साहित्य की स्थापना हुई। प्रेमचंद की अध्यक्षता में 6-10 अप्रैल 1936 को लखनऊ में प्रगतिशील साहित्य संघ का ऐतिहासिक सम्मेलन हुआ, जिसमें प्रेमचंद जी ने साहित्य का उद्देश्य' नामक महत्वपूर्ण भाषण पढ़ा था इसमें उन्होंने कहा था- "हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था। उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या उसका उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। जो कभी इनकी चर्चा करता भी था, तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेशभूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए उसका शीनफाक दुरुस्त न होना या मुहावरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षायें हैं - यह कला के कल्पना के बाहर की बात थी।"[10]

इस सम्मेलन के बाद भारतीय साहित्य के मूल्य ही बदल गए। जो कविता अभिजात्य संस्कृति की गुलाम बनी थी वह सामान्य वर्ग की पीड़ाओं की वाणी बनी 'प्रगतिवादी लेखक संघ को

विदेशी आंदोलन कहकर कई प्रतिक्रियावादी साहित्यकारों ने उस पर कीचड़ भी उछाला और इसी काल में प्रेमचंद जी का देहान्त हो गया। 1939 में मानवता को नष्ट करने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध ने सामान्य जन को झकझोर दिया था। ऐसी विपरीत अवस्था में भी प्रगतिवादी साहित्य का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। समय, परिस्थिति और कालानुसार इसका विकास होता गया। इस विषय में चंद्रबली सिंह का मत उल्लेखनीय है, वे कहते हैं - "जिस वेग से और जितने व्यापक स्तर पर प्रगतिवादी लेखक संघटना का प्रचार-प्रसार हुआ, वह हमारे साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के बाद सबसे आश्चर्यचकित कर देने वाली घटना थी। उसके पीछे संघटन का कौशल्य नहीं युग का अपरिहार्य दबाव था।"[11]

प्रगतिवादी साहित्यकारों ने पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था के शोषणकारी विकृत रूपों का पर्दाफाश किया। साम्राज्यवादी लूट, सामाजिक रूढ़ियाँ, अंधविश्वास आदि पर इन कवियों ने प्रहार किया। आजादी के लिए इन साहित्यकारों ने जनता को संघठित करके एक जन आंदोलन खड़ा किया। 15 अगस्त 1947 में देश आजाद हुआ। आजादी के बाद भारतीय राजनेताओं ने प्रजासत्तात्मक लोकतंत्र की स्थापना करके जनकल्याण की घोषणा की थी, ताकि भारत समाजवादी समाज रचना की ओर बढ़ सके। लेकिन हुआ ठीक इसके विपरीत। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सत्ता तो ले ली किन्तु आगे चलकर यही कांग्रेस पूँजीवादियों के हाथ की कठपुतली बन गई। इस विषय में कहा भी गया कि, भारतीय राजनेताओं ने देश के सामंती तथा विदेश के बर्बर साम्राज्यवादियों से समझौता किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि सर्वहारा वर्ग दिन-ब-दिन पिसता गया। समाज में आर्थिक सामाजिक विषमता की दरार बढ़ने लगी।महंगाई, बेरोजगारी, भुखमरी की समस्याएँ विशालकाय होने लगी। भारत ने जिल जनतंत्र को सर्वहारा के कल्याण के लिए बनाया था, वह जनतंत्र जनता को लूटने लगा। देश में सामान्य जनता को अमेरिका का सड़ा हुआ गेहूँ और सुअर भक्ष्य मक्का राशन में दिया जाने लगा। सामान्य जनता का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए राजनेता वर्ग छुटपुट युद्ध भी कर रहे थे ताकि महंगाई बढ़े और इनकी कमाई हो। वियतनाम अमेरिका से तीस साल युद्ध करता रहा फिर भी वहाँ महगाई, नहीं बढ़ी। लेकिन भारत ने चार छः दिन गोली चलाई नहीं कि यहाँ की मंहगाई आसमान छूने लगी। भारत-चीन युद्ध में मार्क्सवादियों को जेल में बंद किया गया। मार्क्सवादी विचारधारा पर प्रहार किया जाने लगा। देशभक्ति का नारा देकर उसकी आड़ में

भुखमरी और महंगाई को बढ़ाया जा रहा था। परिणामतः देश का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पतन होता गया। इन तमाम स्थितियों का प्रभाव साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा। प्रगतिवादी लेखकों ने भारतीय जनतंत्र की खोखली षड़यंत्रकारी नीति सामान्य वर्ग की परम्पराएँ और अंधश्रद्धा आदि का तीव्र विरोध किया किन्तु भारतीय साम्यवादी और प्रगतिवादियों के आपसी कलह, नेतृत्व के लिए विवाद आदि के कारण उनका क्रांतिकारी रूप भी क्षीण होने लगा। प्रगतिवादी लेखक संघ से संबंधित जागरूक कवियों ने प्रगतिवाद से अलग होकर जनवादी संगठन को समृद्ध किया। जनवादी संगठन सर्वहारा वर्ग की क्रांति के लिए आगे बढ़ा और इसी के परिणामस्वरूप सामान्य वर्ग का महत्व बढ़ने लगा। सामान्य जनता का संगठन विशालकाय बनने लगा। सर्वहारा वर्ग को केन्द्र में रखकर कविता का सृजन होने लगा और आगे चलकर यही कविता जनवादी कविता के नाम से संबोधित की गई।

"प्रयोगवाद हिन्दी साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति को लेकर आया इस वाद के प्रवर्तक और प्रतिष्ठापक अज्ञेय रहे अज्ञेय ने इस वाद विशेष के संदर्भ में 'तार सप्तक' की भूमिका में अपने विचारों को स्पष्ट किया है।"[12] इसमें संदेह नहीं कि प्रयोगवाद में शिल्प की दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग हुए पर प्रयोगवादी काव्यधारा के कवि आत्मकेन्द्रित होकर देश और समाज से कटे रहे, परिणामस्वरूप व्यक्तिवादी बने रहे। आगे चलकर प्रयोगवाद को ही नई कविता के नाम से संबोधित किया गया और फिर नई कविता में अनेक ऐसे आंदोलन चले जहाँ कभी जनवादी चेतना लुप्त होती हुई दिखायी देती है तो कभी और अधिक तीव्र रूप से विकसित हुई है। नई कविता में आधुनिक भाव बोध को मुख्य आधार मानकर उसे ही नई कविता की समीक्षा के लिए मापदण्ड माना गया कि "हिन्दी की नवीन काव्यधारा एवं समीक्षा में स्वीकृतआधुनिक भाव बोध पर पश्चिमी दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है। अतिवादी विचारधारा का मूल चिंतन ही अनास्थावादी एवं नकारवादी है। अजनबीपन मृत्युबोध कुछ संत्रास अकेलापन, घृणा, अनिश्चय आदि अस्तित्ववादी चिंतन की मुख्य प्रवृत्तियाँ रही हैं। यह कहना उचित होगा कि प्रयोगवादी और बाद में जाकर नई कविता पर इसका व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है।"[13] नई कविता के अंतर्गत भूखी पीढ़ी का भी एक आंदोलन चला। वास्तव में यह आंदोलन अमेरिका में सन 1962 के आस-पास एलेन गिंसबर्ग के नेतृत्व में चलाया जा रहा था। उसी समय कलकत्ता में इस आंदोलन की शुरुआत हुई। किंतु जिस प्रकार का साहित्य भूखी पीढ़ी के कवियों ने

लिखा था, उसे देखकर भूखी पीढ़ी के कुछ नवयुवक साहित्यकारों को गिरफ्तार कर लिया गया और सरकारी तौर पर उनकी कविताओं पर पाबंदी लगा दी गई। वास्तव में यह आंदोलन कुछ समय के बाद प्रचार मात्र बन कर रह गया क्योंकि भूखी पीढ़ी के कवि असामान्य रूप से क्षुब्ध थे। इनका असंतोष व्यक्तिगत स्वभाव और परिस्थिति पर निर्भर था। इसी प्रकार का एक आंदोलन अकविता के नाम से हिन्दी में चल पड़ा। कुछ समय के लिए इस आंदोलन के लिए भी व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई और अकविता के अनेक लेख और विशेषांक प्रकाशित हुए। किन्तु यह आंदोलन भी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों के कारण बहुत शीघ्र ही बिखर गया। कुछ समाचार पत्रों में तो इसकी अकाल मृत्यु घोषित की गई। नई कविता के विभिन्न आंदोलनों के काल में ही मुक्तिबोध की कविताएँ नितांत नए रूप में प्रकाशित और चर्चित हुई। मुक्तिबोध मूलतः जनवादी आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाले कवि थे। उन्होंने कला, साहित्य और चिंतन तक ही जनवादी विचारधारा को सीमित नहीं रखा बल्कि उसे मानव मुक्ति से लेकर मानव सत्ता की प्रतिष्ठा तक व्यापक बनाया। मुक्तिबोध ने सही अर्थ में कविता को जनवादी अनुरोध और आग्रह से परिपूर्ण किया है क्योंकि जनवादी अपेक्षाएँ उनकी अंतरात्मा की आवाज थी।

1.4 जनवादी साहित्य की अवधारणा और स्वरूप:-

राजनीतिक दृष्टि से जनता की सत्ता को जनवाद कहा जाता है। जब एक विशेष वर्ग की सत्ता समाप्त कर सर्वसामान्य उस सत्ता पर आसीन होता है तो उसे जनवाद कहा जाता हैं। जनवाद की इस स्थापना में शोषित पीड़ित समाज की सारी इकाइयाँ कार्य तथा संघर्ष करती हैं। अतः जनवादी सत्ता को स्थापित करने के लिए साहित्यकार भी अपनी भूमिका निभाता है। अपने साहित्य के माध्यम से वह सर्वहारा कृषक, मजदूर वर्ग में चेतना जागृत करता और जनवादी क्रांति के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करता है। वैसे भी राजनीति की अपेक्षा साहित्य को अधिक सचेत और संवेदनशील माना जाता है। इसी कारण जनवादी क्रांति की पृष्ठभूमि के निर्माण में साहित्यकार अपना विशेष महत्त्व रखता है। आज तक जनवादी साहित्य की कोई परिपूर्ण और सर्वसम्मत परिभाषा नहीं बनी है। लेकिन कई विद्वानों ने जनवादी- साहित्य के संबंध में अपने मत व्यक्त किये हैं जिसके आधार पर जनवादी साहित्य का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

1.4.1 गांधी जी की जनवाद (समाजवाद) संबंधित अवधारणा :-

अब यह निर्विवाद सत्यापित हो चुका है कि मानव समाज की आर्थिक विमयता सभी कठिनाइयों की जड़ है। इसी कारण समाज विश्वलित और कुटिल होता जाता है। भारत में प्राचीन काल से ही अनेक मनीषियों ने मानव-मानव के मध्य स्थित आर्थिक विषमता को दूर करने का स्वप्न देखा। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने कहा: "आवश्यकता से अधिक धन का संचय पाप है।"[14] लेकिन ये विचारक विषमता मुक्त समाज का स्वप्न ही देखते रह गये। भारत में विदेशी साम्राज्यवादियों, धनलोलुपों का चाहे ये तुर्क हों, मुगल हों, अंग्रेज हों, यहाँ तक कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सत्तारूढ़ दल हो, आधिपत्य रहा। परंतु फांसीसी और रूसी श्रांति ने भारत के भी चितकों को प्रभावित किया। अंग्रेजों के राज में प्रसिद्ध क्रांतिकारियों पर इसका स्पष्ट प्रभाव था लेकिन मार्क्सवादी जनवाद को समझते हुए अंग्रेजी राज में कुछ ऐसे विचारक नेता हुए जो इसे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता से मिलाकर एक समन्वयक जनवादी दृष्टि दे रहे थे। गांधीजी इनमें से प्रमुख थे ।

वस्तुतः कार्ल मार्क्स ने जिस नवीन वैज्ञानिक दर्शन को जन्म दिया, संक्षेप में, या दूसरे शब्दों में उसी को 'समाजवाद' कहते हैं। जनवाद एक ऐसी दृष्टि है जिसमें मजदूरों, किसानों, असहाय पीड़ितों को एक जुट कर उनके सच्चे साथी की भूमिका निभाती है। यहाँ पर मार्क्स के जनवादी विचारों और गांधी के जनवादी विचारों में माध्यम को लेकर मतभेद हैं। मार्क्सवादी जनवाद अपनी स्थापना के लिए सशस्त्र विद्रोह को मान्यता देता है जबकि गांधी के जनवाद की स्थापना अहिंसक क्रांति से होती है। इस प्रकार के जनांदोलन के लिए महात्मा गांधी उन वर्गों को लेते हैं जो शोषण के विरुद्ध हैं, दलित हैं, कृषक हैं। लेकिन गांधी जी का जनांदोलन शोषण के विरुद्ध अगर धनिक एवं सामंत हो तो उनको भी सम्मिलित करता है। मार्क्सवादी जनवादी क्रांति में भी ऐसे लोगों को सम्मिलित किया गया है। लेकिन यहाँ अधिनायकत्व सर्वहारा के हाथ में है।

गांधी जी के जनवाद (समाजवाद) को समझने के लिए हमें गीता और उपनिषदों को भी समझना पड़ेगा क्योंकि गांधी का समाजवाद इन्हीं ग्रंथों से प्रभावित है। गांधी जी ने अहिंसक क्रांति बहुत आगे के समय को सोचकर अपनायी थी, क्योंकि सशस्त्र क्रांति भविष्य में सशस्त्र विद्रोहों का एक लंबा सिलसिला शुरू कर सकती है। रूस में स्तालिन युग इसका उदाहरण है। इसीलिए गांधी अहिंसक क्रांति और हृदय परिवर्तन पर जोर देते हैं। वे कहते हैं "मेरा यह पक्का विश्वास है कि जिस

चीज को हिंसा कभी नहीं कर सकती, वही अहिंसात्मक असहयोग द्वारा सिद्ध की जा सकती है। हमने हिंदुस्तान में अहिंसा को उसके अनुरूप मौका अभी तक दिया ही नहीं।"[15] गांधी जी की अहिंसक क्रांति अंततः सफल हुई। वह अंग्रेजी साम्राज्य, जिसमें कभी सूर्य अस्त ही नहीं होता था, पराजित हुआ और उसे भारत छोड़कर भागना पड़ा था। ये कुछ संकीर्ण दिमाग वालों का तर्क है कि अंग्रेज वस्तुतः कुछ क्रांतिकारियों की गोलियों या सुभाष बोस की सेना से डरकर भारत से भाग गये । वस्तुतः अंग्रेज गांधी के नेतृत्व में भारत की लाखों जनता का तेवर देखकर ही समझ गये थे कि अब भारत को अधिक दिनों तक कब्जे में नहीं रखा जा सकता।मार्क्स के ही समान गांधी भी वर्गवाद, वर्णवाद, जातिवाद, छुआछूत क्षेत्र- बाद के कट्टर विरोधी थे।

गांधीजी के मतानुसार : "साम्यवाद का मतलब है वर्गहीन समाज यह बेशक एक उत्तम आदर्श है और उसके लिए अवश्य कोशिश होनी चाहिए लेकिन जब इस आदर्श को हासिल करने के लिए हिंसा का प्रयोग हो तब मेरा रास्ता इससे अलग हो जाता । हम सब जन्म से ही समान हैं। असमानता या ऊँच-नीच की भावना एक बुराई है। परंतु मैं इस बुराई को मनुष्य और मनुष्य के बीच तलवार के बल पर भगाने में विश्वास नहीं करता ।"[16] सच्चा प्रजातंत्र गांधीजी के अनुसार "कभी भी हिंसा और दंड-शक्ति पर आधारित नहीं रह सकता। व्यक्ति के पूर्ण और स्वतंत्र विकास के लिए जन- तांत्रिक समाज को परस्पर सहयोग और सद्भाव, प्रेम और विश्वास पर आधारित रहना चाहिए । मानवता का विकास इन्हीं के सिद्धांतों के आधार पर आज तक हुआ है और आगे भी होगा ।"[17]

इसके आगे गांधीजी ने कहा हैं कि "प्रजातंत्र हिंसा के आधार पर टिक नहीं सकता। इसलिए इस पर किसी प्रकार का बाहरी दबाव हरगिज नहीं हो, यह तो स्वयं स्फूर्त होना चाहिए।"[18]
इसीलिए गांधी जी कहते हैं : "व्यक्ति ही सर्वोपरि है। मैं तो राज्य शक्ति की वृद्धि के लिए प्रत्येक चरण को भयावह मानता हू। ऊपर से तो इसमें हमें दिखता है कि राज्य हमारे शोषण का अंत कर रहा है किंतु इसमें व्यक्तित्व का ही विनाश हो जाता है। इसे मैं मानवता की सबसे बड़ी शक्ति मानता हूँ।"[19]

1.4.2 लोहिया जी की जनवाद (समाजवाद) संबंधित अवधारणा:-

किसी पराधीन देश का समस्त मानस स्वतंत्र होने के लिए आकुल हो जाता है। तब उसके मानस मंथन से ऐसे सांस्कृतिक व्यक्तित्व उत्पन्न होते हैं जो क्रांति- द्रष्टा होने के साथ-साथ अग्नि-दीक्षित भी होते हैं। स्वभावतः उनमें देश की स्वतंत्रता के अतिरिक्त किसी अन्य महत्त्वाकांक्षा का अंकुर नहीं जम पाता, न उनमें शासन या पदों की इच्छा होती है, न व्यक्तिगत सुख-सुविधा का आकर्षण हमारे स्वतंत्रता के संघर्ष में ऐसे अग्नि-दीक्षित व्यक्तित्व उद्भुत हुए जिनको हमने केवल राजनीति में सीमित करके ही देखा और उनके अन्य पक्षों को अपने अज्ञान के अंधकार में रहने दिया। डॉ. राममनोहर लोहिया उन्हीं में से एक थे।

आज से 54 वर्ष पहले 1934 में कांग्रेस के अंदर ही कुछ वामपंथी नव- युवकों ने सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की थी, राममनोहर लोहिया भी उनमें से एक थे। समाजवादियों ने जब 1948 में कांग्रेस को छोड़ने का निर्णय लिया तो आचार्य नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता, अरुणा आसफ अली एवं अच्युत पटवर्धन के साथ लोहिया ने भी कांग्रेस पार्टी से त्यागपत्र देकर सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया परंतु परिस्थितियों के तकाजे से समाजवादी आंदोलन के कई नेता पुनः कांग्रेस पार्टी में वापस चले गये और अकेले राम- मनोहर लोहिया ने कांग्रेस की कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा।

समाजवाद के विषय में 'भारत में समाजवाद'[20] नामक लघु पुस्तिका में लोहिया ने अपने विचार प्रकट किये हैं। लोहिया गांधीजी के विचारों एवं उनके कार्यों को भारत में जनवाद के उदय के रूप में मानते हैं। लोहिया का कहना है कि "समाजवाद को सिर्फ एक खास मतलब का समाज-सुधार समझना गलत होगा।"[21]

एक तरफ तो लोहिया गांधी के कार्यों को समाजवाद का आरंभ मानते हैं, वहीं वे कहते हैं कि समाजवाद को मात्र खास तरह का समाज- सुधार समझना गलत है । क्या गांधीजी भारत में एक खास तरह का समाज- सुधार ही नहीं चला रहे थे ? फिर इटली और फ्रांस में ईसाई समाजवाद के परिणामस्वरूप मजदूरों एवं दलितों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के बावजूद लोहिया इसे पूँजीशाही के बुनियादी तरीके एवं जड़ों को गहरा बनाने वाला कदम मानते हैं। वे इसी तर्क से सर्वोदयी विचारधारा को भी 'बीसवीं सदी का सबसे बड़ा ढकोसला' मानते हैं। उन्होंने मार्क्सवाद द्वारा सूत्रबद्ध

रूढ़िगत समाजवाद' को अस्वीकार किया और दूसरी तरफ कांग्रेस द्वारा प्रवर्तित 'सरकारी समाजवाद का भी जबर्दस्त खंडन किया। वे अपने ही किस्म के हिंदुस्तानी समाजवाद के बारे में आजीवन चितन करते रहे। यह चिंतन बहुत सुसंगत रूप से सूत्रबद्ध तो नहीं है पर उसके कुछ बीज अवश्य संचित किये जा सकते हैं। आपने जनवाद या लोकतंत्र संबंधी अपनी समझ और व्यवहार को इसी समाजवाद के परिप्रेक्ष्य में परिचालित किया।

आपके चिंतन में जो सर्वप्रमुख मूल्य है, यह है समता। वे गरीबी अमीरी की गैर-बराबरी को दिल से नफरत करते हैं और उसे दूर करना मनुष्य का ध्येय मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में "प्रकृति का नियम जो भी हो, मनुष्य का नियम होना चाहिए- समता।"[22] वे प्रभु देशों और दबे हुए देशों के बीच, शहरी लोगों और देहाती किसानों के बीच गैरबराबरी की गहरी खाई को लक्षित करते हैं और उसे दूर करने के लिए पूरी तरह बदलाव पर जोर देते हैं और 'राहत की राजनीति' या 'बख्शीश' या 'सुधार' का विरोध करते हैं। लोहिया जी के विचार से "जो समाज बहुत गरीब बन जाता है, उसमें बराबरी की भूख उतनी जल्दी नहीं लगती है क्योंकि उसकी इच्छा और उद्देश्य प्रायः केवल पेट भरने का हो जाता है या पेट भरने से थोड़ा ज्यादा हो जाता है। इसलिए हिंदुस्तान जैसे देश में साधारण जनता यानी गरीब आदमी क्रांति को इतना नहीं समझेगा जितना कि राहत वाली राजनीति को यह बराबरी को इतना नहीं समझेगा, जितना कि बख्शीश को।"[23]

वह चाहते हैं कि "हर देश में रोजगारी ऐसी हो कि मेहनत की पैदावार करीब-करीब बराबर हो। तब दो या अधिक देशों के व्यापार से सबको फायदा होगा, वरना संसार में आज जितना व्यापार हो रहा है, उसमें जबरदस्त लूट है।"[24]

वे पूंजीवादी देशों द्वारा गरीब देशों को दी जाने वाली मदद को भी एक चालाक किस्म की 'लूट' मानते हैं । आपके चिंतन में दूसरा मुद्दा जो महत्त्व धारण करता है, वह है ऊंची जाति और छोटी जाति की गैरबराबरी। इस जात-पाँत के रोग को वे तथाकथित सभ्य यूरोप में रेखांकित करते हैं। आपके विचार से "वर्ग है ढीली जाति और जाति से जकड़ा हुआ वर्ग"[25] है।

ढीली जाति या वर्ग का अस्तित्व वे पूरे संसार में मानते हैं। उनका मत है कि अगर जाति प्रथा को समाप्त कर दिया जाये तो वर्गों का भी खात्मा हो जायेगा : "इस मामले में जो देश सबसे ज्यादा पतित है, मतलब अपना देश, वही इस मामले को आज अच्छी तरह समझते हुए जाति के बिलकुल

आमूल खात्मे की तरफ बढ़े तो अच्छा। वह किस्सा मशहूर है कि चाणक्य ने मट्ठा पिलाया दूब को उसी तरह से अगर जाति को मट्ठा पिला दिया गया तो संभवतः हम लोग कोई ऐसी कार्यबाही निकाल पायेंगे जिससे जाति और वर्ग दोनों का खात्मा हो जाये।"[26] लोहियाजी के चितन में नर-नारी संबंधी गैरबराबरी का सवाल बड़े भारी महत्व का है। इस समस्या पर भी वे पूरी दुनिया को सामने रखकर सोचते हैं। और सुझाते हैं कि लिंग-संबंधी असमानता को दूर करने का एक उपाय है शूद्रों, हरिजनों, आदिवासियों या धार्मिक अल्पसंख्यकों की भाँति स्त्रियों के लिए विशेष अवसर प्रदान करना या विशेष आरक्षण की व्यवस्था। इस सिलसिले में वे नर-नारी की नैसगिक असमानता को भी ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि "विशेष अवसर दिये बिना ये ऊंचे उठ नहीं सकते। यह सृष्टि रहेगी तब तक थोड़ा-बहुत देना पड़ेगा क्योंकि शरीर-संगठन के मामले में मर्द के मुकाबले में औरत कमजोर है और मालूम होता है कि कुदरती तौर पर कमजोर है। इसलिए उसे कुछ स्वाभाविक तौर पर ज्यादा स्थान देना ही पड़ेगा।"[27] वे इस प्रश्न पर आजीवन बल देते रहे और उनका यह स्पष्ट मत है कि "नर और नारी की गैरबराबरी को खत्म किये बिना, मेरी समझ में दूसरी भी गैरबराबरी खत्म करना असंभव है।"[28] चौथा मुद्दा है रंगभेद का। इस प्रश्न पर सोचते हुए लोहिया जी सारी दुनिया के देशों पर नज़र रखते हैं और आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानों या मूल्यों का जोरदार समर्थन करते हैं। इस मामले में वे एक उदार उज्ज्वल मानवता- वादी ही नहीं, सौंदर्यशास्त्र के एक वैज्ञानिक चितक भी मालूम पड़ते हैं। वे - काले सौंदर्य, मसलन नीग्रो औरतों के सौंदर्य की खूबियाँ दिलाते हुए कहते हैं: "असल में हमारे दिमाग में नाक, कान और आंख के बारे में पहले से ही भ्रांत धारणाएँ बन गयी हैं। इन धारणाओं को खत्म करके सचमुच सुंदरता की दृष्टि से देखना चाहिए।"[29]

लोहिया जी का एक और सपना है- दुनिया को हथियार-शून्य देखना। यहाँ वे हथियारों के मुकाबले सत्याग्रह की ताकत को खड़ा करते हैं। इस संबंध में वे कहते हैं कि "उनकी -समस्या है कि सच को कैसे मजबूत बनाया जाये? परंपरागत तरीका हथियार वाला रहा है लेकिन जैसे ही हथियार के सहारे सच को मजबूत बनाया जाता है, वह झूठ बन जाता है, उसका स्वरूप बदल जाता है। इसलिए कोई ऐसा 'अस्त्र ढूंढ़ना चाहिए जो सच को मजबूत बनाये। लेकिन उसे झूठ का रूप न दे और मेरी समझ में वह केवल सत्याग्रह है।"[30]

अपने इस विचार को लोहियाजी 'तर्क' पर आधारित करते हैं। आधुनिक समाज 'तर्क' पर आधारित है लेकिन केवल तर्क कमजोर है क्योंकि हथियारों की ताकत उसे खत्म कर देती है। इसलिए वे तर्क को ताकत देने के लिए सत्याग्रह का रास्ता सुझाते हुए कहते हैं कि "तर्क को कोई ऐसी ताकत मिलनी चाहिए जो पशुबल न हो, हिंसा न हो, लेकिन एक हिंसक के मुकाबले में उस तर्क को खड़ा कर सके और वह वही ताकत है कि हम तुमको मारेंगे भी नहीं मगर तुम्हारी बात मानेंगे भी नहीं। जब आदमी डंडा या अणु बम देखता है तो डरकर भाग जाता है या झुक जाता है। इसी झुक जाने के कारण पशुबल जीत जाया करता है। लेकिन अगर तर्क झुके नहीं, मुकाबला कर उसको मारे नहीं मगर उसकी बात माने नहीं, आज्ञाकारी नहीं, सिविल-नाफरमानी करे।"[31]

लोहिया जी व्यक्ति की स्वतंत्रता को, उसके विचारों और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बहुत महत्व देते हैं और उसमें राजनीति या राज्य के हस्तक्षेप का निषेध करते हैं। उन्हीं के शब्दों में: "जीवन के ऐसे कुछ दायरे होने चाहिए कि जिनमें राज्य का, सरकार का, संगठन का, गिरोह का दखल न हो। जिस तरह हमारी जमीन की बेदखलियां हो जाती हैं, उसी तरह सरकार और राजनीतिक पार्टियाँ हमारे जीवन में बेदखली कर डालती है।"[32]

इसके पीछे उनका तर्क है कि व्यक्ति को अपनी जिंदगी स्वतंत्रतापूर्वक जीने और संवारने का प्रश्न 'माँ' का प्रश्न नहीं, बल्कि 'अधिकार' का प्रश्न है। उन्हीं के शब्दों में "राज्य या राजनीतिक पार्टी को व्यक्ति के जीवन में दखल देने का अधिकार नहीं होना चाहिए। हर एक व्यक्ति को एक हद तक अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार होना चाहिए।"[33]

इसी तर्क योजना के अनुसार चलकर उन्होंने भारतीय जनतंत्र के भीतर एक उदार और सुसंगत परंपरा बनाने के लिए बार-बार कांग्रेस और खास कर नेहरू की नीतियों का विरोध किया। वे अर्थ-व्यवस्था के बड़े-बड़े प्रश्नों से लेकर संसदीय कार्यप्रणाली की छोटी-छोटी बातों तक में स्वस्थ जनतांत्रिक परंपरा का विकास होते देखना चाहते थे। इसलिए वे 'दब्बूपने' का विरोध करते हैं और अपने देश को अपनी भाषा में बोलने का अधिकार लेने के लिए आंदोलन संचालित करते हैं। भारत की भाषा-समस्या के बारे में उनके चितन का सार-सूत्र है-अंग्रेजी के वर्चस्व का खात्मा और भारतीय भाषाओं का उत्थान। वे अंग्रेजी भाषा के 'ज्ञानार्जन' के विरोधी नहीं, बल्कि उसके 'बलपूर्वक आरोपण' या 'वर्चस्व' के विरोधी हैं। वे एक दूरदर्शी चितक की भांति हथियार-शून्य दुनिया का सपना

देखते हैं और चोखंभा राज' तथा 'विश्व सरकार' का सपना देखते और दिखाते हैं। उनके चितन में जनतंत्र की स्वस्थ अवधारणाओं और समाजवाद की रचनात्मक विचार-परंपराओं का अद्भुत मेल दिखायी पड़ता है।

1.4.3 आचार्य नरेंद्रदेव की जनवाद संबंधी अवधारणा:-

जनवाद के संबंध में आचार्य नरेंद्रदेव की मान्यताएँ गांधी, लोहिया और जयप्रकाश नारायण से कहीं अधिक सुलझी हुई और वैज्ञानिक हैं। इसका कारण है नरेंद्रदेव का वर्ग संघर्ष, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एवं व्यवस्था परिवर्तन के लिए कृषक -मजदूर क्रांति आदि पर सही दृष्टि से किया गया विश्लेषण। एक प्रकार से आचार्य नरेंद्रदेव ने समाजवाद की स्थापना में मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिक-याद के सिद्धांत को उचित माना है।

आचार्य नरेंद्रदेव का यह मानना है कि समाज में दो प्रमुख वर्ग (शोषक एवं शोषित) हैं। वर्ग की परिभाषा करते हुए आचार्य नरेंद्रदेव लिखते हैं : "समाजवादी जब वर्गों का उल्लेख करता है तो वह समाज में प्रचलित उन उत्पादन संबंधों को ध्यान में रखता है जिन पर समाज की आर्थिक प्रणाली आश्रित होती है। वर्ग या सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है जो सामाजिक उत्पादन में एक प्रकार का कार्य करते हैं और उत्पादन के क्रम में लगे हुए एक दूसरों के साथ उनका संबंध भी एक-सा ही होता है। यह एक-सा संबंध श्रम के साधनों पर भी लागू होता है।"[34]

इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि वितरण के क्षेत्र में एक वर्ग के सदस्यों की आमदनी भी प्राय: एक जैसी होगी। उदाहरणार्थ हम आज के समाज में मजदूरों और पूँजीपतियों को देखते हैं। सभी मजदूरों के समूह चाहे वे कपड़ा मिलों में काम करने वाले मजदूर हों, खानों में काम करते हों या और कहीं एक ही श्रेणी में गिने जायेंगे। सामाजिक उत्पादन में, आर्थिक वस्तुओं की पैदावार में इनका भाग एक-सा है। ये सभी उत्पादन के साधनों से रहित हैं अर्थात् मिलों या कारखानों के मासिक वे खुद नहीं हैं। सभी अपनी श्रम-शक्ति बेचकर मजदूरी कमाते हैं। यही वर्गांतर है ।

औद्योगिक क्रांति के कारण समाज में एक जबरदस्त क्रांति हुई और समाज का सामंती ढाँचा लड़खड़ाकर गिर गया और उसके स्थान पर उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का कब्जा हो गया जिससे समाज का बहुसंख्यक वर्ग मजदूर बनकर रह गया। मजदूर वर्ग उत्पादन के साधनों से वंचित

होने के कारण अपनी श्रम-शक्ति बेचने को विवश हो जाता है जिनके आधिपत्य में उत्पादन और वितरण के साधन सिमट जाते हैं अर्थात् मिलों-कारखानों से लेकर मंडियों तक उन्हीं के कब्जे में रहती हैं। इस प्रकार पूँजीपति और मजदूर ये आजकल के दो आधारभूत वर्ग हैं जिनके मध्य लगातार वर्ग संघर्ष जारी है।

समाजवाद का अर्थ वर्गहीन समाज का निर्माण है। "जब कोई समाजवादी वर्ग-रहित समाज की स्थापना करने की बात करता है तो उसका मतलब इन्हीं आर्थिक वर्गों से होता है। समाजवाद एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसमें परस्पर विरोधी शोषक और शोषित आर्थिक वर्ग मिट जायें और समाज सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का सच्चा प्रजातंत्र बने। जब तक समाज का ढाँचा इस प्रकार का बना रहेगा कि एक वर्ग दूसरे वर्ग को दबाता रहेगा तब तक सामूहिक रूप से समाज की उन्नति नहीं हो सकती। समाजवादी समाज में जब राजसत्ता शोषित या सर्वहारा वर्ग के हाथ में आ जाती है तब मनुष्यों के शोषण का आर्थिक आधार ही समाप्त हो जाता है।"[35] इसी व्यवस्था को सच्ची 'जनवादी' या 'समाजवादी' व्यवस्था कहा जाता है।

मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित जनवादी सिद्धांतों का दिल से समर्थन करते हुए आचार्य नरेंद्रदेव ने 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' नामक अपनी पुस्तक में लिखा हैं कि "समाजवाद का आदर्श समाज में इतना लोकप्रिय हो गया है कि इसका विरोध बढ़ा ही सतही और विवेकशून्य लगता है।"[36] लेकिन समाजवाद को विकृत करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। जर्मनी में हिटलर ने भी अपने प्रतिगामी सिद्धांतों का प्रचार 'राष्ट्रीय समाजवाद' के नाम पर खूब किया था। समाजवाद सच्चे मर्यो में जनवादी दृष्टि है। इसकी लोकप्रियता से घबराकर भारत में भी प्रतिक्रियावादियों ने इसके विरोध में छिपी कायराना लड़ाई जारी रखी है। यहां भी भारतीय समाजवाद वर्णाश्रम-समाजवाद, मुस्लिम समाजवाद और वैदिक समाजवाद आदि तरह-तरह के समाजवादों का हवाला देकर कहा जाने लगा है कि मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवाद विदेशी है और अपने देश में इसकी कोई आवश्यकता नहीं। आचार्य नरेंद्रदेव इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी ताकतों से जनता को हिटलर के उदाहरण के द्वारा सावधान करना चाहते हैं।

आचार्य नरेंद्रदेव ने अपनी समाजवाद संबंधी धारणाओं में मावस के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का समर्थन किया है। वे लिखते हैं: "जब हम कहते हैं कि समाज के आर्थिक ढाँचे की बुनियाद पर ही

मनुष्य की अन्य सभी क्षेत्रों की प्रणाली का ढांचा खड़ा होता है, किसी समय का साहित्य, धर्म, राजनीति, कानून और दर्शन आदि उस समय के समाज में प्रचलित आर्थिक ढाँचे के द्वारा निर्धारित होता है तो हमारा यह मतलब कदापि नहीं होता है कि समाज का समूचा विकास पूर्ण रूप से उत्पादन संबंधों पर ही निर्भर होता है और उस पर विचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"[37]

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के बारे में आचार्य नरेंद्रदेव का विचार है कि " 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' वह दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणाली है जो हमें उन आंतरिक नियमों का ज्ञान कराती है। जिसके अनुसार इस भौतिक जगत का विकास होता है, इस भौतिक जगत के रहने वाले प्राणियों का विकास होता है और उनके विचारों में रूपांतरित होता है।"[38] राष्ट्रीयता का प्रश्न जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, वह मार्क्स और एंजेल्स में भी राष्ट्रीय अहंकार के रूप में देखा जा सकता है। उनका वैज्ञानिक समाजवाद सत्य है फिर भी समाजवाद का जो वैज्ञानिकता का दावा है, उससे ही यह राष्ट्रीय नहीं हो जाता। जैसे 'भौतिकशास्त्र' के नियम न तो भारतीय हैं, न रूसी, न चीनी, वैसे ही वैज्ञानिक समाजवाद एक सार्वभौम सत्य है और वह राष्ट्रीय सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र का घोष ही यही है कि दुनिया के मजदूरो, एक हो ! तुम्हें खोने के लिए जंजीरों के सिवा और कुछ नहीं और जीतने के लिए सारा संसार पड़ा है।' इस घोष की अनुगूंज विश्व के प्रायः हर कोने से हुई।

1.5 जनवादी साहित्य का स्वरूप :-

वैसे देखा जाए तो साहित्य में जनवादी परंपरा काफी पुरानी है। इसी कारण कुंवरनारायण कहते हैं- "साहित्य का जनवाद राजनीति के जनवाद से ज्यादा पुराना है और ज्यादा व्यापक भी।"[39] इसका कारण यह है कि हर देश के साहित्य में कमोबेश रूप में भी क्यों न हो 'जन' का स्थान दिखाई देता है। जिस साहित्य का सृजन लोकाश्रय में हुआ है वह साहित्य जनता के सुख-दुःखों, भावनाओं, विचारों और समस्याओं की अभिव्यक्ति का ही माध्यम बना है। इस साहित्य को भी एक दृष्टि से जनवादी साहित्य कहा जा सकता है। इसी आधार पर हिंदी साहित्य में कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि मध्ययुगीन कवियों से लेकर आधुनिक युग के कई साहित्यकारों को जनवादी साहित्यकार कहा जाता

है। इस प्रकार साहित्य का जनवाद आज की राजनीति के जनवाद से अधिक पुराना और व्यापक है। जनवादी साहित्य का स्वरूप निम्न बिंदुओं के आधार पर देख सकते हैं-

1. मार्क्स-दर्शन का प्रभाव :-

आज हमारे साहित्य में जनवाद जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह कम्युनिस्ट स्रोतों से ही आया है।"[40] रूस में अक्तूबर 1917 के बाद स्थापित कट्टर मार्क्सवादियों की 'प्रोलेट कल्ट' और 'ऑनगार्ड' जैसी संस्थाओं को भंग कर मैक्सिम गोर्की जैसे कलाकारों ने सन् 1932 को 'सोवियत लेखक संघ' की स्थापना की। मार्क्सवादी विचारों के साथ-साथ सामाजिक यथार्थवाद की अभिव्यक्ति करनेवाले साहित्य को 'प्रगतिशील- साहित्य' कहा गया है। "भारत में इस साहित्य का प्रारंभ सन् 1936 में 'प्रगतिवादी लेखक संघटना' की स्थापना से हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विश्व दो भागों में बँट गया। जिनमें रूस आदि कम्युनिस्ट ग्रुप 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' की बात करता है और अमेरिकी समूह 'पीपुल्स कैपिटलिज्म' का नारा लगाता है।"[41] लेकिन जनवादी-साहित्य और प्रगतिशील साहित्य में अंतर है। हिंदी के प्रगतिशील लेखक, आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं- "मार्क्सवाद समाज को समझने और उसे बदलने का विज्ञान है। जो भी वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहता है, वह मार्क्सवाद का अध्ययन किए बिना नहीं रह सकता। मार्क्सवाद भारतीय समाज को समझने के लिए एक दृष्टिकोण देता है।"[42] लेकिन जनवादी साहित्य एवं साहित्यकार को यह आवश्यक नहीं कि यह मार्क्सवादी ही हो। केवल मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित होने से कोई रचना जनवादी नहीं हो सकती। उसमें सामाजिक जीवन के अलग-अलग अंगों का भी चित्रण होना चाहिए। उसमें समाज का यथार्थ और सामाजिक संबंधों का पूरी समग्रता से चित्रण होना चाहिए। इस संबंध में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- "केवल मार्क्सवादी शब्दावली और मुहावरों के उपयोग से कोई रचना जनवादी नहीं बन जाती, उसका वास्तविक महत्त्व उसमें चित्रित सामाजिक यथार्थ और सामाजिक संबंधों की समग्रता की प्रामाणिकता पर निर्भर होता है।"[43] प्रगतिशील साहित्य में मध्यम वर्ग और निम्न पूँजीपति वर्ग को भी प्रगतिवादी माना है मगर सत्य तो यह है कि सर्वहारा वर्ग और मध्यवर्ग तथा निम्न पूँजीवादी वर्ग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति में, सोच में अंतर होता है जनवादी साहित्य सर्वहारा का साहित्य है और इस वर्ग में "कृषक , मजदूर, मध्यवर्ग, शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग आदि व्यापक 90 प्रतिशत बहुसंख्य जनता का चित्रण होता है।"[44] इस कारण जनवादी साहित्य में

देश की समस्त जनता और उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितियों का चित्रण होता है। अतः कहा जा सकता है कि हर जनवादी साहित्यकार प्रगतिशील होना अनिवार्य नहीं परंतु हर प्रगतिशील साहित्यकार की दृष्टि जनवादी होनी ही चाहिए। इसी व्यापक दृष्टि के कारण जनवादी साहित्य प्रगतिशील साहित्य से भिन्न है।

2. मनुष्य के सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति :-

जनवादी साहित्य में मनुष्य के सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति होती है। इस साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं-विचारों को कोई स्थान नहीं है। जनवादी लेखक जनजीवन से ही अपने साहित्य विषय चुन लेता है। उसका जनता के साथ जितना घनिष्ठ संबंध होगा रचना या कलाकृति उतनी ही सशक्त बन जाती है। जन साहित्य क्रांति या परिवर्तन का साधन भी बनता है। इसी कारण चीनी जनवादी नेता माओ-त्से-दुंग ने अपने देश के साहित्यकारों को संबोधित करते हुए कहा था- "उन्हें (लेखकों को) मजदूरों, किसानों और सैनिकों के बीच व्यावहारिक संघर्षों के बीच जाने की प्रक्रिया तथा मार्क्सवाद और समाज का अध्ययन करने की प्रक्रिया के सहारे कदम-ब-कदम अपना पाँव मजदूरों, किसानों और सैनिकों के पक्ष में, सर्वहारा वर्ग के पक्ष में जाना होगा। इसमें साहित्य सृजन सचमुच सर्वहारा मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिए हो।"[45] इस प्रकार जो साहित्य सामान्य जनता के व्यावहारिक संघर्षो को उन्हीं के बीच जाकर निर्मित होता है उसे जनवादी साहित्य कहते हैं। लेखक या कलाकार अपनी विषय-वस्तु जब सामान्य जन के जीवन से ग्रहण कर अपनी कला से उसे धार देता है तो उसे जनवादी साहित्य कहते हैं।

3. क्रांतिकारी साहित्य :-

जनवादी रचनाकार केवल मात्र साहित्यकार नहीं है वह क्रांति के समय एक कार्यकर्ता भी है जो क्रांति को प्रेरित करता है। अतः उसका काम सर्वहारा वर्ग में क्रांति के लिए आवश्यक ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना भी है। इसी कारण लेनिन ने अपने कार्यकर्ताओं को कहा था- "मजदूरों तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए सामाजिक जनवादी कार्यकर्ताओं को आबादी के सभी वर्गों के बीच जाना चाहिए और अपनी सेना की टुकड़ियों को सभी दिशाओं में भेजना चाहिए।"[46]

अर्थात् जनवादी साहित्य के माध्यम से रचनाकार जनता से ही अपने साहित्य के लिए विषय ग्रहण करता है और उनमें क्रांतिकारी, परिवर्तनकारी बीज बोकर जनता में प्रसारित करता है। साहित्य

में जनजीवन की सजीव झाँकियाँ होने के कारण जनता उसे अपनाती है और इस तरह क्रांति के लिए, परिवर्तन के लिए पोषक वातावरण बन जाता है। इसी कारण जनवादी साहित्यकार के लिए जनजीवन कच्चे माल की खान की तरह है तथा उसके साहित्य का एकमात्र अनंत स्रोत होता है। माओ-त्से-दुंग के शब्दों में कहें तो "क्रांतिकारी कला और साहित्य क्रांतिकारी लेखकों और कलाकारों के मस्तिष्क में पड़ने वाले, जनजीवन के प्रतिबिम्बों की उपज हैं। जनता का जीवन वास्तव में साहित्य और कला के लिए कच्चे माल की खान जैसा होता है ऐसा कच्चा माल जो अपने स्वाभाविक रूप में होता है, जो अनगढ़ होते हुए भी बेहद सजीव, समृद्ध और मौलिक होता है... यह जनजीवन कला-साहित्य का एक अनंत स्रोत है, उसका एकमात्र स्रोत है।"[47] यही कारण है कि "माओ-जे-तुंग चीन के क्रांतिकारी लेखकों और कलाकारों को आम जनता, मजदूरों, किसानों और सैनिकों के बीच जाने, उनके संघर्ष के शोलों में कूदने, अपने एकमात्र व्यापक, सजीव और सबसे समृद्ध स्रोत के पास जाने का संदेश देते हैं।"[48]

ऐसा करने पर ही इस जनवादी या क्रांतिकारी साहित्य में जनसामान्य की रोजमर्रा की घटनाओं का उनके बीच के अंतर्विरोधों और संघर्षों का यथार्थ चित्रण होता है। ऐसी रचनाओं से ही जनता में जागृति एवं उत्साह का निर्माण होता है। इस प्रकार जनवादी क्रांति को पूर्णत्व प्रदान करने के लिए जनवादी साहित्य भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

4. जनसमूह की सेवा का कार्य :-

जनवादी साहित्य व्यापक जनसमूह की सेवा का कार्य करता है। वह जनता के साथ अटूट रूप में जुड़ जाने के कारण तथा जनजीवन ही उसकी विषय-वस्तु बन जाने के कारण इस साहित्य का और जन-जीवन का एक अटूट रिश्ता स्थापित होता है। जनता के सुख-दुःखों, जीवन-संघर्षों, विचारों, भावनाओं तथा अंतर्विरोधों की यथार्थ तसवीर प्रस्तुत कर वह जनता में चेतना जगाता है। वह जनसंघर्ष को विचारधारा का आधार देता है। इसी कारण माओ-जे-दुंग कहते हैं- "क्रांतिकारी लेखक और कलाकार अपने सृजनात्मक श्रम से जनता के जीवन में मौजूद साहित्यिक व कलात्मक कच्चे माल को विचारधारा के स्तर पर एक ऐसा काल या साहित्य बना देते हैं जो विशाल जनसमूह की सेवा करता है।"[49]

5. परिवर्तन का साधन :-

जनवादी साहित्य अपने समय की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन का साधन बनता है। जनता के दुख-दर्द तथा संघर्षमय जीवन को अभिव्यक्त करने का काम जनवादी साहित्य करता है। जनवादी साहित्य उसे ही कहा जा सकता है, जो समाज में बुनियादी बदलाव का साधन बनता है। मैनेजर पाण्डेय इसी कारण कहते हैं- "जब भी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन का स्वर उभरता है, साहित्य का जनवादी स्वरूप विकसित होने लगता है, साहित्य में जनता की आवाज सुनाई पड़ने लगती है।"[50]

6. बहुसंख्य समुदाय का साहित्य :-

जनवादी साहित्य बहुसंख्य समुदाय का साहित्य है। पूँजीवादी या अभिजनवादी साहित्य केवल पूँजीपति अल्पसंख्यकों के मनोरंजन का एक साधन बनता है। लेकिन जनवादी साहित्य समाज के बहुसंख्य, सामान्य जनता का पक्ष लेकर पूँजीपतियों के शोषण और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाता है। इस संबंध में डॉ. शिवकुमार मिश्र का मत द्रष्टव्य है- "यह तमाम साहित्य जो आज भ ही बहुसंख्य जनता की समझ के दायरे में नहीं है किन्तु जो शोषण और अनाचार पर टिकी संज्ञा की खिलाफत करता हुआ मनुष्य का, शोषित मनुष्य का पक्षधर है, जनवादी साहित्य भले न कहा जाय, जनता का साहित्य जरूर है और हमारा समर्थन भी उसे है।"[51] अब तक का सम्पूर्ण साहित्य अल्पमत का साहित्य था। जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में राजनीति में अल्पमत का बहुमत पर शासन होता है उसी प्रकार करना और साहित्य के क्षेत्र में भी अल्पमत का अभिजनवादी मनोरंजन का साहित्य तथा कला बहुसंख्य पर थोपी जाती है। इस साहित्य और संस्कृति के साधनों द्वारा सुंदर जाल बुनकर बहुसंख्य सामान्य- शोषित समाज का शोषण किया जाता है। शोषक वर्ग के अत्याचारों का पर्दाफाश करते हुए इस साहित्य में जन-सामान्य के जीवन-संघर्षो सामाजिक संबंधों और अंतर्विरोधों को अभिव्यक्त किया जाता है और मुक्ति द्वार की ओर बढ़ने के लिए अनिवार्य चेतना का संचार किया जाता है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- "सर्वहारा साहित्य सच्चे अर्थों में बहुमत का साहित्य होता है क्योंकि इसमें सभी शोषित वर्गों के जीवन संघर्ष और चेतना की व्यंजना होती है। अगर किसी साहित्य में सभी शोषित वर्गों का समावेश होता है, लेकिन उसमें सर्वहारा के क्रांतिकारी रूप और भूमिका की

व्यंजना होती है तो ऐसे साहित्य को जनवादी या सर्वहारा साहित्य कहने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता।"[52]

7. जनसामान्य की मुक्ति का साधन :-

जनवादी साहित्य सामान्य जनता की मुक्ति का साधन होता है। शासक वर्ग साहित्य को साधन बनाकर तथा संस्कृति की आड़ में सामान्य जनता का शोषण करता, उसे धोखा देता है। लेकिन जनवादी साहित्य इस सामान्य जनता की मुक्ति का साधन बनते हुए पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत को उघाड़कर रख देता है। इस प्रकार पूँजीपतियों का साहित्य जनता के शोषण के लिए एक सुविधाजनक माध्यम बनता है तो सर्वहारा वर्ग का जनवादी साहित्य जनता की मुक्ति का हथियार बनता है- "शासक वर्ग अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए संस्कृति और साहित्य का एक साधन के रूप में उपयोग करता है, लेकिन साहित्य शोषक समाजव्यवस्था के विरुद्ध मुक्ति कामी वर्ग के वैचारिक संघर्ष का एक शक्तिशाली माध्यम और हथियार भी होता है।"[53]

इस प्रकार जनवाद और जनवादी साहित्य की इसी क्रांतिकारिता के कारण उसे मुक्तिसंघर्ष का हथियार कहा जाता है। इस संबंध में डॉ. रामनारायण शुक्ल लिखते हैं- "जनवाद ऐसी दमकती मशाल है, जिसे विश्व की शोषित, उत्पीड़ित जनता ने अपने मजबूत हाथों में उठाया है और जिसके आलोक में आम आदमी की मुक्ति के संघर्ष से जुड़कर लिखा गया साहित्य जनवादी साहित्य है।"[54]

8. जनसामान्य के समग्र जीवन का चित्रण :-

जनवादी साहित्य में व्यापक जनसमूह के समग्र जीवन का यथार्थ चित्रण किया जाता है। इस संदर्भ में जनवादी कवि मुक्तिबोध जी का मत द्रष्टव्य है- "जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श और मनोरंजन से लेकर क्रांतिपथ की तरफ मोड़नेवाला, प्राकृतिक शोभा और प्रेम, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाला, स्वतंत्रता और मुक्तिगीतों को अभिव्यक्ति देनेवाला ये सभी कोटियाँ जनवादी काव्य ही हो सकती हैं बशर्ते वह मन को मानवीय, जन को 'व्यापक जन' बना सकें और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके।"[55] इस प्रकार जनवादी काव्य उसे कहा जाता है, जो मनुष्य जीवन का सर्वांगीण चित्र खीचते हुए शोषणकारी पूँजीवादी व्यवस्था का पर्दाफाश करता है। इस संपूर्ण साहित्य में स्वतंत्रता एवं मुक्ति का स्वर सुनाई देता है। यह साहित्य मनुष्य के मन में

मानवीय संवेदना जागृत करता है और उन्हें संगठित कर मुक्तिमार्ग की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

संक्षेप में जनवादी साहित्य जनता का साहित्य है। इसमें जनता के सुख-दुःखों, मनोभावों, विचारों के साथ संपूर्ण जीवन का सूक्ष्म प्रतिबिंब अंकित होता है। मार्क्स विचारों से प्रभावित इस साहित्य को यह अनिवार्य नहीं कि इसमें मार्क्स के दर्शन की अभिव्यक्ति हो। सामान्य जन ही इस साहित्य का केंद्रबिंदु है। जनवादी साहित्य मात्र साहित्य बनकर नहीं रहता वह सामान्य जनता की शोषण से मुक्ति का सशक्त हथियार बनता है। जनता का पक्ष लेकर उसकी लड़ाई का सक्रिय हिस्सा बनता है। अभिजनवादी साहित्य की मनोरंजकता उसे छूती तक नहीं। जनवादी साहित्य का उद्देश ही उसे जनता में लोकप्रिय बनाती है। उसे अभिजनवादी चमक-दमक या भड़कीलेपन की जरूरत नहीं पड़ती।

शोषक-वर्ग के अन्याय-अत्याचार के खिलाफ संघर्ष करने के लिए शोषित-वर्ग में संगठन की आवश्यकता होती है। संगठित रूप से किया गया प्रयत्न ही विजय पथ पर ले जा सकता है। संगठन निर्माण के लिए चेतना जागृत होना आवश्यक होती है और इस चेतना जागृति का महत्त्वपूर्ण कार्य जनता से जुड़े साहित्यकार करते हैं। जो साहित्यकार समाज के शोषित पीड़ित, मेहनतकश जनता का पक्ष लेकर उन पर होनेवाले अत्याचार के खिलाफ चेतना जागृत करने का कार्य करते हैं, क्रांति एवं परिवर्तन के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं उन्हें 'जनवादी साहित्यकार' तथा उनके साहित्य को 'जनवादी साहित्य' कहते हैं। इसी कारण साहित्य और समाज का संबंध घनिष्ठ माना जाता है। साहित्य समाज का केवल दर्पण ही नहीं बल्कि वह समाज के लिए 'प्रकाश- स्तंभ' बन जाता है। जनवादी साहित्यकार के लिए साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं है बल्कि अपने सामाजिक दायित्व को निभानेवाला हथियार होता है। जनवादी साहित्यकार अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव लाने के लिए, समाज के सामान्य जन को अन्याय-अत्याचार से निज़ाद दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता है। इस साहित्य में सामान्य जनता के दुःख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं और विचारों का सजीव चित्र अंकित किया जाता है। इस साहित्य में समाज का चित्रण अपनी समग्रता के साथ किया जाता है। इस प्रकार जनवादी साहित्य सामान्य जनता का पक्ष लेकर, उसके मन में परिवर्तनकारी चेतना जगाता करता है।

इसी का परिणाम सामंतवादी, पूँजीवादी साम्राज्यवादी सत्ता के विनाश में तथा सामान्य शोषित पीड़ित मेहनतकश जनता की सत्ता स्थापना में होता है।

1.6 जनवादी साहित्य की परिभाषा –

(i) हिंदी साहित्य कोश के अनुसार :-

"जनवाद कला, साहित्य और जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण है जो जनसामान्य को महत्त्व देता है। कला और साहित्य में आज जनवाद जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसके पीछे मार्क्स का दर्शन है। मार्क्स ने समाज और उसके विविध रूपों और विचारों की ऐतिहासिक व्याख्याएँ की हैं वह कला और साहित्य पर भी लागू होती है। साहित्य की जो मार्क्सवादी विवेचना हुई है, उसी से जनवाद का प्रादुर्भाव हुआ है।"[56] मार्क्स के इस दर्शन का कला और साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा है, उसी से जनवादी साहित्य का उद्भव माना जाता है।

(ii) मुक्तिबोध :-

"जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श और मनोरंजन से लेकर क्रांतिपद की तरफ मोड़नेवाला, प्राकृतिक, शोभा और प्रेम, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाला, स्वतंत्रता और मुक्तिगीतों को अभिव्यक्ति देनेवाले ये सभी कोटियाँ जनवादी काव्य हो सकते हैं, बशर्ते वह मन को मानवीय, जन को 'व्यापक जन' बना सके और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके।"[57]

(iii) रामनारायण शुक्ल के मतानुसार :-

"जनवादी साहित्य वह इन्कलाबी साहित्य है, जो आम जनता के निर्मित इतिहास से आगे बढ़ता हुआ, वर्तमान को सचेतन रूप से बदल देने में कटिबद्ध और मनुष्य की अनन्त संभावनाओं के विकास के महान भविष्य के प्रति गहरी आशा और दृढ विश्वास में जनता के जटिल और वीरतापूर्ण प्रयत्नों के बीच निर्मित होता है।"[58]

(iv) कुंवरपाल सिंह :-

"जनवाद की समझ है कि मनुष्य का केवल वर्तमान ही नहीं होता, अपितु अतीत और भविष्य भी होता है। यह निरंतरता में विश्वास करता है और ठोस जमीन पर खड़ा होकर अपनी जय-पराजय का निर्णय करता है। वह गहन अध्ययन और निष्ठा के साथ लोगों के साथ खड़ा होता है।

जनवादी लेखकों की रचनाएँ जनजीवन के मुख्य प्रवाह से रसग्रहण करती है। उनके सामाजिक जीवन और हितो को स्वर देते हैं। जहाँ तक अतीत से प्रेरणा लेने का प्रश्न है जनवाद में निष्ठा रखनेवाले रचनाकार कबीर, रैदास, सूर, तुलसी और जायसी आदि से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। उसे अपने युगानुसार डालते हैं। वे उनसे प्रेम, सौंदर्य, स्वतंत्रता की भावना ग्रहण कर उसे युग के अनुकूल बना लेते हैं।"[59]

(v) मैनेजर पाण्डेय :-

"वास्तव में अब तक का सारा साहित्य अल्पमत का साहित्य रहा है लेकिन सर्वहारा साहित्य सच्चे अर्थों में बहुमत का साहित्य होता है, क्योंकि इसमें सभी शोषित वर्गों के जीवन संघर्ष और चेतना की व्यंजना होती है। अगर किसी साहित्य में सभी शोषित वर्गों का समावेश होता है, लेकिन उसमें सर्वहारा के क्रांतिकारी रूप और भूमिका की व्यंजना होती है तो ऐसे साहित्य को जनवादी या सर्वहारा साहित्य कहने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता।"[60] पाण्डेय जी आगे लिखते हैं- "जब भी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन का स्वर उभरता है। साहित्य का जनवादी स्वरूप विकसित होने लगता है, साहित्य में जनता की आवाज सुनाई पढ़ने लगती है, शब्द और कर्म की दूरी घटने लगती है, क्रांतिकारी साहित्य का विकास होता है, तो शब्द और कर्म की एकता से चिन्तित साहित्यकार तरह-तरह के नये नारों और सिद्धांतों के सहारे उस एकता को खण्डित करने की कोशिश करने लगते हैं।"[61]

(vi) डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह के अभिमतानुसार :-

"जनवादी कलाकार की दृष्टि में कला सत्य, शिव और सुंदर की प्रतिष्ठा है। अर्थात् यथार्थ के अंतः सत्य का उद्घाटन और असत्य पर प्रहार, न्याय और लोकमंगल का समर्थन, अन्याय - दमन और उत्पीड़न का विरोध, सौन्दर्य की प्रतिष्ठा और कुरूपता पर प्रहार है।"[62]

(vii) डॉ. नामवर सिंह :-

"हम लोग 'डेमोक्रेसी' के लिए जनवाद का प्रयोग कर सकते हैं और साहित्य में जनवादी प्रवृत्ति है, हो सकती है, लेकिन जनवादी साहित्य जब हम कहते हैं तो मुझे प्रगतिशीलता में इससे ज्यादा व्यापकता दिखाई पड़ती है जिसकी सीमा जनवाद से आगे बढ़कर समाजवाद तक जाती है, जा

सकती है।"[63] डॉ. नामवर सिंह जनवादी साहित्य की तुलना प्रगतिशील साहित्य से कर उसे प्रगतिशील साहित्य से संकीर्ण मानते हैं। वे इस साहित्य को व्यापकता की दृष्टि से कम आँकते हैं।

(viii) चंद्रभूषण तिवारी :-

"(जनवाद) वह एक दृष्टिकोण भी है सामाजिक चेतना के संबंध में, सामाजिक व्यवस्था के संबंध में क्रांति के संबंध में-उसी तरह जैसे हम प्रगतिशील शब्द को सिर्फ साहित्य तक सीमित नहीं कर सकते 'जन' शब्द को नहीं कर सकते जैसे हम 'जन- संस्कृति' कहते हैं, 'जनवादी संस्कृति' भी कह सकते हैं।"[64]

इस प्रकार डॉ. नगेंद्र के मत को खण्डित करते हुए चंद्रभूषण तिवारी जी ने जनवादी साहित्य की व्यापकता को स्पष्ट किया है।

(ix) भरत सिंह :-

"जनवादी साहित्य से तात्पर्य सामंती और साम्राज्यवादी शोषण और उसके मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष करना और समाजवादी विकल्प की दिशा में बढ़ते हुए संघर्षरत मानव के दुःख-दर्दों, आशा-आकांक्षाओं, प्रेम-घृणा और कठिनाइयों को अभिव्यक्त करना है।"[65]

(x) देवेश ठाकुर के मतानुसार :-

"साहित्य के क्षेत्र में हमारे यहाँ इसकी परिणति प्रगतिवादी लेखक संघटना के रूप में हुई, जिसने अन्याय, शोषण और अनीति के खिलाफ संघर्षशीलता और जुझारूपन को विशेष अहमियत देते हुए साहित्य को कलावाद, व्यक्तिवाद और कृत्रिम अस्तित्ववाद की एकांतिक दुनिया से बाहर लाने और उसे सामान्य जन से जोड़ने में अहम भूमिका का निर्वाह किया।"[66]

सारांश रूप में कह सकते हैं कि जनवादी साहित्य मार्क्स दर्शन से प्रभावित वह क्रांतिकारी साहित्य है जो समाज के शोषण, अन्याय, अत्याचार को नष्ट कर समताधिष्ठित समाज की स्थापना का प्रयत्न करता है। व्यष्टि की जगह समष्टि की स्थापना करनेवाला यह साहित्य शोषित, पीड़ित मनुष्य के मन में शोषण, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित करता है। इसी कारण इस साहित्य को 'इन्कलाबी-साहित्य' कहा जाता है। सामान्य जनता की दुःख-दर्दभरी जिंदगी का यथार्थ चित्रण करनेवाला यह साहित्य उसकी गहरी आशा और दृढ़ विश्वास को भी अभिव्यक्ति देता है। जनवादी-साहित्य जनजीवन के मुख्य प्रवाह से रस ग्रहण करता है और उनके

सुख-दुःख, आशा-निराशा, भाव-भावनाओं तथा जय-पराजय को अभिव्यक्त करता है। जनवादी साहित्य अल्पमत के अभिजनवादी साहित्य की जगह बहुमत का बहुजनवादी साहित्य है, जिसमें सामाजिक परिवर्तन का स्वर उभरता है। समाज से शोषण, अन्याय, अत्याचार, असमानता को दूर कर लोकमंगल की स्थापना करने वाला यह साहित्य सत्य, शिव और सुंदर की प्रतिष्ठापना के लिए प्रयत्नरत है। इस प्रकार जन की संघर्षशीलता, जुझारूपन को अभिव्यक्त करनेवाला यह जनवादी साहित्य समाज में स्वतंत्रता, समानता, बंधुता एवं न्याय आधारित लोकतांत्रिक समाज की स्थापना में योगदान देता है।

1.7 हिंदी का जनवादी काव्य :-

हिन्दी जनवादी कविता पर पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव रहा है। साहित्यकोश के मतानुसार यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे साहित्य विमर्श में जनवाद' कम्युनिस्ट स्रोतों से आया है। 1942 ई. के आस पास भारतीय। कम्युनिस्ट पार्टी ने-'जनवादी' नामक एक प्रकाशन भी किया था। इस तरह की चिंतनधारा का जो विकास हुआ, उसे यूँ भी कह सकते हैं सर्वहारा साहित्य-प्रगतिशील साहित्य, जनवादी साहित्य इसी प्रकार से डॉ. हरदयाल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास अंतर्गत जनवादी साहित्य को चीनी क्रांति से प्रेरित मानते हुए कहा है कि वैसे भी जनवादी साहित्य प्रगतिवादी साहित्य की भाँति रूस की सर्वहारा क्रांति से प्रेरित नहीं बल्कि चीन की कृषक क्रांति से प्रेरित है। और प्रगतिवादी दौर में कठमुल्लापन के दुष्परिणामों से वे अच्छी तरह से परिचित है। उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट होता है कि जनवादी चेतना पर विदेशी साहित्यिक आंदोलनों का प्रभाव रहा है हिन्दी की जनवादी कविता यूँ अचानक अस्तित्व में नहीं आयी। अन्य काव्य आंदोलनों की तरह इसका भी आरंभ कला और साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव से हुआ। साहित्य में बहुत पहले ही व्यवस्थित रूप में जनवादी चेतना की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी। कालांतर में यह प्रवृत्ति साहित्य की केन्द्रीय प्रवृत्ति हुई। यदि यह कहा जाय कि जनवादी चेतना की मूल भावना लोक मंगल की भावना से जुड़ी हुई है तो हमें यह कहना पड़ेगा कि जैसे लोकमंगल चेतना की भावना हिन्दी साहित्य के लिए नई नहीं है वैसे जनवादी चेतना की भावना भी नई नहीं या अचानक निर्माण नहीं हुई वास्तव में यह चेतना इस देश के सत्ताधारी और शोषित वर्ग के प्रति शोषित

जनता की मुक्ति का संदेश लेकर आयी हिन्दी जनवादी साहित्य में शुरूआत ही साम्राज्यवादी सत्ता के प्रति कड़ा विरोध रहा है। हिन्दी जनवादी काव्य ने शुरूआत से ही शोषित वर्ग की अन्यायपूर्ण व्यवस्था का विरोध किया है और परिश्रम करने वाले वर्ग का सजीव चित्रण किया है।

1.7.1 हिंदी में जनवादी काव्यधारा का विकास :-

हिंदी कविता के लंबे इतिहास में विभिन्न युगों में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के उठते-गिरते और टकराते देखा जा सकता है और उसका विकासक्रम भी बिल्कुल समान गति से नहीं हुआ है, फिर भी हम जन-जीवन की पीड़ा और आनंद की काव्यमय अभिव्यक्तियों को क्रमबद्ध रूप से देखें और उन्हें अंतः संबद्ध करें तो जनवादी काव्यधारा के अविरल प्रवाह को कभी क्षीण, कभी मंद, कभी उत्ताल-नाना रूपों में परिलक्षित कर सकते हैं। यदि आदिकाल और रीतिकाल में प्रतिगामी प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा तो भक्तिकाल, नवजागरण काल, छायावाद, प्रगतिवाद जैसे कालों और आंदोलनों में जनवादी काव्यधारा का गौरवशाली विकास भी रेखांकित किया जा सकता है। उपर्युक्त कालों के साहित्य की विशेषता यह है कि इनके पीछे उस युग की केंद्रीय प्रेरणा या केंद्रीय सांस्कृतिक, सामाजिक आंदोलन अपनी पूरी शक्ति से कार्यरत रहा है, जैसे भक्तिकाव्य के पीछे भक्ति आंदोलन और नवजागरणकाल से लेकर प्रगतिवादी साहित्य तक के पीछे भारतीय स्वाधीनता संग्राम की आधारभूत भूमिका को साफ-साफ देखा जा सकता है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि हिंदी की जनवादी काव्यधारा भारतीय जनता के जीवन, संघर्ष और आंदोलनों की सुदृढ़ भूमि पर प्रवाहित होती रही है।

भक्तिकाल समूचे हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग है, पर इस स्वर्ण युग के निर्माण के पीछे सोने और चांदी की नहीं, बल्कि भारत की मिट्टी का हाथ है। भक्ति-काव्य को न तो भक्ति आंदोलन से जोड़े बिना समझा जा सकता है और न तो भक्ति आंदोलन को साधारण जनता से जोड़े बिना परखा जा सकता है। सामंती व्यवस्था-जिसका एक ठेठ भारतीय रूप था। वर्ण-व्यवस्था के प्रति साधारण जनता के विद्रोह की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भक्ति आंदोलन में हुई। नीची जातियों से आये संतों और भक्तों ने युग को नया नारा दिया 'जात-पाँत पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य का सर्वप्रमुख मूल्य है-भक्ति। भक्ति का ऊपरी आवरण धार्मिक

आध्यात्मिक है, पर उसकी आत्मा पूरी तरह मानवीय है। संतों की दृष्टि में इसका इतना महत्त्व है कि वे 'मुकुति निरादर भगति लुभाने' मुक्त या मोक्ष की भी उपेक्षा करते हैं और भक्ति को अपनाते हैं। वस्तुतः भक्ति का ही दूसरा नाम है-प्रेम। कहना न होगा कि कबीर से लेकर तुलसी तक जायसी से लेकर सूरदास तक सबकी वाणी का केंद्रीय स्वर है-प्रेम। इसके स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं: "ऊपर से देखने पर मालूम होगा कि यह प्रेम आध्यात्मिक है और ये कवि ईश्वर के ध्यान में मग्न हैं। वास्तव में 'प्रेम का रूप' ही आध्यात्मिक है, उसका 'अंतस' मानवीय है। मानव मात्र की समानता, मानव-प्रेम यही उनके प्रेम का मूल सूत्र है। इसीलिए मानवता को ऊंच-नीच में बांटने वाली जाति, वर्ण और धर्म के नाम पर मानव से घृणा सिखाने वाली विचारधारा का ये विरोध करते हैं। सूर और तुलसी में राम और कृष्ण की कथा के माध्यम से प्रेम और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है।"[67] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्तिकाल में ईश्वर की भक्ति के आवरण में मानव-प्रेम को ही अभिव्यक्ति मिली है। यह प्रेम घृणा की शक्तियों से संघर्ष करना सिखाता है। इसकी जीती-जागती मिसाल है मीरा, जो राजघराने की लोकलाज तोड़कर संत समाज में पूरे स्वाभिमान से जा बिराजी। यह प्रेम-तत्व एक ओर मोक्ष तक की उपेक्षा करता है, दूसरी तरफ राजाओं, संपत्तिशालियों, घमंडी सेनापतियों और तमाम धन-वैभव को धूल बराबर समझता है और चांडाल को भी गले लगाता है। वर्ण-व्यवस्था का खंडन करता है और उसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रीय प्रमाणों को भी नकारता है।

यह प्रेम-तत्व जीवन में त्याग, सहजता, क्षमा, करुणा आदि का प्रसार तो करता ही है। उपासना के क्षेत्र में हर किस्म के बाह्याचार या मिथ्याचार का जोरदार खंडन करता है। संतों ने वेद, वर्णाश्रम, तीर्थव्रत, मंदिर, मूर्तिपूजा का ही नहीं, कुरान, नमाज, अज्ञान, मस्जिद आदि पर भी निर्मम आघात किये। बाह्याचार के खंडन में कबीर का स्वर सबसे तीखा था। यद्यपि बाह्याचारों का खंडन भक्तिकाल से पहले सिद्धों और नाथपंथी योगियों ने भी किया था, पर संतों के पाखंड खंडन में जो प्रखरता और गंभीरता है, यह सिद्धों-योगियों की बानियों में नहीं है। संतों का पाखंड-विखंडन भक्ति के केंद्रीय विचार से अच्छी तरह संबद्ध है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में : "कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रंथि या

इनफीरियारिटी कांप्लेक्स पाया जाता है। वे मानो लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं, मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं।"[68]

भक्तिकाव्य की अंतर्वस्तु उसके रूपतत्त्व, कवि-स्वभाव आदि सबको प्रभावित करती है। पहली बार हम जनपदों की धरती को जनपदों की वाणी में बोलते सुनते हैं। भक्तिकाव्य के कथ्य का केंद्रीय स्वर है-भक्ति या प्रेम तो उसके रूप का केंद्रीय तत्त्व है-भाखा बहता नीर अर्थात् ब्रज, अवधी आदि जन- साधारण की भाषा। वर्णव्यवस्था के बंधन तोड़कर प्रेम की धारा उमड़ती है, इसी प्रकार 'संसकिरत' का कूपजल छोड़कर बहते नीर की तरह भाषा बह चलती है।

भक्ति की आंदोलनकारी वाणी प्रबंध-काव्यों में स्फुटित हुई और मुक्तकों में भी। दोहा, चौपाई, छप्पय, सवैया, कवित्त जैसे लोकप्रिय छंद अपनाये गये लेकिन सबसे अधिक ध्यान देने लायक है गीतों की विशाल पैमाने पर रचना और प्रचार 'रासो' वाले सामंती लड़ाकुओं की जगह राम की वीर मूर्ति प्रतिष्ठित हुई। कन्या हरण वाले श्रृंगार की जगह राधा-कृष्ण के उज्ज्वल प्रेम की प्रतिष्ठा हुई। निराकार और साकार ईश्वर के निर्गुण-सगुण रूपों को लेकर चलने वाली इस काव्यधारा ने न केवल उपासना की विविध पद्धतियों, पंथों और संप्रदायों में ऐक्य स्थापन किया बल्कि ऊँच-नीच, ब्राह्मण-अछूत, हिंदू-मुसलमान आदि के भेद मिटाकर मानव मात्र की एकता का मार्ग भी प्रशस्त किया।

1.8 जनवादी काव्य की महत्ता :-

जनवादी साहित्य इसी जनता के जीवन को उनके परिवेश और शोषण को सम्पूर्णता में प्रस्तुत करता है । जनवादी साहित्य जनता के बीच उनके जीवन की आशाओंआकांक्षाओं उनके - संघर्षो व स्वप्नों को वाणी देता है। यही कारण है कि जनवादी साहित्य में हम जनता की संस्कृति उसके कर्म और आचरण को सहज रूप देख सकते हैं। जनवादी काव्य की महत्ता को हम जब हम काल विभाजन तथा भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग, छायावादी जनकाव्य, प्रगतिवादी काव्य एवं समकालीन हिंदी काव्य के विकास स्वरूप का अवलोकन कर देखते हैं, तो हमें यह तथ्य स्पष्ट रूप से उजागर होता है कि जनवादी काव्य की महत्ता का स्वरूप के साथ विकासधारा में लेखकों का योगदान दिखाई

देता है। इसमें मुख्य रूप से निम्नांकित घटकों का समावेश किया गया है, जिससे जनवादी काव्य की महत्ता को समझने में आसानी हो सकें।

1.8.1 नवजागरण काल (भारतेंदु-युग तथा द्विवेदी-युग) :-

यद्यपि जनवादी काव्यधारा रीतिकाल में लोप नहीं हो गयी, उसे उत्तरकालीन भक्त-संतों की बानियों, रीतियुक्त कवियों की प्रेम-पीड़ा और नज़ीर अकबराबादी जैसे कवियों में देखा जा सकता है। यहाँ तक कि रीतिवादी कवियों में भी उसके कुछ छींटे देखे जा सकते हैं तथापि एक शक्तिशाली धारा के रूप में उसका पुनरुत्थान भक्तिकाल के बाद फिर नवजागरण काल में हुआ, जब न केवल कविता बल्कि समूचे भारतीय समाज के साथ-साथ समूचे भारतीय साहित्य में कायापलट हो रहा था। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में इस परिवर्तन को भारतीय नवजागरण से जोड़ा जाता है, जिसका सूत्रपात राजा राममोहन राय आदि के नेतृत्व में बंगाल में हुआ। इधर डॉ. रामविलास शर्मा ने नवजागरण की प्रादेशिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर विचार किया है और हिंदी नवजागरण के प्रारंभ को 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ा है। उनकी दृष्टि में 1857 हिंदी नवजागरण की पहली मंजिल, भारतेंदु युग उसकी दूसरी मंजिल और द्विवेदी-युग तीसरी मंजिल रही है।

भारतेंदु-युग को 1857 से जोड़ते हुए वे लिखते हैं - "भारतेंदु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर गदर से सामाजिक प्रगति नों को लक्ष्य करके, उन्हें संगठित और आंदोलित करने की दृष्टि से, जितना गद्य-पद्य लिखा गया है, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया। दूसरा प्रमाण यह है कि इस साहित्य का माध्यम संस्कृत-गर्भित भाषा नहीं है, जैसे बंगला साहित्य में है, वरन् वह शहरी बोल-चाल की भाषा है और जनपदीय उपभाषाओं से अपना नाता जोड़े हुए है।"[69]

भारतेंदुयुगीन कविता से पहले एक ओर भक्तिकाव्य की धारा थी, दूसरी ओर रीतिकाव्य की। भारतेंदुयुगीन कविता में रीतिधारा के विरुद्ध संघर्ष का सूत्रपात किया और भक्तिधारा के उज्ज्वल प्रेमतत्त्व को अपनाया और उसका विकास एक ओर ऊँची मंजिल पर ले जाकर किया जब कविता की विषयवस्तु के केंद्र में देशभक्ति को प्रतिष्ठित किया। देश की दीन दशा, देश की पराधीनता, देश की मुक्ति की तड़प, भारतवर्ष की उन्नति की चिंता-यह भारतेंदुयुगीन साहित्य का मूल विषय है। ब्रैडला स्वागत लिखते हुए भी कवि की दृष्टि देश की दुर्दशा की ओर लगी रहती है। वे

भारत की दीनता पर विलाप करते हैं, पर भारतेंदु युगीन कवियों की स्वाभाविक तेजस्विता तब दिखायी देती है जब वे अंग्रेजी राज, पुलिस, कानून आदि पर साधकर व्यंग्यों की बौछार करते हैं। इसका सबसे स्पष्ट रूप भारतेंदु की मुकरियों में दिखायी पड़ता है। भारतेंदु की कविता पर विचार करते हुए डॉ. हरदयाल ने लिखा है : "नवीन धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा' आदि नाटकों के भीतर आयी हुई काव्यान्तर्गत देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है... यह तो है ही, बहुत-सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरवगाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ-भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जनी हुई चिता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"[70] प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी 'तृप्यंताम' शीर्षक कविता में पराधीनता की पीड़ा, गरीबी, अत्याचार और आतंक के खिलाफ कड़वा व्यंग्य प्रहार किया है। 'प्रेमघन' ने भी अपनी कविता 'जीर्ण जनपद' में कचहरी की अन्यायपूर्ण व्यवस्था, पाखंडी वैष्णव, मौलवी और जनता की गरीबी के सीधे-सादे यथार्थ चित्र खींचे। इस प्रकार कविता ने नये विषयों की ओर और नये यथार्थवाद की ओर अपने पद बढ़ाये। हिंदी कविता ने भारतेंदु के स्वर में कहा : 'स्वत्व निज भारत गहै' और प्रतापनारायण मिश्र के स्वर में संदेश दिया : "सब तजि गहौ स्वतंत्रता मत चुप लातें खाव।" इस युग में कविता सचेत रूप से सामाजिक जागरण से जुड़ती दिखायी देती है।

1.8.2 कविता की भाषा के अंतर्गत खड़ी बोली :-

भारतेंदुयुगीन कविता में रीतिवाद को न केवल समस्यापूर्ति आदि की परंपरा ही दम तोड़ती दिखायी देती है बल्कि ब्रज-भाषा की रस-पगी माधुरी को छोड़कर खड़ी बोली में कविता लिखने का आंदोलन भी शुरू होता है। यद्यपि राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने कविता की भाषा ब्रजभाषा ही बनाये रखने की वकालत की, लेकिन भारतेंदु की 'निज भाषा उन्नति' के आदर्श का स्वाभाविक विकास दूसरी दिशा में हुआ। भारतेंदु ने 'दशरथ विलाप' शीर्षक कविता खड़ी बोली में लिखी बालमुकुंद गुप्त ने खड़ी बोली में काव्य रचना की। खड़ी बोली में कविता लिखने के अनेकों प्रयोग शुरू हुए और ये शुरुआती प्रयोग हिंदी कविता के अगले विकास के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए। इन प्रयोगों के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा

है : "खड़ी बोली में तब जो भी कविता लिखी गयी है, उसे पढ़ते हुए आज एक विचित्र आनंद का अनुभव होता है। एक नये माध्यम में महान लेखक अटपटा रहे हैं परंतु अतिशय सतर्कता के नीचे उन्होंने अपने-आपको दबा नहीं दिया। जो स्वच्छंदता उनके गद्य में है, उसकी छाप उनकी कविता पर भी है। उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने आंखों पर ब्रजभाषा-प्रेम की पट्टी न बाँधकर गद्यवादी भाषा में भी प्रयोग किये। उन प्रयोगों से नयी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त हुआ।"[71]

भारतेंदुयुगीन कवियों ने जो मार्ग प्रशस्त किया, उस पर चलकर श्रीधर पाठक,अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सियारामशरण गुप्त आदि को नयी पीढ़ी आगे आयी। रीतिकाव्य परंपरा के जो बचे अवशेष थे, उनके खिलाफ व्यवस्थित अभियान चलाते हुए द्विवेदीयुगीन कविता ने सबसे पहले विषयक्षेत्र का विस्तार किया। स्वातंत्र्य प्रेम, पराधीनता की पीड़ा और स्वाधीनता की पुकार कुछ और व्यापक हुई, जिसका प्रतिनिधि स्वर मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में गुंजित हुआ। इस समय की देश-चिंता और कविता का स्वभाव और स्तर इन पंक्तियों से अच्छी तरह समझा जा सकता है :

"हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज हम मिल कर समस्याएँ सभी।"[72]

लेकिन इस युग में देशभक्ति की व्यंजना केवल इतिवृत्तात्मक रूप में ही नहीं हुई बल्कि कलात्मक और मार्मिक रूप में भी शुरू हुई। इसका परिष्कृत रूप रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' आदि तीनों खण्ड काव्यों में दिखायी पड़ता है। रामनरेश त्रिपाठी के देशभक्ति विषयक काव्य वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए डॉ. रामचंद्र शुक्ल ने लिखा हैं “स्वदेश- भक्ति की जो भावना भारतेंदु के समय से चली आती थी, उसे सुंदर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठी जी ने ही प्रदान किया त्रिपाठी जी के उपर्युक्त तीनों काव्य देशभक्ति के भाव से प्रेरित हैं। देशभक्ति का यह भाव उसके मुख्य पात्रों को जीवन के कई क्षेत्रों में दिखायी पड़ता है-कर्म के क्षेत्र में भी, प्रेम के क्षेत्र में भी। वे पात्र कई तरफ से देखने में सुंदर लगते हैं। देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठी जी द्वारा प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं।”[73]

स्वतंत्रता की वाणी की अभिव्यक्ति का एक रूप था-भारत के अतीत का गौरव-गान। इसकी अभिव्यक्ति पौराणिक गाथाओं या नायकों के चरित को आधार बनाकर लिखे जाने वाले प्रबंधकाव्यों

में हुई। 'हरिऔध' ने कृष्ण-चरित को आधार बनाकर 'प्रियप्रवास' की रचना की। मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ वध', 'यशोधरा', 'साकेत', 'सिद्धराज', 'द्वापर' आदि की रचना की। नवजागरण के फलस्वरूप जो बुद्धिवाद का प्रकाश चतुर्दिक फैल रहा था, उसकी किरणें इन पौराणिक ऐतिहासिक काव्यों पर भी पड़ीं। गोवर्धन-धारण को चमत्कार के बजाय सामूहिक प्रयत्न की यथार्थ घटना के बतौर चित्रित किया गया। इसके अतिरिक्त उनमें जगह-जगह युगीन स्वाधीनता संग्राम जन्य नैतिक-सामाजिक मूल्यों की भी अभिव्यक्ति हुई। कृष्ण का समाज-हितकारी रूप चित्रित किया गया, राधा लोकसेविका के रूप में सामने आयी, अयोध्या के पुरवासियों ने राम के वन जाते समय सत्याग्रह का असफल प्रयोग किया, आदि-आदि। काव्य-परंपरा की उपेक्षित नारियों पर मैथिलीशरण गुप्त ने नयी दृष्टि डाली और उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया के रूप में प्रभावशाली नारी चरित्रों की सृष्टि की। 'हरिऔध' ने परित्यक्ता सीता की दीन-दशा पर दृष्टि डाली और संदेही वनवास' लिखा।

1.8.3 भारतेंदु युग तथा द्विवेदी-युग की काव्यगत उपलब्धियाँ :-

दयानंद के सुधार आंदोलन का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव इस युग की कविता पर दिखायी पड़ता है। श्रृंगार का उन्मुक्त चित्रण शायद ही कहीं मिले। अलबत्ता सामाजिक दायित्व और प्रेम के द्वंद्व का चित्रण मिलता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने जो आर्यसमाजी थे, सामाजिक कुरीतियों पर कटु प्रहार किये। इस दृष्टि से उनकी कविता 'गर्भरंडा रहस्य' अन्यतम है। इस युग की कविता में देशभक्ति का केवल उद्घोष ही नहीं हुआ है बल्कि देश जिनसे बनता है उन साधारण जनों के स्वेदकण और आँसू भी दिखायी देते हैं। इस दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त का 'कृषक ', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का 'कृषक कृंदन' और सियारामशरण गुप्त का 'अनाथ' महत्त्वपूर्ण रहे है। इनमें गुप्त-बंधु तो पक्के 'गांधीवादी है पर 'सनेही' जी क्रांतिकारी आंदोलनों पर भी नज़र रखते हैं और लेनिन पर भी कविता लिखते हैं। द्विवेदीयुगीन कविता ने खड़ी बोली को भाँज कर कविता के योग्य बनाया। छंदों के विविध प्रयोग किये गये। संस्कृत वर्णवृत्तों के साथ-साथ उर्दू लहर पर भी हाथ आजमाए गये। अतुकांत विधान के द्विवेदीयुगीन प्रयोगों ने मुक्त छंद के विकास का रास्ता साफ किया हैं।

इस युग की कविता का महत्त्व दर्शाते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है: "उनके (गुप्त जी के) समय की कविता अधिकतर समाजोन्मुख है। उसका उपयोगितावादी लक्ष्य स्पष्ट है। उसका

भावबोध अक्सर उथला, विचार-शक्ति क्षीण और भाषा असमर्थ जान पड़ती है। पर स्मरणीय है कि जिन अनेक विषयों पर द्विवेदीयुगीन कवियों ने रचनाएँ की हैं, उन्हीं पर छायावादियों ने और आगे चलकर प्रगतिवादियों ने भी कविताएँ लिखी हैं द्विवेदी-युग के कवियों की शैली ने बहुधा छायावादी कवियों को प्रभावित किया है। सनेही और मैथिलीशरण गुप्त की झलक जगह-जगह निराला की रचनाओं में मिलती है। यह शैली अतिशय लाक्षणिकता से पीड़ित नहीं है, उसमें तत्सम शब्दावली की अधिकता नहीं है, वह कवित्वपूर्ण शब्दों की आवृत्ति नहीं करती, उसका लक्ष्य पढ़े-लिखे लोगों को ही नहीं, अनपढ़ जनों को भी प्रभावित करता है।"[74]

1.8.4 छायावाद और जनवादी चेतना :-

इस प्रकार छायावादी काव्यधारा भी भारतीय जनता के मुक्ति संग्राम की ही वाणी है। स्वतंत्रता या मुक्ति की चेतना उसमें कई स्तरों पर और कई रूपों में व्यक्त हुई है। उसकी संश्लिष्टता को समझने के लिए छायावाद की वैचारिक पृष्ठभूमि को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। उसने स्पष्ट कहा है- 'मैंने मैं शैली अपनायी।' इस 'मैं' शैली के पीछे छायावादी कवि का पूरा भावबोध और आत्मचेतस व्यक्तित्व जाग्रत् और सक्रिय है।

डॉ. हरदयाल के शब्दों में: "कवि ने यह जो 'मैं' शैली अपनायी, वह केवल शैली भर नहीं है। इस निजता और आत्मीयता के पीछे आधुनिक युवक का पूरा व्यक्तित्व है जो कि सामाजिक स्वाधीनता चाहता है। यदि कहानी के पात्रों के माध्यम से वह अपनी बातें कह सकता तो अवश्य कहता, क्योंकि अभिव्यक्ति की यह नाटकीय प्रणाली चरित ओर अनुभवसिद्ध है। लेकिन उसे लगा कि अपनी बात निजी ढंग से ही वह अच्छी तरह कह सकता है। रीतिकाल के कवियों की रूढ़िगत तटस्थता' उसके लिए असह्य प्रतीत हो रही थी। पूर्ववर्ती कविता की निर्वैयक्तिकता की तुलना में यह वैयक्तिकता का आग्रह कितना बड़ा विद्रोह था, इसका अनुमान तत्कालीन पुराणपंथी पंडितों की आलोचनाओं से कुछ-कुछ हो सकता है।"[75] इस प्रकार वैयक्तिकता छायावाद में कोई प्रतिगामी मूल्य नहीं है बल्कि एक विद्रोही और क्रांतिकारी दृष्टिकोण है क्योंकि वह साहित्य में रीतिवादी परंपराओं से और समाज में सामंती रूढ़ियों और कुंठाओं से अविचल संघर्ष करता है।

1. आत्म-विस्तार :-

छायावाद की वैयक्तिकता 'अहं' के कौंधे में संकुचित नहीं है बल्कि कवि की समग्र चेतना के प्रभूत विस्तार का माध्यम है। 'कामायनी' में श्रद्धा मनु के आत्मसंकोच की वृत्ति पर चोट करती हुई कहती है : 'तपस्वी आकर्षण से हीन, कर सके नहीं आत्मविस्तार।' आत्म-विस्तार की इसी धारणा को निराला 'पंचवटी प्रसंग' में राम-सीता के समक्ष स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

"छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये
प्रेम का पयोनिधि तो उमड़ता है।
सदा ही नि.सीम भू पर।" [76]

यह 'निःसीमता' या 'असीमता'-जो हर छायावादी कवि में प्रायः मिलता है-आत्मप्रसार का ही माध्यम है। इस प्रकार छायावाद की वैयक्तिकता विराट के संस्पर्श से विभासित है।

2. छायावादी काव्यान्तर्गत नारी चेतना :-

छायावादी कवियों दृष्टि जब नारी पर पड़ती है तो वह भी बिलकुल नया रूप और व्यक्तित्व प्राप्त करती है। यहाँ नारी रीतिकाव्य की नारी से बिलकुल भिन्न है। छायावादी नारी का पूरा व्यक्तित्व मुक्ति की आंतरिक अभिलाषा से युक्त रहा है।

छायावादी काव्य की नारी-भावना का ऊँचा मूल्यांकन करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं: "इस तरह साहित्य में पहली बार स्त्री और पुरुष के बीच वैयक्तिक स्वच्छंद प्रेम का अभ्युदय हुआ। यह स्वच्छंद प्रेम व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ही अनिवार्य परिणाम तथा उसका आवश्यक अंग है। इसके फलस्वरूप पहली बार छायावादी कविता में नारी को प्रेयसी का ऊँचा आसन प्राप्त हुआ। 'प्रेयसि', 'प्रिये', 'प्रियतमे' और 'सखि' जैसे संबोधन जिस मात्रा में छायावादी कविता में व्यक्त किये गये, पहले शायद ही किये गये हैं।"[77]

छायावादी प्रेम-कविता में नैतिकता या कुंठा की कोई गाँठ नहीं मिलती, जैसी रीति-युग या द्विवेदी युग में मिलती है। प्रसाद -'कामायनी', निराला -'जुही की कली', 'प्रेयसी के प्रति', 'शक्तिपूजा' या 'सरोज स्मृति' या पंत और महादेवी वर्मा के प्रेम-गीत, इसमें हर कहीं नर-नारी संबंधों का

स्वाभाविक पुनीत सौंदर्य लहराता दिखाई देता हैं। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ. नामवर सिंह कहते हैं: "स्त्री-पुरुष के बीच प्रणय-संबंध के क्षेत्र में छायावाद ने परस्पर सहकारिता तथा स्वच्छंदता का सूत्रपात किया। प्रणय-संबंधी कविताएँ तो पहले से ही होती आ रही हैं, लेकिन छायावादी कविता में प्रणय का जो आवेगपूर्ण तथा प्रगाढ़ रूप मिलता है, वह अनूठा है। इसका मुख्य कारण यह है कि छायावादी प्रणय-भावना स्त्री और पुरुष दोनों के पारस्परिक मानस-द्वंद्व का परिणाम है। इस युग में स्त्री स्वातंत्र्य के कारण दोनों पक्षों को मुक्त हृदय से भाव-विनिमय तथा साहचर्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे प्रेम के पूर्ण विकास तथा उन्मुक्त अभिव्यक्ति के लिए द्वार खुल गया। एक ही कोटि की दो स्वतंत्र सत्ताओं के योग से प्रेम का अधिक गूढ़ और समृद्ध होना स्वाभाविक है।"[78] नर-नारी की प्रेम-भावना और सौंदर्य-चित्रण के अतिरिक्त छायावाद ने नारी के अन्य रूपों पर भी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डाली। महादेवी ने नारी-मन की पीड़ा की गूढ़ अभिव्यंजना की तो निराला ने 'तोड़ती पत्थर' लिखकर श्रमिक नारी की शक्तिमय सुन्दरता को प्रत्यक्ष किया। उन्होंने 'तुलसीदास' में प्रेरणामयी नारी का 'योगिनी' रूप दिखलाया, जिसकी लपटों में नारी-चित्रण की समस्त रीति-परंपरा ही भस्म होती दिखायी देती है : 'देखा, वामा वह न थी अनल प्रतिमा वह।'

3. जनवादी के स्वर :-

निराला की निगाह केवल भारत माता के देवी रूप पर ही नहीं है बल्कि वे पत्थर तोड़ने वाली मजदूरनी और 'दान' कविता के ढोंगी दंभियों के यथार्थ की ओर देखते हैं। दीन-दुखी भूखे-दूखे मनुष्यों को छोड़कर बानरों को पुए खिलाने वाले राम भक्त पर निराला ने कसकर व्यंग्य बाण बरसाये हैं। इसी यथार्थ दृष्टि की परिणति 'बादल राग' में क्रांति के खुले आह्वान के रूप में होती है :

"रुद्ध कोष है क्षुब्ध तोष
से लिपटे भी
आतंक-अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्रगर्जन से बादल
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं
जीर्ण बाहु है शीणं शरीर

तुझे बुलाता कृषक अधीर

ऐ विप्लव के वीर।"[79]

4. छायावाद की काव्यगत उपलब्धियां :-

इस प्रकार छायावाद की वैयक्तिक भावना और कल्पना शक्ति का विस्तार 'मैं' से लेकर 'पृथ्वी आकाश' तक, 'प्रिया' से लेकर 'तोड़ती पत्थर' तक, 'जागरण' से लेकर 'विप्लव के बीर' तक है। रहस्य, निराशा, दुःखवाद, पलायन और अतिशय कल्पना की प्रवृत्ति छायावाद के इन सशक्त स्वरों को कमजोर करती है पर यह छायावाद की प्रधान प्रवृत्ति नहीं है। छायावादी कवि भी 1930 के बाद अपनी इन सीमाओं को पहचान कर यथार्थ की कठोर धरती पर अपने डग बढ़ाते नजर आते हैं। वैसे इन सीमाओं के बावजूद छायावाद हिंदी कविता की, भक्ति-काल के बाद, सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में : "द्विवेदी युग की वैष्णवी श्रद्धा और सशंक नैतिकता के बदले पहले-पहल अविश्वास और मानवीय प्रेम और श्रृंगार के स्वर सुनायी पड़ते हैं, नैतिकता के विरोध ने उच्छृंखलता का रूप नहीं लिया। नये कवियों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उस सामाजिक स्वाधीनता की मांग की जिसे पिछले युग के सामाजिक बंधन दबाकर रखना चाहते थे।"[80] इन कवियों ने नये ढंग से प्रकृति का चित्रण शुरू किया, इस तरह की कविता को उन्होंने लक्षण ग्रंथों की सीमाओं से उबार लिया। प्रतीक रूप में भी प्रकृति का उपयोग किया गया, लेकिन पहले पहल हिंदी कविता में उसके यथार्थ चित्र देखने को मिले। सामाजिक रचनाओं में दलित वर्ग के प्रति भावुक सहानुभूति प्रकट की तो साथ-ही-साथ सामाजिक ढाँचा बदलने के लिए क्रांति की माँग भी की। रहस्यवादी काव्यान्तर्गत उन्होंने आनंद और प्रकाश में इष्टदेव की कल्पना की लेकिन अपने जीवन की दारुण व्यथा को भी वे भुला नहीं सके। छंद और भाषा में नये प्रयोग करके उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों को बता दिया कि हिंदी कविता में एक नये युग का आरंभ हो गया है। छायावादी कविता के प्रगतिशील मूल्यों का समसंकलन करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं: "छायावादी कविता की आत्मीयता, प्रकृति प्रेम, सौंदर्य-भावना, संवेदनशीलता, अथक जिज्ञासा, जीवन की लालसा; उच्चतर जीवन की आकांक्षा और इन सबके लिए संघर्ष करने की अनवरत प्रेरणा छायावादी कविता का स्थायी संदेश है। छायावाद हमें रसमग्न करके निष्क्रिय नहीं बनाता, बल्कि उद्बुद्ध करता है। वह हमारी भावनाओं को, व्यापक अनुभूति को गहरी और भावों को परिष्कृत तथा परिवर्तित करता है।"[81]

1.9 प्रगतिवाद बनाम जनवाद :-

यद्यपि प्रगतिवाद का संबंध 1936 के प्रगतिवादी लेखक संघटना की स्थापना से जोड़ा जाता है और उसे 1917 की रूसी क्रांति की सफलता के फलस्वरूप सारी दुनिया में शुरू हो रहे प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलनों के अंग के रूप में देखा जाता है और कुछ लोग तो उसे कम्युनिस्ट विचारधारा का साहित्यिक रूप मात्र मानते हैं लेकिन वस्तुतः वह भारतीय इतिहास और जनता की स्वाभाविक चिंता का ही विकास था। 1930 के बाद राजनीति में गांधीजी से मोहभंग, कांग्रेस के भीतर वामपक्ष का गठन आदि के साथ-साथ साहित्य में हम देखते है प्रेमचंद की यथार्थवादी कथाधारा का क्रमशः पैनापन, प्रसाद जी की 'तितली' और उनका 'यथार्थवाद' पर लेख, निराला जी का 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'देवी', 'चतुरी चमार' और महादेवी वर्मा के रेखाचित्र, पंत का 'रूपाभ'-संपादन आदि आचार्य शुक्ल की वस्तुनिष्ठ आलोचना-दृष्टि को भी इसके साथ जोड़कर देखें तो पता चलता है कि प्रगतिवाद इसी परंपरा का विकास है।

छायावाद मुख्यतः काव्य-आंदोलन था पर प्रगतिवाद समग्र साहित्यिक आंदोलन था। उसके पीछे कुछ निश्चित सामाजिक वैचारिक आदर्श थे। इसकी भावना को स्फुट करते हुए प्रगतिवादी लेखक संघटना के सभापति पद से मुंशी प्रेमचंद ने कहा था: "हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[82] प्रगतिवाद ने साहित्य के समक्ष यह जलता हुआ सवाल रख दिया-कस्मै देवाय हविषा विधेय? साहित्य किसकी सेवा करे? यह सामाजिक परोपकार का सवाल उठाकर प्रगतिवाद ने साहित्यकार के सामाजिक दायित्व को रेखांकित किया। सामाजिक सार्थकता साहित्य के मूल्यांकन की प्रमुख आधार बिंदु बन प्रगतिवाद ने मानव मात्र की सेवा करने वाले साहित्य को वर्ग आधार पर विभाजित किया। साहित्य या तो शासक वर्ग की सेवा करता है या शासित वर्ग की, या तो न्याय का पक्षधर होगा या अन्याय का, स्वतंत्रता का पक्षधर होगा या पराधीनता का। इस प्रकार प्रगतिवाद ने अमूर्त मानवतावाद के स्थान पर प्रेमचंद की राह पर चलते हुए नये यथार्थ मानवतावाद की प्रतिष्ठा की। उसने साहित्य को मनुष्य से, शोषित उत्पीड़ित जनता से, जनता के राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मुक्ति

संघर्षो से जोड़ दिया। प्रगतिवाद की इस मूल्य दृष्टि का प्रभाव कविता, कहानी, नाटक, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में पड़ा।

1. प्रगतिवादी कविता में जनवादी भावना :-

प्रगतिवाद ने कविता के विषय-क्षेत्र का विस्तार किया और 'अनंत' और 'असीम' पर टिकी निगाहों को भी बाध्य किया कि वे 'ग्रामवासिनी' भारत माता की और आंख खोलकर देखें। ग्राम जीवन की ओर प्रगतिवादी कविता का दृष्टिपात विस्मय-विमुग्ध न होकर यथार्थ-चेतस है। इसलिए उसमें ग्राम जीवन का सामंती शोषण, कठोर श्रम, कर्ज, बदहाली आदि की बदसूरत तस्वीरें भी साफ-साफ दिखायी देती हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने कृषक के बेटे की उत्तराधिकार- संपत्ति का ब्योरा दिया:

"जब बाप मरा तब यह पाया
भूसे कृषक के बेटे ने :
घर का मलबा, टूटी खटिया
कुछ हाथ भूमि-वह भी परती।
कंचन सुमेरु का प्रतियोगी
द्वारे का पर्वत घूरे का
बनिए के रुपयों का कर्जा
जो नहीं चुकाने पर चुकता।
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सो गुनी बाप से अधिक मिली।"[83]

इसी समय सुमित्रानंदन पंत ने 'ग्राम्या' में कृषक की अंधकार की गुहा-सरीखी आँखें देखीं। निराला ने कृषक जीवन और प्रतिरोध के जीवंत चित्र 'नये पत्ते' में अंकित किये। 'महगू महगा रहा' में महगू कांग्रेसी नेताओं की पोल ही नहीं खोलता बल्कि घिसी हुई क्रांतिकारी शक्तियों की ओर आशा भरी दृष्टि से देखता भी है। प्रगतिवादी कवि केवल सामंती शोषण के चित्र ही नहीं खींचता, वह इसे जड़ मूल से उखाड़ फेंकने के लिए सामंत-विरोधी जनक्रांति का आह्वान भी करता है :

"कुसंस्कृत भूमि पे कृषक की
धरती के पुत्र की

जोतनी है गहरी दो-चार बार दस बार
बोना महातिक्त वहाँ बीज असंतोष का
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रांति की।"[84]

2. प्रगतिवादी कविता में सर्वहारा वर्ग का स्थान :-

प्रगतिवादी कविता में कृषक ही नहीं, नये युग के नेता सर्वहारा के जीवन-संघर्ष की छवियाँ भी पहली बार अंकित हुई। पूँजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा की युद्ध घोषणा, उसके अनिवार्य विनाश की घोषणा के साथ में प्रकट हुई :

"तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।" [85]

पूँजीवाद के खिलाफ, पराधीनता के खिलाफ मजदूर वर्ग के बढ़ते हुए दृढ़ कदमों की पदचाप नरेंद्र शर्मा के ओजस्वी गीतों में सबसे अधिक प्रतिध्वनित हुई। उन्होंने पराधीनता की बेड़ियों को काट देने के लिए मजदूर वर्ग का आह्वान करते हुए गाया था :

"एक ओर जंजीर, दूसरी ओर पड़ी है तेग दुधारी
जो चाहे ले आगे आ तू
जो चाहे ले, हाथ बढ़ा तू
देखूं किसे गुलामी भाती और किसे आजादी प्यारी।"[86]

मजदूर वर्ग का सारा जीवन-चाहे फैक्टरी या मिलों में उत्पादन का जीवन हो या घरों मुहल्लों में परिवार और पड़ोसी का उसके मुक्ति संघर्ष से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। मजदूर वर्ग के घर पैदा होने वाला बच्चा केदारनाथ अग्रवाल के लिए साधारण बच्चा नहीं है, यह सर्वहारा वर्ग की संतान है इसलिए भाबी मुक्ति संघर्ष का वही विजेता योद्धा है :

"एक हथौड़े वाला घर में और हुआ
हाथी-सा बलवान जहाजी हाथों वाला और हुआ
सूरज-सा इनसान, तरेरी आंखों वाला और हुआ
माता रही विचार अंधेरा हरने वाला और हुआ
दादा रहे बिहार सवेरा करने वाला और हुआ

जनता रही पुकार सलामत लाने वाला और हुआ।

सुन लो री सरकार, कयामत ढाने वाला और हुआ।" [87]

प्रगतिवादी कविता ने सर्वहारा और कृषक के वर्ग चित्र तो अंकित किये ही, उन्होंने इन वर्गों के सशक्त व्यक्ति चित्र भी उपस्थित किये। नागार्जुन ने रिक्शा चालक के 'खुरदरे पैर दिखलाए, 'प्रेत का बयान' में दुखरन मास्टर की दुखभरी जिंदगी के अंधेरे कोने उजागर किये, केदारनाथ अग्रवाल ने 'चंदू चना चबेना खाता', 'चित्रकूट के बौड़म यात्री' में बुंदेली किसानों और कानपुरी मजदूरों के तेवर दिखलाए तो त्रिलोचन ने निरक्षर चंपा, अतवरिया और 'भोरई केवट के घर' का परिचय दिया। इस तरह प्रगतिवाद ने कविता में साधारण बहुजन की छवि प्रतिष्ठित की।

3. प्रगतिवादी कविता में राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मुक्ति की चेतना :-

प्रगतिवादी कविता में देश-विदेश के जनांदोलनों की धड़कनों की अनुगूंज भी सुनायी पड़ती हैं। मजदूरों की हड़ताल, कृषक आंदोलन, बंगाल का अकाल, नौसैनिक विद्रोह, तेलंगाना कृषक संग्राम आदि भारतीय इतिहास की ज्वलंत राजनीतिक घटनाओं ने प्रगतिवादी कविता पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। इतनी अधिक राजनीतिक कविताएँ पहले कभी न लिखी गयी थीं। प्रगतिवादी कवि ने एशिया और अफ्रीका सहित समस्त विश्व के जनगण के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षो का जायज़ा लिया, उनसे प्रेरणा ली, हिटलर के फासिज्म का बढ़-चढ़कर पर्दाफाश किया और उस विश्वव्यापी आतंक का मुंहतोड़ जवाब देने वाली रूसी लाल सेना की ऊर्जस्वित अभ्यर्थना की। प्रगतिवादी कवि भारत की मुक्ति के संघर्ष को विश्वव्यापी मुक्ति संघर्ष से जोड़कर देखता है। कवि त्रिलोचन का कथन है -

अपनी मुक्ति कामना लेकर लड़ने वाली

जनता के पैरों की आवाजों में मेरा

हृदय धड़कता है...। - त्रिलोचन

4. प्रगतिवाद: काव्यगत उपलब्धियाँ :-

सामाजिक परोपकार के प्रति सचेष्ट प्रगतिशील कवि ने अपनी काव्यवस्तु के अनुरूप ही कविता का बाह्य रूप भी संघटित किया। भक्तिकाव्य के बाद पहली बार भारतेंदुयुगीन अंदाज में कवि ने जनता की बोली-बानी में काव्य- रचना की। फलतः प्रगतिशील कविता खूब लोकप्रिय भी

हुई, खास कर नागार्जुन की। कविता की उत्कृष्टता और लोकप्रियता की समस्या को हल करने में इन कवियों ने जो उपलब्धियाँ हासिल कीं, वे बेहद मूल्यवान हैं। इस दिशा में चलकर लगभग सभी प्रगतिशील कवियों ने अपनी जनपदीय भाषाओं (अवधी, मैथिली, बैसवाड़ी आदि) में काव्य-रचना की। लोकछंदों के सफल प्रयोग किये गये। कविता ने शिक्षित जनों के घेरे से बाहर निकलकर लोक हृदय में स्थान पाने का प्रयत्न किया।

यद्यपि कभी-कभी अत्यधिक सतही नारेबाजी और प्रचारात्मकता ने कविता को आच्छादित कर लिया और इसके लिए प्रगतिवादी कविता पर भी गंभीर आरोप भी किये गये, फिर भी प्रगतिवादी कविता ही नहीं बल्कि समूचे प्रगतिशील आंदोलन के ऐतिहासिक महत्व को सबने स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस मत की ओर दृष्टिपात कर सकते हैं: "प्रगतिशील आंदोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति आंदोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखायी पड़ी थी जो समाज के नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।"[88]

1.10 समकालीन हिन्दी कविता में जनवादी काव्य दृष्टि :-

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद साहित्य के क्षेत्र में दो घटनाएँ घटती हैं- एक तो प्रगतिशील आंदोलन का आंतरिक और सांगठनिक विघटन तथा दूसरे, अज्ञेय के नेतृत्व में प्रगति-विरोधी प्रयोगवाद का वर्चस्व। प्रयोगवाद की शुरुआत पहले मात्र काव्य प्रयोग से हुई थी, लेकिन धीरे-धीरे इसने अपनी व्यवस्थित विचार-प्रणाली और प्रचार पद्धति अपनायी और प्रगतिवाद के विरुद्ध आक्रमण छेड़ दिया। इसका स्वरूप और चरित्र स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा : "स्वाधीनता प्राप्ति के उपरांत भारत में एक ओर अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग में भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुई। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में, नयी कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किये गये और कुछ सिद्धांतों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धांत और उनके हमले, वस्तुत: उस शीतयुद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लंदन और वाशिंगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व

मानववादी परंपरा से प्रेरणा न ग्रहण करके उन नये व्याख्याताओं ने उसकी अत्यंत प्रतिक्रियावादी विचारधारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आसपास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धांतों में शीत युद्ध की छाप है।"[89] इस प्रतिक्रियावादी अभियान की परिणति क्रमशः साठोत्तरी दिशाहीन अराजकतावाद में हुई, जिसे अकविता अकहानी का युग कह सकते हैं।

लेकिन स्वाधीनता के बाद साठोत्तरी अराजकतावाद तक के इस काल में प्रगति-विरोधी अभियान के वर्चस्व के बावजूद जनवादी चेतना और प्रगतिशील काव्यधारा सदा अंतःसलिला के रूप में बरकरार रही। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शंकर शैलेंद्र आदि सभी प्रगतिशील कवि इस अवधि में भी रचनारत रहे बल्कि अपनी महत्त्वपूर्ण कविताएं इन्होंने इसी काल में लिखीं। और सबसे आगे बढ़कर इस पूरे युग में धारा के विरुद्ध मुक्तिबोध आजीवन संघर्ष करते रहे और इस संघर्ष में शमशेर बहादुर सिंह का भी योगदान कम नहीं। इसके अतिरिक्त नयी कविता के रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह आदि में कुछ ज्वलंत तत्त्व पहले से ही थे जिनका आगे चलकर विस्मयकारी विकास हुआ।

स्वाधीनता के बाद अग्रचेता कवियों को जो पहली अनुभूति स्फुरित हुई, वह बहुत कुछ स्वाधीनता के स्वप्न भंग और गद्दीनशीन सरकार के पर्दाफाश से पैदा हुई थी। तेलंगाना कृषक आंदोलन की रोशनी में नागार्जुन ने देखा था, 'पहचाना अब, चोर-चोर सब ये मौसेरे भाई हैं।' उन्होंने लक्षित किया कि यह गठबंधन राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है :

"अंग्रेजी-अमरीकी जोंकें, देशी जोंकें एक हुई
नेताओं की नीयत बदली, भारतमाता टेक हुई।"[90]

मजदूरों के कवि शंकर शैलेंद्र ने भी सरकार का अहिंसावादी खोल उतारते हुए उसका असली रूप उजागर किया और बताया कि इस शासन में रुपया और पौंड का समझौता है और वह समझौता भी असमान है क्योंकि रुपया पौंड के पीछे चल रहा है, उस पर निर्भर है :

"पदवी बदल गयी है किंतु निजाम वही है।
थका पिसा मजदूर वही, दहकान वही है।
कहने को भारत पर हिंदुस्तान वही है।
छापा बदला किंतु वही सिक्का चलता है।

घटे पौंड की पूंछ पकड़ रुपया चलता है।" [91]

उन्होंने कांग्रेसी शासन का असली रूप उजागर करने के लिए भगतसिंह के प्रतीक का बड़ा सशक्त उपयोग किया। स्वाधीनता के पहले विद्रोह और समझौते की जो अलग-अलग धाराएं थीं, वे स्वाधीनता के बाद कांग्रेस के गद्दी पर बैठते हो और स्पष्ट हो गयीं और शंकर शैलेंद्र ने कल्पना की कि अगर भगतसिंह आज होते तो उन्हें भी फांसी पर चढ़ा दिया जाता :

"भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की।
देशभक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फांसी की।"[92]

यहाँ 'आज भी' और 'देशभक्ति' द्वारा शंकर शैलेंद्र ने कांग्रेसी शासन की खोल में छिपे अंग्रेजी राज के अत्याचार को किस तरह प्रत्यक्ष कर दिया है, यह ध्यान देने योग्य है।

इसी क्रम में आगे चलकर नागार्जुन ने अपने व्यंग्य बाण तीखें किये और देश के लगभग हर महत्त्वपूर्ण मोड़ पर वे अन्याय, तानाशाही, भ्रष्टाचार का भाँडा फोड़ते रहे। अग्रवाल और त्रिलोचन ने भी राजनीतिक कविताएँ लिखी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि कुंठा और अनास्था के प्रचार की आंधी में भी इन कवियों ने मानव जीवन के प्रति विश्वास और आस्था को ज्वाला कभी बुझने न दी। स्वाधीनता और सच्चे जनतंत्र की आकांक्षा और माँग को लेकर जब भी कोई आन्दोलन उठा, इन कवियों ने उसका आगे बढ़कर स्वागत किया।

मुक्तिबोध इसी 'अंधेरे में' कठोर और निर्मम आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया से गुजरते हैं और इसीलिए उनकी पारदर्शिनी दृष्टि चांदनी के जाल को भेदकर देख लेती है। मुक्तिबोध अपने समकालीन व्यक्तिवादी आंदोलन का संबंध सीधे पूंजीवाद से जोड़ते हैं और उसके खिलाफ बड़े होते हैं -

"कविता में पहले की आदत नहीं पर कह दूं
वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को।" [93]

दरअसल मुक्तिबोध का व्यक्ति-मन समाज-सत्य के विरोध पर नहीं बल्कि उसकी अपेक्षा में अस्तित्वमान है और इसीलिए वे समाज को भीड़ नहीं समझते। व्यक्ति की स्वाधीनता सिर्फ व्यक्ति के स्तर पर लड़कर नहीं पायी जा सकती। व्यक्ति का जीवन, दुःख और मुक्ति सब कुछ समाज से जुड़ा हुआ है इसीलिए जनता के प्रति उनके मन में उपेक्षा और तिरस्कार का भाव नहीं, श्रद्धा और आदर का भाव है -

"अरे जन संग ऊष्मा के बिना
व्यक्तित्व के स्तर जुड़ नहीं सकते
प्रयासी प्रेरण के स्रोत, सक्रिय वेदना की ज्योति
सब साहाय्य उनसे लो
तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी
कि तद्गत लक्ष्य से ही हृदय के नेत्र जागेंगे
...अपनी मुक्ति के रास्ते
अकेले में नहीं मिलते।"[94]

अपनी वर्ग स्थिति और जनता की सामाजिक शक्ति और चूलिका का हमेशा अनुचिंतन करते रहने के कारण मुक्तिबोध की कविता में व्यक्तित्वांतरण की समस्या सर्वाधिक महत्त्व धारण कर लेती है। निम्न मध्यवर्ग का व्यक्ति पूँजी के आकर्षणों पर पराये विचारों के जाल को छिन्न-भिन्न करके, अपनी वर्ग-सीमा का अतिक्रमण करके, कैसे सर्वहारा वर्ग से एकरूप हो, यह मुक्तिबोध की चिता का केंद्र है। उनकी समूची काव्य-प्रक्रिया लगभग इसी चिंता-प्रक्रिया से गुजरती है। इसे रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक ने मुक्तिबोध के विभाजित व्यक्तित्व का परिणाम बतलाया है। व्यक्तित्वांतरण की कठिनाई उनके यहाँ इतनी जटिलता और तीक्ष्णता से विवेचित हुई है कि शर्मा जी ने उसे सामान्य मनोदशा का विक्षेप तक कह डाला है। दरअसल यह मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष को केंद्रीय पीड़ा है जो बड़ी ईमानदारी और तड़प के साथ फूट पड़ती है-

"अब तक क्या किया
जीवन व्यर्थ जिया।"[95]

वे इसी समस्या की उलझनों में ही फँसकर नहीं रह जाते बल्कि जनता की अपार शक्ति पर भरोसा करते हैं और बड़ी बेचैनी से पूछते हैं कि क्रांति कब होगी :

"सामने है प्रश्न
क्या होगा कहाँ किस भाँति
मेरे देश भारत में
पुरानी हाथ में से
किस तरह आग भड़केगी
उड़ेगी किस तरह भक् से।"[96]

ये क्रांतिकारी भविष्य के सुंदर सपने भी देखते हैं और ये सपने केवल सपने नहीं हैं बल्कि इनके पीछे 'मुक्तिकामी लोक सेनाओं' के संघर्षों का ज्वलंत यथार्थ भी है:

"जगत् के संवेदनों से आगमिष्यत् के
सही नक्शे बनाता हूँ।
मुझे मालूम
अनगिन सागरों के क्षुब्ध कूलों पर
पहाड़ों-जंगलों में मुक्तिकामी लोकसेनाएँ
भयानक वार करतीं शत्रु-मूलों पर।"[97]

इन्हीं क्रांतिकारी अनुभूतियों की रोशनी में वे व्यवस्था का खूंखार चेहरा देखते हैं। 'अंधेरे में' कविता में वे व्यवस्था का जो फासिस्ट चरित्र और चित्र खींचते हैं, वह बेहद त्रासकारी और समूची हिंदी कविता में बेमिसाल है और उसकी पारदर्शिता का प्रमाण तो यही है कि जो तानाशाही 1975 में भारतीय जनता ने पहली बार देखी और झेली उसका पूर्वगामी चित्र मुक्तिबोध 1964 में ही खींच चुके थे।

मुक्तिबोध की कविता की असंगतियों या कमियों के बावजूद उनके महत्व का मूल्यांकन करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं- "मुक्तिबोध को उनको कविताओं से अलग करके देखना संभव नहीं है। वे मूलतः अपने ही संघर्ष को, अपने अनुभवों को, अपनी समस्याओं को, कविता में चित्रित करते हैं। ये समस्याएं निम्न मध्यम वर्ग को छोड़कर अन्य वर्ग का साथ देने की ही नहीं हैं,

इनमें मुक्तिबोध की अपनी मानसिक उलझनें, मन की असामान्य दशा भी शामिल है। भारी उलझनों के बीच मुक्तिबोध हथियार डालकर बैठ नहीं जाते। विभिन्न स्तरों पर वह निरंतर संघर्ष करते हैं और आत्म-केंद्रित होते हुए भी वह समाज को आंखों से ओझल नहीं होने देते। उनकी स्वप्नशीलता और प्रतीक योजना यथार्थ चित्रण को एक हद तक कमजोर करती है किंतु उनकी कला विकसित हो रही थी और वह उसके विकास के लिए निरंतर प्रयत्नशील थे। अभिव्यक्ति उनके लिए सबसे पहले काव्य-संबंधी अभिव्यक्ति है। उसे वह खोज रहे हैं क्योंकि कला का विकास अभी करते जाना है। मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद से यह सीखा कि पूँजीवादी समाज व्यवस्था को बदले बिना, क्या निम्न मध्यवर्ग और क्या श्रमिक वर्ग, इनकी मूल समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। समाज को बदलने के लिए संघर्ष आवश्यक है, वह उनकी कविताओं से स्पष्ट है किंतु इस संघर्ष को चलाने के लिए एक क्रांतिकारी पार्टी का संगठन आवश्यक है, यह स्पष्ट नहीं है। उनके काव्य नायक निम्न मध्य वर्ग के होते हैं किंतु उनके व्यक्तित्व को बदलने का काम मजदूर करते हैं। मुक्तिबोध यहाँ मार्क्सवाद की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करते, उन सीमाओं के भीतर रहते हुए सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका वह स्वीकार करते हैं। यह एक रोचक बात है कि मुक्तिबोध की कविता में जहाँ भी मजदूर दिखायी देते हैं वहाँ उनके लिए न तो आत्म-निर्वासन जैसी समस्या है, न व्यक्तित्व-विभाजन की समस्या है, न व्यक्तित्व के रूपांतरण की समस्या है। मुक्तिबोध के लिए मजदूर वर्ग एक स्वस्थ वर्ग है जिसमें मानसिक और शारी- रिक दोनों प्रकार की शक्ति है।"[98]

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद प्रगति-विरोध की आंधी के खिलाफ मुक्तिबोध सचमुच एक 'जवाबी गदर' नायक सरीखे मालूम पड़ते हैं। उन्होंने हिंदी कविता की जनवादी धारा को और प्रखर किया, इसमें संदेह नहीं। इसलिए कहना न होगा कि सत्तर के बाद नये उभार के साथ ही मुक्तिबोध चर्चा के केंद्र में आ गये।

1967 के नक्सलबाड़ी कृषक विद्रोह और नौ राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों के गठन के बाद जैसे राजनीति समान साहित्य में भी परिवर्तन दिखायी पड़ा। इसका अच्छा परिणाम हुआ-साठोत्तरी दिशाहीन अराजकतावाद का खात्मा और साहित्य में पुनरुत्थान प्रगतिवादी विचारधारा का रहा है। यह पुनरुत्थान कई स्तरों पर दिखायी पड़ा। एक ओर नागार्जुन, केदारनाथ, त्रिलोचन समान प्रगतिशील कवियों की पुरानी पीढ़ी इसे स्वर देती रही। नागार्जुन ने इसी अवधि में 'अब तो बंद करो हे

देवी यह चुनाव का प्रहसन' सीरीज की कविताएँ लिखीं और आगे चलकर 1974 के युवा आंदोलन में सीधे कूद पड़े। दूसरे स्तर पर वे कवि है जो प्रयोगवाद और नयी कविता की धारा से आये थे लेकिन नये उभार के साथ उनका भी स्वर बदला जैसे रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और केदारनाथ सिंह। इन कवियों में रघुवीर सहाय का स्वर कुछ पहले से ही राजनीतिक और आलोचनात्मक था। लोहिया की विरोधी राजनीति का निर्भीक स्वर उनकी कविता में यदा-कदा बड़े तीखेपन से व्यक्त होता रहा। लेकिन सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने बड़ी तेजी से विकास किया और उनका स्वर केवल भंडाफोड़ और विरोध तक सीमित न रहकर क्रांतिकारी जनांदोलनों के सीधे समर्थन में जा खड़ा हुआ जनवाद की व्यापक आकांक्षा सबसे अधिक गहराई के साथ सर्वेश्वर में प्रकट हुई। केदारनाथ सिंह ने कोमल गीतों से चलकर ऊबड़-खाबड़ रास्तों की ओर डग बढ़ाये और 'जमीन पक रही है' का अनुभव दर्ज करना शुरू किया। 'बुनाई का गीत' में तो क्रांति- कारी परिवर्तन की आकांक्षा गहरी बेचैनी और तड़प के साथ अभिव्यक्त हुई है। इस उत्थान का तीसरा और मुख्य स्तर वह है जहाँ नये कवियों की नयी बीड़ा उभरती दिखायी देती है-धूमिल सीलाधर जगूडी, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, विष्णु शर्मा, विजेंद्र, शानेंद्रपति, मालोक गोपाल आदि। इन कवियों की वस्तु और तेवर की नवीनता दूर से ही दिखायी देने सती है। व्यवस्था की पहचान और उसके खिलाफ विद्रोह की चेतना इनमें अधिक साफ और अधिक काम है। ये हिंदी कविता को एक नये ओज गुण से संपन्न करते हुए आक्रोश से चलकर क्रमशः गंभीर क्रांतिकारी दिशा की ओर कदम बढ़ाते हैं।

समकालीन कविता यह राजनीतिक तथा सामाजिक उथल-पुथल से सीधे प्रभावित है। इसलिए उसकी कुछ विशेषताओं और उपलब्धियों को बिलकुल राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं की तरह पहचाना जा सकता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है ग्रामोन्मुखता प्रयोगवाद से लेकर अकविता तक हिंदी कविता क्रमश: जीवन के एक संकीर्ण घेरे में सिमटती चली आयी थी और उसका वातावरण घिसे-पिटे शहरी माहोल तक सीमित हो गया था लेकिन 1967 के ऐतिहासिक मोड़ के बाद कविता सहसा भारत के सबसे बड़े यथार्थ की ओर विमान ग्राम्य क्षेत्र की ओर मुड़ गयी। फिर गाँवों की कड़वी सचाइयों की रोशनी में कहीं से एक-एक कर आजादी, संविधान, संसद, चुनाव, लोकतंत्र, समाजवाद, अहिंसा, सत्य आदि तमाम प्रतीकों और आदर्शों पर सवाल उठाने सगी। इतने जोर-शोर से इतने साफ और बेलीस ढंग से कवि ने व्यवस्था पर कभी सवाल नहीं उठाया था।

इसी प्रकार समकालीन कविता ने तत्कालीन उछाले गये नारों-जैसे 'गरीबी हटाओ' आदि के झूठ का भी पर्दाफाश किया। समकालीन कवि उठते हुए जनांदोलनों से डरता नहीं है बल्कि उनके स्वर में अपना तीचा स्वर मिला देता है। इस अवधि की राजनीतिक कविताओं की विशेषता यह है कि उनमें कवि का दृष्टिकोण और उनकी प्रत्यक्ष भागीदारी तक साफ-साफ दिखायी देती है। इसे कवि ने खुद अपने आचरण में भी उतारा। नागार्जुन और रेणु की अगुआई में अनेकों कवि और साहित्यकार 1974 के युवा आंदोलन में कूद पड़े। आपातकाल में उन्हें जैस-यात्रा भी करनी पड़ी। इन सब घटनाओं ने कवि स्वभाव और काव्य-रचना पर भी गहरा असर डाला। अब समकालीन कवि केवल क्रांति के स्वप्न नहीं देखता, न केवल क्रांति का आह्वान करता है बल्कि क्रांति की प्रक्रिया का भी वर्णन विमर्श करता है। धूमिल को जिस दूसरे प्रजातंत्र की तलाश थी, उस प्रजातंत्र के लिए तड़प और बेचैनी इधर की काव्यान्तर्गत और बढ़ी है।

गोरख पांडेय, उदय प्रकाश, अरुण कमल, मनमोहन आदि की जो नयी पीढ़ी आयी है वह समकालीन कविता की इन विशेषताओं को और भी परवान चढ़ा रही है। इधर की कविता में विशेष बात यह है कि राजनीतिक काव्यान्तर्गत आक्रोश और ललकार कम हुई है और गंभीरता और दायित्वपूर्ण ईमानदारी अधिक बढ़ी है। कवियों का विचारधारात्मक विकास और गहरा हुआ है। भावबोध का भी विस्तार हुआ है और राजनीतिक कविताओं के साथ-साथ प्रकृति और प्रेम की कविताएँ भी खूब लिखी जा रही हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इधर की कविता पूर्ववर्ती कविता की लटकेबाजी, मुहावरेबाजी और साठोत्तरी अराजकता के प्रभाव से मुक्त है। उसकी भाषा और उसका अंदाज उसकी अंतर्वस्तु की तरह ही स्पष्ट और आक्रामक है। उसका व्यंग्य भी सधा हुआ, आक्रामक किंतु गंभीर और सुविचारित है। उदाहरणार्थ गोरख पांडेय की ये पंक्तियाँ:

"आप पूंजी हैं लाभ हैं लूट हैं खसोट हैं
आप धौंस हैं धमकी हैं चोट हैं
आप शांति के समाजवादी कपोत हैं।
आप युद्ध के पोत हैं
आप नाना रूपधारी हैं हे प्रभु
आप महाबलशाली हैं हे प्रभु

हम आपकी कृपा से आजाद हैं

हम आपकी कृपा से बेबुनियाद हैं।"[99]

इधर की समकालीन कविता में कृषक आंदोलनों की धमक साफ सुनी जा सकती है। कविता ने अपना हृदय इन आंदोलनों की धड़कनों के साथ मिलाने की बराबर कोशिश की है। इसका प्रमाण है-इधर गीतों और लोकगीतों का बड़े पैमाने पर लिखा जाना। रमेश रंजक, नचिकेता, शांति सुमन, रामकुमार कृषक, महेश्वर, गोरख पांडेय आदि के गीतों की लोकप्रियता ने इस विधा को फिर जनता को सम्मान और स्नेह की अधिकारिणी बना दिया है।

निष्कर्ष :

इसमें हिंदी कविता के क्षेत्र में जनवादी काव्यधारा की महत्ता दिखाया गया है। हिंदी में जनवादी काव्यधारा का विकास भक्तिकाल से प्रारंभ होता है। भक्तिकाव्य की अंतर्वस्तु मानवीय प्रेम है। भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस स्वर्णयुग के निर्माण के पीछे सोने-चाँदी का नहीं बल्कि भारत की मिट्टी का हाथ है। मानवीय प्रेम वास्तव में जनवाद का ही एक उच्च रूप है जिसे विद्वानों के उद्धरणों द्वारा पुष्ट किया गया है। भक्तिकाल का जनवादी स्वरूप हमें जनपदीय कवियों की काव्यान्तर्गत प्राप्त होता है। जनपदीय संतों ने लोक धुनों पर आधारित अपनी काव्यान्तर्गत जनता के सुख-दु:ख के गीत गाये। भक्तिकाल के कवियों का सबसे बड़ा जनवादी प्रयत्न पूरे भारत को एक सूत्र में बांधना था जिसमें ये संत कवि काफी सफल हुए।

हिंदी साहित्य का नवजागरण काल (भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग) जनवादी काव्य का पुनरुत्थान था। हालांकि रीतिकाल में जनवादी काव्यधारा का पूर्णतया लोप नहीं हुआ था, हाँ, जनवादी काव्यधारा सामंतों के काव्य-प्रेम के कारण कुछ क्षीण अवश्य हो गयी थी। भारतेंदुयुगीन जनवादी काव्य में देश-भक्ति और यथार्थवाद, एक ही सर्वमान्य भाषा खड़ी बोली, स्वातंत्र्य प्रेम आदि प्रवृत्तियाँ स्पष्टरूपेण दिखायी पड़ती है। भारतेंदु जी की मुकरियों में जनवादी स्वरूप साफ-साफ परिलक्षित होता है। साम्राज्यवादी अंग्रेजी का विरोध, पुलिस, घूसखोर अफसर, दूषित न्याय-व्यवस्था, अमीरों की मनमानी, शोषित पीड़ित जनता के दु:ख-दर्द की अभिव्यक्ति इनमें खूब हुई है।

देश-प्रेम एवं स्वातंत्र्य प्रेम द्विवेदी युग की जनवादी कवियों में काफी सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है। सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार इस युग के काव्यान्तर्गत बड़े सशक्त ढंग से

अभिव्यक्त हुआ है। द्विवेदी युग की जनवादी काव्यान्तर्गत मात्र देशभक्ति का उद्घोष ही नहीं हुआ है बल्कि देश जिनसे बनता है उस सर्वसाधारण जनता के स्वेद कण एवं आँसू भी इन काव्यान्तर्गत दिखायी पड़ते हैं।

छायावादी काव्य पर सुखांतक काव्यमय विचारधारा होने का आरोप लगाया जाता है, जो कुछ हद तक सही भी है लेकिन सामाजिक यथार्थ और जनवादी भावनाओं की जितनी सशक्त अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में दिखलायी पड़ती है, इसके पूर्व कभी नहीं दिखलायी पड़ी। स्वतंत्रता और मुक्ति की चेतना छायावादी काव्य में कई स्तर पर दिखाई पड़ती है। छायावादी कविता भारतीय जनता के मुक्ति संग्राम की ही घनीभूत पीडायुक्त वाणी है। प्रसाद के नाटकों के देशभक्ति गीत, निराला की दृष्टि जिसमें वह तोड़ती पत्थर, दीन-हीन भिक्षुक, कैप्टलिस्ट, गुलाब आदि अनेकों भरे पड़े हैं, कवि की जनवादी चेतना में ढलकर विप्लव के स्वर समान उनकी कविता द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं।

यद्यपि प्रगतिवाद का संबंध, 1936 में हुए प्रगतिवादी लेखक संघटना की स्थापना के साथ जोड़ा जाता है और उसे 1919 की रूसी क्रांति की सफलता के फलस्वरूप सारी दुनिया में शुरू हो रहे प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलनों के अंग के रूप में देखा जाता है और कुछ लोग तो उसे कम्युनिस्ट विचारधारा का साहित्यिक रूप मात्र मानते हैं लेकिन वस्तुतः वह भारतीय इतिहास और नव-जागरण की स्वाभाविकता का ही विकास था।

प्रगतिवाद ने कविता के विषय क्षेत्र का विस्तार किया और अनंत और असीम पर टिकी निगाहों को भी बाध्य किया कि वे ग्रामवासिनी भारत माता की ओर भी आँखें खोलकर देखें। रामधारी सिंह दिनकर, नागार्जुन, केदारेनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शील, शिवमंगल सिंह सुमन, शमशेरबहादुर सिंह, विजय देवनारायण साही, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय दुष्यंत कुमार आदि कवियों ने कृषकों, मजदूरों, निम्न मध्यवर्गीय जनों के दुःख-सुख का अपनी काव्यान्तर्गत चित्रण किया।

साठोत्तरी जनवादी कविता को हालांकि अज्ञेय के रूपवादी जनविरोधी प्रयोगवादी खेमे का सामना करना पड़ा लेकिन स्वाधीनता के बाद साठोत्तरी अराजकतावाद के इस काल में जनविरोधी अभियान के वर्चस्व के बावजूद जनवादी चेतना और जनवादी काव्यधारा सदा अंत:सलिला के रूप

में बरकरार रही। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना एवं धूमिल जैसे जनवादी कवियों ने अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं जन- वादी तेवर की कविताएँ इसी दौर में लिखीं। जनवादी कविता की यह क्रमशः विकसती धारा वर्तमान समय में लीलाधर जगूड़ी, ज्ञानेंद्रपति, अरुण कमल, कुमारेंद्र पारसनाथ, गोरख पांडेय, आलोकधन्वा, उदय प्रकाश आदि युवा कवियों के काव्यान्तर्गत निरंतर पुष्ट होती जा रही है।

****

संदर्भ संकेत :-

1. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 33

2. धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य कोष, भाग-एक, पृ. 333

3. कुंवरपाल सिंह, उत्तरार्द्ध, अंक 20 आक्टू. 1682, पृ.108

4. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 59

5. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग-1, पृ.1206

6. हिंदी साहित्य भाग-1, पृ. 247

7. संपा. आई. फोलोव 'डिक्शनरी ऑफ फिलासफी', पृ. 81-82

8. डॉ. शिव कुमार मिश्र, उत्तरार्ध अंक 20 अक्टू.1982, पृ. 21

9. डॉ० रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ. 12

10. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, उत्तरार्द्ध, जनवादी साहित्य विशेषांक, पृ. 87

11. चंद्रबली सिंह, नयापथ, जुलाई-सितंबर 1986, पृ. सं. 47

12. अज्ञेय, तार सप्तक की भूमिका से, पृ.88

13. नरेंद्रसिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ.89

14. वही, पृ. 119

15. 'हरिजन', अंक 20 अप्रैल, 1940, पृ. 33

16. 'हरिजन', अंक 13 मार्च, 1937, पृ. 32

17. डॉ. धीरेंद्र मोहन दत्त 'महात्मा गांधी का दर्शन, पृ. 103

18. वही, पृ. 103

19. 'माडर्न रिव्यू' (अक्तूबर, सन् 1953), पृ. 413

20. डॉ० राममनोहर लोहिया: 'भारत में समाजवाद' (बुकलेट), पृ. 1

21. वही, पृ. 2

22. संपा. ओंकार शरद 'लोहिया के विचार', पृ. 66

23. वही, पृ. 67

24. वही, पृ. 70

25. वही, पृ. 70

26. वही, पृ. 80

27. वही, पृ. 83

28. वही, पृ. 84

29. वही, पृ. 84

30. वही, पृ. 89

31. वही, पृ.90

32. वही, पृ. 91

33. वही, पृ. 92

34. आचार्य नरेंद्रदेव: 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ. 267

35. वही, पृ. 273-274

36. वही, पृ. 280

37. वही, पृ. 282-283

38. वही, पृ. 284

39. विनोद भारद्वाज (संपा.) मेरे साक्षात्कार, पृ. 4

40. हिंदी साहित्य कोश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 258

41. वही, पृ. 258

42. डॉ. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ. 221
43. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, पृ. 36
44. माओ जे. दुंग, कला और साहित्य, पृ. 29
45. माओ-जे. दुंग (अनु. नरेश नदीम), कला और साहित्य, पृ. 31
46. लेनिन ग्रंथावली खण्ड- 2, पृ. 117
47. माओ-त्से-दुंग, (अनु. नरेश नदीम) कला और साहित्य, पृ. 35-36
48. वही, पृ. 40
49. वही, पृ. 37
50. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली, पृ. 265
51. संपा. नामवरसिंह आलोचना, त्रैमासिक, जनवरी-जून 1981, पृ. 14
52. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, राजकमल प्रकाशन , पृ. 44
53. वही, पृ. 32
54. डॉ. रामनारायण शुक्ल, जनवाद समझ और साहित्य, पृ. 14
55. संपा. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली- खण्ड- 5, पृ. 76
56. हिंदी साहित्य कोश, पृ. 257
57. संपा. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 76
58. रामनारायण शुक्ल, जनवादी समझ और साहित्य, पृ. 18
59. संपा. कुंवरपाल सिंह, नमिता सिंह, वर्तमान साहित्य पत्रिका, संपादकीय, अंक फरवरी 2008, पृ. 80
60. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, पृ. 44
61. वही, पृ. 275
62. डॉ. इन्द्रबहादुर सिंह, जनवादी समीक्षा दृष्टि और जनवादी रचनाकार, पृ. 24
63. चंद्रभूषण तिवारी, आलोचना की धारा, पृ. 39
64. वही, पृ. 40
65. संपा. कुंवरपाल सिंह, साहित्य और राजनीति, पृ. 186

66. संपा. हिंदी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे, साठोत्तरी कहानी और जनवादी चेतना-लेख, पृ. 27

67. डॉ. रामविलास शर्मा, 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', पृ. 95

68. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर', पृ. 165

69. डॉ. रामविलास शर्मा, 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ. 12

70. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 138

71. वही, पृ. 257

72. वही, पृ. 266

73. रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 314

74. डॉ. रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', पृ. 350

75. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, पृ. 20-21

76. वही, पृ. 48

77. वही, पृ. 53

78. वही, पृ. 59-60

79. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 91

80. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, पृ. 54

81. वही, पृ. 156

82. डॉ. शिवकुमार मिश्र, 'प्रगतिवाद', पृ. 17

83. वही, पृ. 54

84. वही, पृ. 72

85. वही, पृ. 93

86. वही, पृ. 115

87. सुरेंद्र प्रसाद, हिंदी की प्रगतिवादी कविता, पृ. 45

88. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास', पृ. 95

89. मुक्तिबोध, नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ. 37

90. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 143

91. वही, पृ. 210

92. वही, पृ. 216

93. मुक्तिबोध, अंधेरे में, पृ. 18

94. मुक्तिबोध, चकमक की चिंगारियाँ, पृ. 21

95. मुक्तिबोध, अंधेरे में, पृ. 18

96. वही, पृ. 23

97. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 59

98. डॉ. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद', पृ. 2341

99. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 121

****

द्वितीय अध्याय

त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में आधुनिक बोध

2.1 आधुनिकता से अभिप्राय :-

साहित्य के इतिहास में काल का सीमांकन सबसे अधिक जटिल समस्या है। किसी कालखंड का आरंभ किस समय से होता है, इसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में नहीं बताया जा सकता। एक कालखंड दूसरे कालखंड से अपने बदलाव के कारण अलग होता है। बदलाव की प्रक्रिया तो अरसे से चलती दहती है, पर नये कालखंड का निर्धारण तब होता है जब बदलाव के चित्र हमारी आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों, काल-रूपों तथा भाषा में स्पष्टतः दिखायी देने लगते हैं। इसलिए साहित्येतिहास के लेखन में जो काल-निर्धारण किया जायेगा, यह लचीला होगा। हिंदी-साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के विकास का क्रम एक शताब्दी पहले से ही प्रारंभ हो गया था, बदलाव के स्पष्ट चिह्न उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में दिखायी पड़ने लगे थे। संयोग है कि हिंदी-साहित्य में आधुनिक जीवनबोध के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म उन्नीसवीं शती के ठीक मध्य में सन् 1850 में हुआ। अतः इतिहास-लेखकों ने इस वर्ष को ही हिंदी आधुनिक साहित्य के आरंभ का वर्ष मान लिया। किंतु इतिहास की गतिमानता या बदलाव में यह वर्ष स्वयं किसी तरह की भूमिका नहीं अदा करता। इतिहास के काल-विभाजन की रेखा कम-से-कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टतः अलग करने वाली तथा इस अलगाव के लिए स्वयं भी बहुत कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। यदि सन् 1857 को आधुनिक काल का प्रारंभिक बिंदु मान लिया जाये, तो उपर्युक्त दोनों पूरी हो जाती है। सन् सत्तावन दो विरोधी ताकतों की टकराहट का काल था- सामंतवादी और पूंजीवादी सामंतवादी शक्तियां अपनी सारी ताकत लगा कर सदा के लिए समाप्त हो गयीं। सामंतवाद की संपूर्ण संभावनाएं ख़त्म होने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नये सिरे से सोचना शुरू किया और अंग्रेज शासकों ने भी इस देश की परंपरा को समझ कर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नवीनीकरण किया।

2.1.1 नामकरण :-

'आधुनिक' शब्द दो अर्थो मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की सूचना देता है। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल में कला और साहित्य अपने-अपने कथ्य, अलंकृति और शैली में एकरूप हो गये थे। वे घोर शृंगारिकता के बंधे घाटों से बह रहे थे। न छंदों में वैविध्य था और न विन्यास (डिक्शन) में एक ही प्रकार के छंद,एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल में बंधे हुए घाट टूट गये और जीवन को धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा।

'आधुनिक' शब्द में जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, वह है- इहलौकिक दृष्टिकोण धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नये दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक ज्ञाताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिंताधारा इहलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गयी ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली।

2.1.2 उपविभाजन :-

डॉ. नगेन्द्र ने आधुनिक काल का जो उप-विभाजन किया है, वह एकसूत्रता के अभाव में विसंगतिपूर्ण हो गया है। उन्होंने आधुनिक काल को दो खंडों में बांटा है- गद्य-खंड और काव्य खंड। ये दोनों खंड एक-दूसरे से इतने पृथक् हैं कि इनमें एकतानता नहीं आ पाती। दोनों खंडों को दो-दो प्रकरणों में बांटा गया है। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा गद्य और खड़ीबोली-गद्य का विमर्श है। दूसरे प्रकरण में गद्य साहित्य का आविर्भाव विश्लेषित है। इसे फिर तीन उत्थानों में विभाजित किया गया है-प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालखंड में भी दो प्रकरण हैं- पुरानी काव्यधारा और नयी धारा।

नयी धारा के भी तीन उत्थान हैं- प्रथम, द्वितीय और तृतीय। शुक्ल जी के गद्य-खंड और काव्य-खंड एक-दूसरे से सर्वथा अलग हैं, एक की प्रवृत्ति का दूसरे की प्रवृत्ति से कोई तालमेल नहीं है। ऐसा लगता है कि मानो गद्य खंड में एक प्रवृत्ति क्रियाशील है, तो काव्य- खंड में दूसरी। उदाहरणार्थ, काव्य-खंड के दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (काव्य में जिसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया जाता है) तथा गद्य-खंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में कोई एकरूपता निरूपित नहीं की जा सकी है। इस खंड दृष्टि के कारण इतिहास का नैरंतर्य ओझल हो गया है। शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्ल जी का अनुगमन किया।

आधुनिक हिंदी साहित्य में छायावाद युग सर्वमान्य हो गया है। इसको केंद्रवर्ती बिंदु मान कर इस काल का उप-विभाजन करना अधिक सुविधाजनक होगा। छायावाद काल के पूर्व हिंदी- साहित्य परिष्कार की दो मंजिलों से गुजर चुका था-पुनर्जागरण और सुधार राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद आदि के कारण जो पुनर्जागरण आया वह ऐतिहासिक तथ्य हो गया। इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य अपने नवीन पर्यावरण से जुड़ कर मध्यकालीन प्रवृत्तियों से पृथक् हो गया। अतः आधुनिक काल की पहली मंजिल को पुनर्जागरण-काल' कहना समीचीन है। दूसरी मंजिल पर साहित्यकार अपने कथ्य, रूपाकार और भाषा के सुधार। परिष्कार में संलग्न दिखायी पड़ते हैं। अतः इसे 'सुधारकाल' की संज्ञा दी जानी चाहिए। स्थूल रूप से छायावाद का समय सन् 1918 से 1938 तक माना गया है। इसके पश्चात् के साहित्य में प्रगतिधर्मी और प्रयोगधर्मी आंदोलन एक साथ चले इस काल को सन् 1938 से 1953 तक निर्धारित किया जा सकता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगधर्मिता से छुट्टी पा कर बदले हुए परिवेश से आत्यंतिक संपृक्तता के कारण नये लेखन का जो प्रयत्न दिखायी पड़ता है, उसे 'नवलेखन काल' की संज्ञा दी जा सकती है।

संक्षेप में, आधुनिक काल के उप-विभाजन का प्रारूप निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल)	1857-1900 ई.
2. जागरण सुधार-काल (द्विवेदी काल)	1900-1918 ई.
3. छायावाद काल	1918-1938 ई.

4. छायावादोत्तर काल

(क) प्रगति प्रयोग-काल	1938-1953 ई.
(ख) नवलेखन काल	1953 ई. से......

कोई भी बदलाव यों हो नहीं आता, बल्कि उसके कुछ कारण होते हैं। दो संस्कृतियों का अंतरावलंबन परिवर्तन के लिए उतना कारगर नहीं होता जितने समाज के बुनियादी ढांचे को बदलने काले आर्थिक कारण प्रभावशाली होते हैं। मुख्य कारण आर्थिक होता है, सांस्कृतिक कारण गौण होते है, पर इन दोनों को लाने का दायित्व जाने-अनजाने अंग्रेजों पर ही रहा। अतः आधुनिक काल की परिवर्तनमान प्रक्रिया को समझने के लिए इनका विमर्श आवश्यक है।

परिस्थितियां : -

1. राजनीतिक स्थिति:

हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ सन् 1857 में हुआ, पर भारतवर्ष के आधुनिक बनने की प्रक्रिया की शुरुआत एक शताब्दी पूर्व (1757 ई.) तभी हो गयी थी, जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में हराया था। सिराजुद्दौला की हार के बाद संपूर्ण बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। 1764 ई. में बक्सर के युद्ध में मुगल सम्राट शाह आलम भी पराजित हुआ, 1765 में कड़ा के युद्ध में उसकी रही-सही शक्ति भी समाप्त हो गयी। सम्राट ने अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों को बख़्श दी। किंतु संपूर्ण देश पर आधिपत्य जमाने के लिए अंग्रेजों को दो अन्य शक्तियों को पराजित करना शेष था। वे शक्तियां थी-मराठे और सिक्ख सिक्ख तो पंजाब की सीमा में थे, परंतु मराठों का प्रभाव बहुत व्यापक था। पारस्परिक फूट और संघर्ष के कारण असी (1803) और लासवारी (1803) के युद्धों में मराठे विजित हो गये और उनकी संघशक्ति समाप्त हो गयी। 1849 ई. में सिक्खों को पराजित करने के बाद संपूर्ण देश अंग्रेजों के अधीन हो गया। 1856 ई. में अवध भी अंग्रेजों राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस विजय के कारण अंग्रेजों का मदोन्मत्त हो जाना स्वाभाविक था। उनकी नीतियों से असंतुष्ट देशी राजाओं ने एकजुट हो कर 1857 ई. में व्यापक स्तर पर विद्रोह किया। फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त कर दी गयी और भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन गया। अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और

प्रशासनिक नौतियों में परिवर्तन किया। इस देश के लोग भी नये संदर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दु:ख के साथ पहली बार जुड़ा। यह प्रक्रिया भारतेंदु के समय में हुई, वह भी गद्य के माध्यम से आधुनिक जीवन-चेतना को चिनगारियां जैसी गद्य में दिखायी पड़ीं, वैसी पद्य में नहीं। नया युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए नयी भाषा की खोज कर रहा था। ब्रजभाषा इसके लिए उपयुक्त नहीं थी। इसलिए आधुनिक काल में ब्रजभाषा काव्य के माध्यम से पुरानी संवेदनाएं ही अभिव्यक्ति पाती रहीं। खड़ी बोली का गद्य आधुनिक चेतना के फलस्वरूप ही सक्षम बन पड़ा।

2. नए संबंध :-

साहित्य का इतिहास बदलती हुई अभिरुचियों और संवेदनाओं का इतिहास होता है, जिसका,आर्थिक और चिंतनात्मक परिवर्तन से है। कुछ लोगों की दृष्टि राजकमल प्रकाशन होता है- कुछ संस्कृति के धरातल पर ही अभिरूचियों का विकास क्रम निर्धारित करते हैं। वस्तुत: आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में पेचीदा है। स्थूल रूप से दोनों में कारण कार्य संबंध सरलीकरण नहीं किया जा सकता: साहित्येतिहास के संदर्भ में दोनों के संबंध और योगदान का विमर्श अतिरिक्त अवधानता की अपेक्षा रखता है।

आधुनिक काल के पूर्व भारतीय गांवों का आर्थिक ढांचा प्राय: अपरिवर्तनशील और स्थिर रहा। गाँव अपने आपमें स्वत: पूर्ण आर्थिक इकाई थे। इस अपरिवर्तनशीलता को लक्ष्य करते हुए सर चार्ल्स मेटकाफ लिखा है- "गांव छोटे-छोटे गणतंत्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताएं गांव में पूरी हो जाती थी। बाहरी दुनिया से उनका कोई संबंध नहीं था। एक के बाद दूसरा राजवंश आया, एक के बाद दूसरा उलटफेर हुआ हिंदू, पठान, मुगल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े, पर गांव जैसे-के-वैसे ही बने रहे।"[1] गांव की जमीन पर सबका समान अधिकार था। कृषक खेती करता था, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, धोबी, तेली आदि गांव को अन्य आवश्यकताएं पूरी करते थे। पेशा जाति के अनुसार निश्चित होता था। एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति का पेशा नहीं करता था, क्योंकि इसके लिए यह स्वतंत्र नहीं था। नगर और गांव अपनी-अपनी इकाइयों में पूर्ण और एक-दूसरे से असंबद्ध थे नगर तीन तरह के थे- राजनीतिक महत्त्व के नगर, धार्मिक नगर और व्यापारिक नगर नगरों में मूल्यवान वस्तुओं का निर्माण होता था। रत्नजटित आभूषणों, बारीक सूती-रेशमी वस्त्रों हाथी दांत की

मीनाकारी, वस्त्रों की रंगाई आदि के लिए इस देश की अंतर्राष्ट्रीय थी। पर इन वस्तुओं की खपत धनी वर्ग में होती थी, विशेष रूप से राजाओं, सामंतों श्रेष्ठियों आदि में नगरों की औद्योगिक इकाइयाँ सामान्य वस्तुओं का निर्माण नहीं करती थीं। गांव का घरेलू उद्योग अलग था और नगरों का अलग अंग्रेज व्यापारियों ने इस देश को अपना बाजार बनाने के लिए यहाँ के बारीक धंधों को बहुत कुछ नष्ट कर दिया। जो कुछ बाक़ी बचे थे, वे नयी सामाजिक व्यवस्था के कारण नष्ट हो गये।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन और परिवर्तन लक्षित होने लगा, यो अंग्रेजों की विजय की जिम्मेदारी यहां की स्थिर आर्थिक व्यवस्था पर नहीं है। अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त इस देश में पारस्परिक एकता का सर्वदा अभाव रहा है। विदेशी मुसलमानों की विजय का कारण भी यही था और अंग्रेजों की विजय का भी आज भी, जबकि एक सीमा तक देश का आधुनिकीकरण हो गया है, स्थिति यही है। पुरातन आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर जाति प्रथा शिथिल तो हुई, पर मिट नहीं सकी आधुनिक साहित्य में इस प्रथा पर करारी चोट की गयी है। जो आर्थिक परिवर्तन अंग्रेजों द्वारा से आया गया, वह मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा संभव नहीं था। इनके आगमन से सामाजिक रीति-नीतियों में कहीं संकोच और कहीं विस्तार दिखायी पड़ा। मुसलमान यायावर थे और सामाजिक प्रगति की दृष्टि से वे पिछड़े हुए थे। उनकी स्थिति पूर्व-सामंतीय थी। इसलिए वे विजयी हो कर भी यहां की उच्चतर सभ्य से विजित हो गये और समाज के ढांचे में कोई बुनियादी फ़र्क नहीं ला सके। "आर्थिक इकाइयों में यथास्थिति बनी रही। अंग्रेज़ सामंतीय व्यवस्था से आगे बढ़ कर पूंजीवादी व्यवस्था अपना चुके थे। सामाजिक प्रगति की दृष्टि से वे यहां के लोगों से एक मंजिल आगे थे। इसलिए आर्थिक व्यवस्था को परिवर्तित करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। किंतु इसे उनकी कृपा नहीं कहा जा सकता, इसमें उनका स्थान था। गांव की जमीन का बंदोबस्त करने के कारण उन्हें थोड़े लोगों से ही मालगुजारी मिल जाती थी। जमींदारों और बड़े-बड़े जोतदारों का एक ऐसा तबका खड़ा हुआ, जो अंग्रेजों की आखिरी विदाई के समय तक उनकी सहायता करता रहा। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के लिए इस देश को लूटा और यहां के व्यापार को नष्ट किया।"[2] लॉर्ड कॉर्नवालिस ने सन् 1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जमींदारी प्रथा लागू की। बाद में बंबई उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के कुछ इलाकों में भी यह व्यवस्था आरंभ की गयी। सन् 1820 में सर टॉमस मुनरो ने इस्तमरारी बंदोबस्त' लागू करके जमीन को व्यक्तिगत संपत्ति

के रूप में बदल दिया। जमींदार और जोतदार दोनों ही जमीन का क्रय-विक्रय कर सकते थे। इसके पहले जमीन को न तो खरीदा जा सकता था और न बेचा जा सकता था, क्योंकि उस पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं था। खेत के व्यक्तिगत संपत्ति हो जाने पर खेती का व्यावसायिक हो जाना स्वाभाविक था। पहले कृषि का उत्पादन गांव में ही रह जाता था, किंतु अब बाजारों में भी आने लगा। यातायात की सुविधा बढ़ने पर उत्पादन की क़िस्म पर भी प्रभाव पड़ा। खेतों में उन वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाने लगा जो व्यवसाय की दृष्टि से अधिक लाभप्रद थीं। रुपये के चलन से भी व्यावसायिकता में अभिवृद्धि हुई। पर किसानों की स्थिति नहीं सुधर सकी। उन्हें एक ओर सरकारी मालगुजारी अदा करने की चिंता रहती थी, दूसरी ओर महाजन की ऋण अदायगी की समय-समय पर मालगुजारी को दर बढ़ा दी जाती थी, फलस्वरूप वे महाजनों के चंगुल में बुरी तरह फंस जाते थे। महाजनी सभ्यता का जाल फैलाने का श्रेय अंग्रेज़ों को ही है। आये दिन अकाल भी पड़ते रहते थे, किंतु अकाल पीड़ितों की रक्षा करने में अंग्रेज अधिकारी असमर्थ थे। कर के बोझ, अकाल और महामारी आदि की भयंकरता का प्रचुर उल्लेख भारतेंदु तथा उनके समसामयिक लेखकों के साहित्य में मिलता है।

पहले की सरल ग्राम-व्यवस्था में पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पंचायतों में हो जाता था। नयी अर्थव्यवस्था के कारण पारस्परिक संबंध जटिल हो गये। अब पंचायतों द्वारा उनका फ़ैसला नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में नयी संस्थाओं का जन्म हुआ और पंचायतों के स्थान पर कचहरियां स्थापित की गयीं। अलगाव तो पुरानी व्यवस्था में भी था, किंतु नयी व्यवस्था में जो अलगाव आया, वह भिन्न प्रकार का था। पहले एक गांव दूसरे गांव से और गांव शहर से अलग थे। साहित्य-संस्कृति पर नागरिक संस्कृति की गहरी छाप थी। सबको एकसूत्रता प्रदान करने वाला तत्त्व धर्म था। यही कारण था कि भक्तिकालीन काव्य नगर और गांव को समान रूप से प्रभावित कर सका। रीतिकालीन काव्य में गांव को वैसा महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। इसे प्रमाणित करने के लिए बिहारी के दोहे उद्धृत किये जा सकते हैं। आधुनिक काल में गांव की ओर साहित्यकारों को दृष्टि अवश्य गयो, पर तब तक किन्हीं अंशों में गांव बदल चुके थे।

अंग्रेजों की नयी व्यवस्था से जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा। खेत अनेकानेक टुकड़ों में बंट गये, कृषक और सरकार के बीच बहुत से मध्यस्थ हो गये और पैदावार घटती गयी। ग्राम्य उद्योगधंधों के नष्ट होने पर अधिक-से-अधिक लोग खेती पर आश्रित हो गये। बहुत से शहरी

उद्योग भी अंग्रेजों की कृपा से कालकवलित हो गये। फिर भी पुरानी अर्थव्यवस्था के स्थान पर जिस नयी अर्थव्यवस्था को लागू किया गया, उससे अनजाने ही ऐतिहासिक विकास की अनिवार्य प्रक्रिया के फलस्वरूप, भारतीय समाज विकास की ओर अग्रसर हुआ। गांवों की जड़ता टूटी, गांव दूसरे गांवों और शहरों के संपर्क में आने के लिए बाध्य हुए। घेरे में बंधी हुई अर्थव्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली। जो देश केवल धार्मिक एकता में बंधा हुआ था, वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरूक होने लगा। दूसरी ओर जातिप्रथा आर्थिक वर्गों में बदलने लगी, किंतु जातीय उच्चता की भावना विलीन नहीं हो सकी। अंग्रेजों ने जाने-अनजाने जो सुविधाएं दीं, उनका उपयोग उच्च जाति के लोगों ने ही किया। शासन में भी उन्हीं का प्राधान्य था; राष्ट्रीय आंदोलन भी उन्हीं के हाथ में था। साहित्य और कला पर भी उन्हीं का आधिपत्य बना रहा। इसलिए आज एक हो कर भी हम अनेक हैं। अंग्रेजों ने इस भेदभाव का लाभ उठाया, पर सारा दोष उनके कंधों पर लाद कर हम अपने को निर्दोष नहीं कह सकते। फिर भी जातिप्रथा शिथिल जरूर हुई, इसमें संदेह नहीं है। इसके साथ ही नये-नये आर्थिक वर्गों का जन्म हुआ। उच्चवर्ग और श्रमिकवर्ग के अतिरिक्त एक नये मध्यवर्ग का उदय हुआ। इस देश में इस वर्ग की भूमिका ही सबसे अधिक क्रांतिकारी कही जायेगी।

3. शिक्षा का पश्चिमीकरण:-

ब्रिटिश राज्य की स्थापना और आर्थिक परिवर्तनों के संदर्भ में कुछ ऐसी नयी समस्याएं पैदा हुई, जिनसे जूझने के लिए नये दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ी। कहना न होगा कि नयी शिक्षा प्रणाली द्वारा जो ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध हुआ, उससे इस दिशा में बहुत सहायता मिली। अठराहवीं शताब्दी के अंत में इस देश को जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आना पड़ा, वह भारत के ज्ञान- विज्ञान से प्रकृति में ही भिन्न था। भारतीय ज्ञान गतानुगतिक और परंपराभुक्त हो चला था, जबकि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नये जीवन संदर्भों की ताजगी लिये था। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य आध्यात्मिक और पारलौकिक था, तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भौतिक और इहलौकिक इस देश की विद्या वर्ग या जाति विशेष तक सीमित थी, पर पाश्चात्य विद्या सर्वसुलभ थी। फिर भी, ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में इस देश ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। दर्शन, ज्योतिष, गणित, औषधिविज्ञान, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि में इसका जोड़ कोई अन्य देश नहीं था। पर अब उन्हीं को दुहराया जा रहा था, नयी उद्भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध हो चला था। कुछ लोग वेदादि की आप्तता,

वर्णाश्रमधर्म की श्रेष्ठता इहलौकिकता के प्रति अनासक्ति आदि को यथापूर्व बनाये रखने के पक्षधर थे। मुसलमानों में भी इसी प्रकार की गतानुगतिकता घर कर गयी थी। पर अब नयी परिस्थितियों में पहली रूढ़ियों की उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लग गया था।

हिंदुओं और मुसलमानों की शिक्षा पद्धतियों पर टिप्पणी करते हुए ओ-मैले ने लिखा है : "इनमें बहुत कुछ समानता थी। वे उस भाषा में शिक्षा देते थे, जो जनता की भाषा नहीं थी। उनको शिक्षा का मूल स्रोत धर्म था और उसकी आप्तता अपरिवर्तनीय थी। वे नये अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध थे... ।"[3] इस प्रकार की शिक्षा पद्धति अपने-अपने धर्म के प्रति कट्टरता की भावना हो पैदा कर सकती थी इसके द्वारा स्वतंत्र व्यक्तित्व और विवेकसम्मत (रेशनल) दृष्टिकोण का निर्माण संभव नहीं था। फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा पद्धति का समारंभ एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। आधुनिक होने की दिशा में इसे एक गत्यात्मक प्रस्थान माना जायेगा। इसके प्रसार में मुख्यतः तीन शक्तियों का योगदान रहा (1) ईसाई मिशन, (2) सरकार और (3) व्यक्तिगत प्रयत्न।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व ईसाई मिशन दक्षिण भारत में धर्मप्रचार के कार्य में लगे हुए थे। प्लासी युद्ध के बाद 1758 ई. में डैनिश मिशन कलकत्ता आया, परंतु उसका क्रियाकलाप भी सीमित रहा। 1793 ई. में मिशनरियों का दूसरा महत्त्वपूर्ण दल कलकत्ता पहुंचा। कैरे और उनके दो सहयोगियों ने, जो उस मिशन से संबद्ध थे, नये बंगाल के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बंगला-गद्य की नींव डालने वाले लोगों में कैरे भी हैं। सन् 1813 में कंपनी ने एक नये चार्टर को स्वीकृति दी, जिसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गयी। इस चार्टर के बाद आने वाले मिशनरियों में अलेक्ज़ेंडर डफ़ का कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय है। कंपनी के अधिकारियों पर डफ़ का विशेष प्रभाव था। वह धर्मप्रचार का कार्य अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा करना चाहता था। डफ़ को धर्मप्रचार में तो सफलता प्रायः नहीं ही मिली, पर इसी बहाने अंग्रेजी शिक्षा देने वाले बहुत से स्कूल-कॉलेज खुल गये। ईसाई मिशनरियों के कार्य के पीछे न तो कोई आध्यात्मिक प्रेरणा थी, न अनुग्रह की भावना। वे ईसाई-धर्म के प्रचार में लगे हुए थे, जिसके लिए, उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के धर्मों पर निसंकोच आक्रमण किया और उनकी निंदा की। प्रत्येक स्कूल में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। उनका विश्वास था कि प्रत्येक अध्यापक विज्ञान और गणित पढ़ाते हुए प्रकारांतर से भारतीय धर्मों को तोड़ने में मदद करता है। पर आंकड़ों से स्पष्ट है कि

बहुत कम लोग ईसाई-धर्म को श्रेष्ठता से प्रभावित हो कर उसमें दीक्षित हुए। जिन लोगों ने उस धर्म को स्वीकार किया, उन्हें प्रेरणा देने वाली वस्तु धर्म की श्रेष्ठता नहीं, बल्कि अर्थ की श्रेष्ठता थी। फिर भी मिशनरियों के अपने काम ने भी भारतीय भाषाओं में गद्यशैली दी। हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं में गद्यशैली अत्यंत आरंभिक स्थिति में थी। जनता में धर्म के प्रचारार्थ मिशनरियों को उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। करे, ब्राउन, नेवलिन, स्किनर, बैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। स्कूलों में पढ़ाने के लिए उन्हें पाठ्य पुस्तकें भी लिखनी पड़ीं। भारतीय धर्म, पुराण आदि को उन्होंने विवरणात्मक गद्य में प्रस्तुत किया। स्त्री-शिक्षा के प्रसार में भी उनका महत्त्वपूर्ण योग है।

अंग्रेजी शिक्षा की उपयोगिता कई दृष्टियों से सिद्ध हो रही थी। इसके माध्यम से अंग्रेज़ व्यापारियों से विचार-विनिमय में सुविधा होती थी। अंग्रेजी जानने वालों के लिए विदेशी फ़र्मों और कंपनी के प्रशासन में नौकरी पाना भी सरल था। यद्यपि 1765 से 1813 ई. तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं किया, किंतु मुसलमानों के तुष्टीकरण के लिए वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा 'कलकत्ता मदरसा' (1780) खोलना, बनारस के रेज़ीडेंट द्वारा 'बनारस संस्कृत कॉलेज' (1791) की नींव डालना और कंपनी के सिविल सर्वेयर को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज (1800) की स्थापना उल्लेखनीय घटनाएं हैं। फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापकों से देशभाषा में पाठ्य पुस्तकें, कोश और व्याकरण तैयार करने का काम भी लिया गया। इस कॉलेज की मुख्य देन यह है कि इसके द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्य लेखन को प्रोत्साहन मिला। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना से अंग्रेज विद्वान प्राच्य भाषा में अभिरुचि लेने लगे। सन् 1823 में कंपनी ने लोक-शिक्षा के संबंध में सुझाव देने के लिए कलकत्ता में एक शिक्षा समिति संघटित की। इस समिति के सदस्यों में कुछ तो प्राच्य भाषाओं के समर्थक थे और कुछ अंग्रेजी शिक्षा के प्रथम वर्ग के श्री एच. एच. विल्सन प्रभृति के प्रयत्न से कलकत्ता के मदरसे और बनारस के संस्कृत कॉलेज का पुनर्गठन किया गया और 1824 ई. में कलकत्ता एजूकेशन प्रेस की स्थापना हुई। इस प्रेस से संस्कृत और अरबी की पुस्तकें छपने लगीं। दूसरी ओर राजा राममोहन राय ने यह मत व्यक्त किया कि व्याकरण की बारीकियों और वेदांत, मीमांसा तथा न्याय को कंठस्थ करने में नवयुवकों के एक दर्जन वर्ष नष्ट करना उचित नहीं है। इससे वे समाज के अच्छे सदस्य नहीं बन

सकते। इन विषयों के स्थान पर उन्हें प्राकृतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित आदि को उपयोगी शिक्षा देनी चाहिए। सन् 1834 में जब मैकाले भारत पहुंचा, तो प्राच्य शिक्षा के विरोधियों को काफी बल मिला।

मैकाले संस्कृत कॉलेज और अरबी-फारसी मदरसों के विरुद्ध था। उसका सुझाव था कि इनको बंद कर दिया जाये। अंग्रेजी भाषा की प्रशंसा में उसने लिखा है : "हमारी भाषा पश्चिमी भाषाओं में सर्वोत्तम है। जिसे इस भाषा का ज्ञान प्राप्त है, उसे संसार के अपार ज्ञान भंडार की उपलब्धि हो सकती है। बहुत कुछ संभावना है कि यह पूर्व के समुद्रों की वाणिज्य भाषा बन जाये।"[4] लाई बेटिक ने मैकाले का प्रतिवेदन स्वीकार कर लिया, पर संस्कृत और अरबी-फारसी को दिये जाने वाले अनुदान बंद नहीं किये। फिर भी प्राथ्य विद्या के विद्यार्थियों को जो छात्रवृत्ति मिलती थी, वह समाप्त कर दी गयी और संस्कृत-अरबी-फारसी को पुस्तकों का छपना रोक दिया गया। ऑकलैंड को यह स्थिति स्वीकार्य नहीं हुई। उसने संस्कृत-अरबी-फारसी का छपना जारी कर दिया, पर अंग्रेजी शिक्षा की संस्तुति उसे ज्यों-की-त्यों मान्य थी। इस समय दो प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आये शिक्षा का माध्यम क्या हो और जनता में शिक्षा का प्रचार-प्रसार कैसे हो? ये दोनों प्रश्न देश की संस्कृति, राजनीति और समाज के साथ व्यापक रूप से जुड़े हुए थे। शिक्षा के माध्यम के संबंध में तीन विकल्प पहला यह कि माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो दूसरा यह कि संस्कृत अथवा अरबी-फारसी हो; और तीसरा यह कि बोलचाल की भाषा (बंगला, हिंदी, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि) हो। चार्ल्स ग्रांट पहले मत के समर्थक थे। मैकाले ने बोलचाल की भाषा को माध्यम के रूप में असमर्थ घोषित किया, पर संस्कृत-अरबी के विषय में उसने जो कुछ कहा, उससे उसका अज्ञान प्रकट होता है। जो भी हो, अंग्रेजी भाषा माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गयी।

बोलचाल की भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार न करने का निर्णय अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण था। प्रायः दलील दी जाती है कि अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप देश में एकता की भावना पैदा हुई और जीवन की समस्याओं के संबंध में लोगों ने एक ढंग से सोचना आरंभ किया। राष्ट्रीय आकांक्षाओं को जाग्रत करने में इसे बहुत श्रेय दिया जाता है। प्रश्न यह है कि देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने से क्या इन उद्देश्यों की पूर्ति न होती ? वस्तुतः यदि अंग्रेज अधिकारियों ने देशी भाषा का माध्यम अपनाया होता, तो राष्ट्रीयता की भावना और भी जल्दी उत्पन्न होती शिक्षा के इतना अधिक फैल

जाने पर भी इस देश का आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। अधिकांश लोग आज भी निरक्षर हैं। पर उस समय इस शिक्षा के माध्यम से जिस बौद्धिक मध्यवर्ग का उदय हुआ, उसके आदर्श ऊंचे थे। आगे चल कर उन्होंने इसका उपयोग राष्ट्रीय सांस्कृतिक विचारों के प्रसार में किया।

1853 ई. में कंपनी के आज्ञापत्र का नवीनीकरण होने वाला था। ब्रिटिश संसद ने भारत में स्थायी शिक्षा-नीति निर्धारित करने के उद्देश्य से एक संसदीय समिति बना दी। इसके फलस्वरूप 1853 ई. में वुड-घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि इस घोषणापत्र को जान स्टुअर्ट मिल ने तैयार किया था। इसके अनुसार जनसमूह को शिक्षित करने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ, विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा विभाग की स्थापना की गयी, जिससे शिक्षा को एक सामान्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने में सुविधा हुई।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार आरंभ में विशेषतः बंगाल में हुआ, उत्तर भारत में लोग इस ओर उन्मुख नहीं हुए। इसका एक कारण यह है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध (आज का उत्तरप्रदेश) को बहुत बाद में ब्रिटिश राज्य में मिलाया गया। कलकत्ता विदेशी व्यापारियों का केंद्र था, फलतः अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों को व्यावसायिक फर्मों और प्रशासकीय दफ्तरों में नौकरी पाने की सुविधा थी। बंगाल के बाहर ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। ईसाई मिशनरियों के साथ संबद्ध होने के कारण यहां के लोग अंग्रेजी शिक्षा को शंका की दृष्टि से देखते थे। शिक्षा में पिछड़े रहने के कारण उत्तर भारत के सांस्कृतिक विकास में भी गत्यावरोध आया, जिसे दूर करने में समय लगा। नवीन शिक्षा पद्धति का लेखा-जोखा लगाने पर इसमें कई अंतर्विरोध दिखायी पड़ते हैं। सच तो यह है कि अंग्रेजों को अपने दफ्तरों के लिए देशी बाबुओं की आवश्यकता थी, जिससे उनका व्यवसाय और प्रशासन निर्वाध चल सके। ईसाई मिशनरी अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से लोगों को ईसाई बना कर पुण्य लूटने के चक्कर में थे इस देश के उत्साही व्यक्तियों को दृष्टि में भी सामान्यतः रोजी-रोटी का सवाल ही प्रमुख था अतः यह कहना कम भ्रांतिपूर्ण नहीं है कि इस शिक्षा-पद्धति के कारण हो राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कौन-सी पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी? कांग्रेस की स्थापना के पूर्व उनकी रचनाओं में देशकाल को अनेक समस्याएं मुखरित हुई हैं। इस शिक्षा प्रणाली के कारण छोटा-सा बुद्धिजीवी मध्यवर्ग जरूर पैदा हुआ, पर अधिकांश लोग निरक्षर रह गये। फिर भी, इससे एक तरह का

धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बना, जो मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण तर्कसम्मत और इहलौकिक हो सका। वैयक्तिक स्वतंत्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है। आश्रमधर्मी घेरेबंदी से बाहर निकल कर व्यक्ति के अपने निर्णय को प्रमुखता मिली। मध्यकालीन धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने और आधुनिक युगीन समस्याओं से जोड़ने में भी यही प्रवृत्ति क्रियाशील थी।

4. यातायात के साधन :-

उन्नीसवीं शताब्दी में दुनिया भर में यातायात के साधनों में परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष में भी रेल, बस, स्टीमशिप आदि ने लोगों में राष्ट्रीयता और वैचारिक एकता की भावना भरने में सहायता पहुंचायी। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास पर ही यातायात का विकास निर्भर करता है। ब्रिटिशकाल के पूर्व भारत का आर्थिक ढांचा स्थिर और अविकसनशील था, इसलिए हम बैलगाड़ी के आगे नहीं जा सके। जितना आर्थिक विनिमय हो सकता था, उसके लिए बैलगाड़ी से अधिक की आवश्यकता भी नहीं थी। दूसरी ओर, इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के कारण वहां के उद्योगपतियों के सामने यह समस्या आयी कि वे अपने उत्पादन की खपत कहां करें और कारखानों के लिए कच्चा माल कहाँ से लायें? भला उन्हें भारतवर्ष से अच्छा बाज़ार कहां मिल सकता था। फलस्वरूप उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार से भारत में रेलवे की स्थापना और सड़क निर्माण के लिए अनुरोध क्रिया। लॉर्ड डलहौजी ने रेल निर्माण योजना के मूल में निहित आर्थिक आवश्यकताओं का उल्लेख स्वयं किया है। आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अंग्रेजों को बाहरी आक्रमणकारियों और आंतरिक विद्रोहों से अपनी रक्षा के लिए भी गमनागमन की ओर ध्यान देना पड़ा। रेलवे और अच्छी सड़कों की सहायता से फ़ौजों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचना सुगम हो गया। स्पष्ट है कि इस देश के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक विकास के लिए इसका आयोजन नहीं हुआ, बल्कि अंग्रेज़ों के अपने स्वार्थ साधन के लिए ही रेलवे का जाल बिछाया गया और अच्छी सड़कें निर्मित हुई। वैसे इसमें संदेह नहीं कि नेतों और सड़कों ने कृषि को व्यावसायिक बनाने में मदद पहुंचायी, दुनिया सिमट कर कम हो गयी और विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को एक-दूसरे से अल्प समय में सुविधानुसार मिलने का अवसर मिला। हुआछूत भेदभाव आदि में कमी आयी। अकाल के समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर अन्न, वस्त्र आदि भेजने की सुविधा प्राप्त हुई। किताबों, पत्र-पत्रिकाओं आदि को दूर-दूर तक सरलतापूर्वक हुंचाया जाने लगा। इससे पुराने संकीर्ण विचारों को भंग करने में भी सहायता मिली।

5. प्रेस और जनमत :-

नयी अर्थव्यवस्था और नवीन शिक्षा-पद्धति के कारण भारतीय जनता में एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई ।जिसके आधार पर लोग अपनी कठिनाइयों को समझने और उनको दूर करने की कोशिश करने लगे। इसके लिए प्रेस से बेहतर और कोई साधन नहीं हो सकता था। "भारतवर्ष में मुद्रणयंत्र स्थापित करने का श्रेय पुर्तगालियों को है। सन् 1550 में उन्होंने दो मुद्रणयंत्र मंगवा कर धार्मिक पुस्तकें छापनी आरंभ की। 1674 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंबई में मुद्रणकार्य आरंभ किया गया। अठारहवी शताब्दी में मद्रास, कलकत्ता, हुगली, बंबई आदि स्थानों में छापेखाने स्थापित हुए। अंग्रेजों और मिशनरियों ने समाचारपत्र निकाले, किंतु अपने देश के संदर्भ में पत्र निकालने की पहल राजा राममोहन राय ने की। 1821 ई. में उनके सहयोग से 'संवाद कौमुदी' नामक साप्ताहिक मंगला-पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें सामाजिक समस्याओं के संबंध में लेख रहते थे। राजा राममोहन राय ने सतीप्रथा के विरुद्ध लगातार लिखना आरंभ किया, जिससे परंपरावादी हिंदू-समाज उनके विरुद्ध हो गया और इस पत्र को भी क्षति पहुंची। इसके पहले ही सोरामपुर मिशन के तत्त्वावधान में दो पत्र प्रकाशित हो रहे थे 'समाचार दर्पण' और 'दिग्दर्शन'। इनके प्रत्युत्तर में उन्होंने 'ब्रमैनिकल मैगजीन' का प्रकाशन किया। फारसी भाषा में भी उनकी प्रेरणा से दो पत्र निकले 'जाम-ए-जहां- नुमा' और 'मीरत-उल-अखबार'। बंबई से गुजराती प्रेस के तत्त्वावधान में 1822 ई. में 'बॉम्बे समाचार' निकलना आरंभ हुआ। दैनिक पत्र के रूप में यह अब भी निकल रहा है। द्वारिकानाथ टैगोर, प्रसन्न कुमार टैगोर, राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील व्यक्तियों ने 1830 में 'बंगदूत' पत्र की नींव डाली। 1830 ई. के अंत तक कलकत्ता से तीन बंगला दैनिक, एक त्रिसाप्ताहिक, दो अर्थ- साप्ताहिक, सात साप्ताहिक और एक मासिक प्रकाशित हो रहे थे। हिंदी का पहला पत्र 'उदंत मार्तण्ड' 1826 में प्रकाशित हुआ। बाद में कलकत्ता से ही 'प्रजामित्र' (1834) का प्रकाशन होने लगा। हिंदी का दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' (1854 ई.) श्याम सुंदर सेन के संपादकत्व में कलकत्ता से ही निकला। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और भी अधिक संख्या में होने लगा। इससे नये विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा हुई।"[5] विगलित सामाजिक नैतिक रूढ़ियों के विरोध में पत्रों का अच्छा उपयोग किया गया। इनके माध्यम से अंग्रेजी हुकूमत की उन कार्यवाहियों का भी

विरोध शुरू हुआ, जो देशहित के विरुद्ध पड़ती थीं। इनसे वैज्ञानिक नज़रिया और राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार में भी पर्याप्त सहयोग मिला।

प्रेस की स्वतंत्रता को लेकर शुरूआत से ही अंग्रेज़ों और भारतवासियों में टकराहट रही। इस संघर्ष में भी राजा राममोहन राय ने पहल की। एडम के समय में प्रेस की स्वतंत्रता पर जो आक्रमण हुआ, उसके विरोध में उन्होंने अपने अन्य राष्ट्रीयतावादी मित्रों के साथ कलकत्ता उच्च न्यायालय में आवेदन किया। उन्होंने सरकार की इस कार्यवाही को अप्रजातांत्रिक, अव्यावहारिक तथा प्रतिक्रियावादी बताया। रमेशचंद्र दत्त के अनुसार संवैधानिक ढंग से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के संघर्ष की यह शुरुआत थी। 1799 में बेलेजली ने प्रेस की स्वतंत्रता समाप्त कर दी, पर 1818 ई. में हेस्टिंग्ज ने प्रेस संबंधी प्रतिबंधों को हटा दिया। 1823 में प्रेस संबंधी अधिकारपत्र लेने का अधिनियम बना, जिसे 1835 में मेटकाफ़ ने समाप्त कर दिया। 1857 तक यही स्थिति बनी रही। इसमें संदेह नहीं कि समाचारपत्रों के माध्यम से विचारों का विनिमय सहज हो पाया। भारतीय पुनर्जागरण के लिए प्रेस का वरदान अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध हुआ। पुनर्जागरण के नेताओं ने इस माध्यम का पूरा-पूरा उपयोग किया। मुद्रणालयों का प्रभाव साहित्य के लिए भी अत्यंत हितकर सिद्ध हुआ। भारतेंदु के समय में शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार रहा हो, जिसका संबंध किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका से न रहा हो। पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन के साथ ही समसामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला जाता था। इस प्रकार उनके प्रकाशन का अर्थ था- दूसरों की समस्याओं में साझेदारी करना और उनको ले कर नयी-नयी वैचारिक भूमियां तैयार करना। ये पत्र-पत्रिकाएं एक और जनतांत्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं और दूसरी ओर समाज को रूढ़ियों पर प्रहार करती हुई राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में सहयोग दे रही थीं। मुद्रणयंत्र के कारण साहित्य में वैयक्तिकता की भावना भी आयी। उसके प्रशंसकों की संख्या सीमित होती थी। इसलिए साहित्यकारों के लिए आवश्यक था कि अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखते, पर छापेखाने ने सारी स्थित ही उलट दी। अब साहित्यकार और सामाजिक का सीधा संबंध नहीं रह गया, मुद्रण के माध्यम से ही वे एक-दूसरे से संबद्ध हो पाते थे। इस माध्यम ने साहित्यकार को अवसर दिया कि वह बहुत कुछ व्यक्तिगत भी अभिव्यक्त कर सके। मुद्रणयंत्र के आविष्कार के पूर्व साहित्य में

वैयक्तिकता का समावेश अत्यल्प था, पर बाद में भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों के वैयक्तिक निबंधों में इस प्रवृत्ति का समावेश प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है।

आधुनिक युग का साहित्य मुद्रणकला के कारण अपने रूप-रंग, अभिव्यंजना, प्रभावान्विति आदि में मध्यकालीन साहित्य से पृथक् और स्वतंत्र रूप से अस्तित्ववान हो गया है। आधुनिक काल के साहित्य मे जो वैविध्य, वैयक्तिक कल्पना- छवियां, बौद्धिकता और प्रयोगात्मकता आयी है, उसका आंशिक दायित्व छापेखाने पर भी है। छापेखाने के अभाव में परिवर्तमान अभिरुचियों और संवेदनाओं का आकलन संभव नहीं था। साहित्य और कला संबंधी वादों, आंदोलनों आदि को रूपायित करने में इसका महत्त्वपूर्ण योग है।

5. भारतीय जागरण अंतर्गत पश्चिम की चुनौती :-

ब्रिटिश राज्य स्थापना के कारण भारत की अर्थनीति, शिक्षापद्धति, यातायात के साधनों आदि में बुनियादी परिवर्तन हुए। इसके फलस्वरूप समाज का जो आधुनिकीकरण आरंभ हुआ, वह पुराने धार्मिक संस्कारों, रीति-नीतियों, संघटनों के मेल में नहीं था। नये यथार्थ और पुराने संस्कारों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सामंजस्य के साथ ही नये भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हुई यह उल्लेखनीय है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आधारित होती है। नया पूंजीवादी समाज जाति संयुक्त परिवार आदि के बंधनों से मुक्त हो कर ही विकसित हो सकता है। कहना न होगा कि भारतीय पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति स्वातंत्र्य का विशेष महत्व रहा है।

आधुनिक युग में ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज ने पुराने धर्म को नये समाज के स्वरूप में लाने का प्रयत्न किया। ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज ने तो नये परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से अंगीकार कर लिया पर आर्यसमाज वैदिक धर्म के मूल स्वरूप को बनाये रखना चाहता था किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आर्यसमाजी वैदिक युग की रीति-नीतियों में लौट जाना चाहते थे। इसपर उस वक्त की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विचारधारा पर आर्यसमाज का विशेष प्रभाव पड़ा। मध्यकाल में नये परिवेश के फलस्वरूप जातिप्रथा, छुआछूत, बाह्याडंबर आदि के विरोध में भक्ति आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। मुसलमानों के प्रतिष्ठित हो जाने पर इस आंदोलन के माध्यम से सामंजस्य का प्रयत्न दिखायी पड़ा। किंतु नये युग में, नये प्रकार के सामंजस्य को आवश्यकता

हुई। मध्यकाल का सामंजस्य भावनामूलक था, उस काल के बहुत से भक्त और संत अंतर्विरोधों के भी शिकार थे, पर अब भावना से काम नहीं चल सकता था। उसके स्थान पर तर्क, विवेक और बुद्धि से काम लेना अनिवार्य हो गया था ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्णमिशन, आर्यसमाज और सिफिकल सोसाइटी की मान्यताएं बहुत कुछ बुद्धि-विवेक और तर्क पर ही आधारित हैं।

आधुनिक भारत की नींव पर पहला पत्थर राजा राममोहन राय ने रखा। आधुनिकीकरण के संदर्भ में ही उन्होंने 1828 में ब्राह्मसमाज की स्थापना की। अरबी और फ़ारसी का उन्हें बहुत गहरा ज्ञान था। अरबी अनुवाद के माध्यम से ही वे अफलातून, अरस्तू प्लॉटीनस आदि प्राचीन यूनानी विचारकों से परिचित हुए। बनारस जा कर उन्होंने कुछ वर्षों तक गीता, उपनिषद् आदि का भी गहन अध्ययन किया। उनकी विचारधारा पर इस्लामी एकेश्वरवाद की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। ईसाई धर्म से भी वे कम प्रभावित नहीं थे। ये समस्त विचारधाराएं उन्हें पुराने औपनिषदिक दर्शन में मिल गयी, विशेष रूप से 'तैत्तिरीय' और 'कौशीतकी' में कर्मकांड और अंधविश्वास का विरोध करने के लिए उन्होंने उपनिषदों का उपयोग किया और मूर्तिपूजा को धर्म का बाह्याडंबर माना। आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले वे अकेले व्यक्ति थे, जो अंधश्रद्धा और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ रहे थे। उनकी विचारधारा में तर्क की प्रधानता थी जो लॉक, हाम और रूसो के अनुरूप थी। उनके नेतृत्व में ब्राह्मसमाज ने कई प्रकार की कुरीतियों पर प्रहार किया। जातिप्रथा को उन्होंने अमानवीय और राष्ट्रीयता विरोधी कहा। सतीप्रथा के विरोध में उनका प्रयत्न सर्वदा स्मरणीय रहेगा। उन्होंने विधवा-विवाह तथा स्त्री-पुरुष के समानाधिकार का समर्थन किया और संदर्भ विशेष में पाश्चात्य संस्कृति को भी मूल्यवान समझा। इसीलिए उन्होंने अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली के प्रसार में योग दिया और ब्रिटिश राज्य की अच्छाइयों की प्रशंसा की। वस्तुतः उन्नीसवीं शती के पूर्वा तक अंग्रेजों ने जो कुछ किया, उसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रगतिशील ही कहा जायेगा। ब्राह्मसमाज को देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817-1905) और केशवचंद्र सेन (1838-1884) ने आगे बढ़ाया। देवेन्द्रनाथ वेदों को अपौरुषेयता पर विश्वास नहीं करते थे, उनकी आस्था अंतःप्रज्ञा पर अधिक थी। केशवचंद्र सेन बहुत कुछ प्रयोगवादी थे। उन्होंने ब्राह्म धर्म के प्रसार के लिए दूर-दूर तक यात्राएं कीं। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप मद्रास में वेदसमाज और बंबई में प्रार्थनासमाज की स्थापना हुई। राजा राममोहन राय की तार्किकता और बौद्धिकता तक ही अपने को सीमित न रख कर वे वैष्णवों के भजन-कीर्तन की ओर आकृष्ट हुए।

ईसाई धर्म की ओर भी वे अधिकाधिक झुकते गये। उनके कारण ब्राह्मसमाज में दो बार फूट पड़ी और दोनों बार उन्होंने अलग-अलग संस्थाएं बनायीं-साधारण ब्राह्मसमाज और नववेदांत। केशवचंद्र सेन के बाद ब्राह्मसमाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जो शिक्षित समाज की प्रभावित करता।

1864 ई. में बंबई और पूना में केशवचंद्र सेन का आगमन हुआ। उनके प्रभाव से 1867 में **प्रार्थना समाज** की स्थापना हुई। इसके प्रमुख उन्नायक महादेव गोविंद रानाडे थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति थे। देश और समाज का कोई ऐसा पक्ष नहीं था, जिसकी ओर उनकी दृष्टि न गयी हो। सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध वे निरंतर संघर्ष करते रहे। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार किया और भागवत धर्म का अनुसरण करते हुए संकीर्ण विचारधारा को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। मध्यकालीन महाराष्ट्रीय संतों के प्रति उनकी गहरी आस्था थी, पर अपने विचारों में वे कहीं भी प्रतिक्रियावादी नहीं थे और न ही उनमें कोई पूर्वाग्रह था अतीत के लिए उनके मन में आदर था, किंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अतीत को उसके उसी रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे। पुराने आचार, विचार और संस्थाओं को उनके मूल रूप में पुनः स्थापित करने वाले पुनरुत्थानवादियों से उनका विरोध था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मृत अतीत को कभी भी जीवित नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार समाज जीवित अवयवों का संघटन है, जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इस प्रक्रिया के बंद हो जाने पर समाज मुर्दा हो जायेगा। रानाडे ने जिस एक सुधार पर बार-बार बल दिया है, वह है-मनुष्य की समानता वे जाति-पांति की प्रथा के विरुद्ध थे और अंतर्जातीय विवाह के पक्षधर थे। स्त्री-शिक्षा पर उन्होंने बराबर बल दिया है। उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण, तर्कपद्धति, सामाजिक परिष्कार के प्रति अभिरुचि आदि से स्पष्ट है कि वे पाश्चात्य विचारों से प्रेरित थे किंतु पाश्चात्य मत को भी उन्होंने बिना तर्क के स्वीकार नहीं किया। दूसरे शब्दों में, वे भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचारप्रणाली के अनुरूप ढालने का यत्न कर रहे थे।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना रामकृष्ण परमहंस के देहावसान के बाद विवेकानंद ने की थी। रामकृष्ण परमहंस अपने संपूर्ण व्यक्तित्व में परमहंस थे। उनके संबंध में कहा जाता है कि इस ग़रीब, अपढ़, गंवार, रोगी, अर्धमूर्तिपूजक, मित्रहीन हिंदू भक्त ने बंगाल को बुरी तरह हिला दिया। उनके योग्य शिष्य विवेकानंद ने उन्हें बाहर से भक्त और भीतर से ज्ञानी कहा है। स्वयं विवेकानंद के संबंध

में ठीक इसका उलटा कहा जा सकता है। 1893 में विवेकानंद विश्वधर्म संसद में सम्मिलित होने के लिए शिकागो गये। उनकी वक्तृता से प्रभावित हो कर 'न्यूयॉर्क हेराल्ड ट्रिब्यून' ने लिखा था - "विश्वधर्म संसद में विवेकानंद सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनको सुनने के बाद ऐसा लगता था कि उस महान देश में धार्मिक मिशनों को भेजना कितनी बड़ी मूर्खता थी।"[6] विवेकानंद का मुख्य प्रयोजन रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार करना था, फिर सामाजिक कार्यों में उनकी गहरी रुचि थी। मानवीय समता के विश्वासी होने के कारण उन्होंने जाति, संप्रदाय, छुआछूत आदि का विरोध किया। गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति अत्यंत प्रगाढ़ थी शिक्षित समुदाय तथा उच्चवर्ग की भर्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा है- "जब तक देश के हज़ारों लोग भूखे हैं, अज्ञानी हैं, मैं प्रत्येक शिक्षित वर्ग को धोखेबाज़ कहूंगा। ग़रीबों के पैसे से पढ़ कर भी वे उनकी और तनिक भी ध्यान नहीं देते.... उच्चवर्ग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मर चुका है।"[7] उनके अनुसार धर्म वह है जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति दे, जो आत्मसम्मान और राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने में सहायता करे। विवेकानंद ने होनता की भावना से ग्रस्त देश को यह अनुभव कराया कि इस देश की संस्कृति अब भी अपनी श्रेष्ठता में अद्वितीय है, इस देश का आध्यात्मिक चिंतन असमानांतर है। आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य मनुष्य की समता, एकता, बंधुत्व और स्वतंत्रता की ओर भी उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया। पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत देशवासियों को पहली बार यह एहसास हुआ कि हमारी अपनी परंपरा में भी कुछ ऐसी वस्तुएं हैं, जिन्हें संसार के समक्ष गौरवपूर्ण ढंग से रखा जा सकता है।

गुजरात, उत्तरप्रदेश और पंजाब में **आर्यसमाज** का प्रभाव था। इन प्रदेशों का स्वभाव बंगाल से भिन्न हैं। बंगाल की भावुकता के स्थान पर इन्हें पौरुष और अक्खड़ता अधिक प्रिय है। बंगाल और महाराष्ट्र के पुनर्जागरण में मध्यकालीन संतों की वाणी का भी योगदान है. पर आर्यसमाज में उनका कोई स्थान नहीं है। 1867 में दयानंद सरस्वती ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की। दयानंद असाधारण व्यक्ति थे। वे संस्कृत के अनन्य विद्वान, वाग्मी और अत्यंत मेधावी थे। उनका व्यक्तित्व अतिशय दृढ़ और असमझौतावादी था। उनके विचारों में कहीं भी अस्पष्टता और रहस्यवादिता नहीं मिलेगी। उन्होंने आर्यसमाज के लिए वेदों को आधार माना। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं और वैदिक धर्म हो सत्य और सार्वभौम है। सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हुए आर्यसमाज ने एक आचार संहिता बनायी थी। इसमें जाति-भेद और मनुष्य मनुष्य या स्त्री-पुरुष में असमानता के लिए

कोई जगह नहीं थी। निश्चय ही यह एक लोकतांत्रिक दृष्टि थी। वैदिक धर्म के व्याख्याता होने के बावजूद स्वामी दयानंद समाज की भौतिक उन्नति के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक समझते थे। इसीलिए 1886 में दयानंद एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना हुई और आगे चल कर प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थान पर दयानंद स्कूल-कॉलेज खोले गये। आर्यसमाज ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने में आश्चर्यजनक योगदान किया। कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार इसे दबाने के लिए भरपूर चेष्टा करती रही, किंतु उत्तर भारत के आचार-विचार, रहन-सहन और साहित्य-संस्कृति पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा। गद्य की भाषा के परिष्कार में भी इस आंदोलन का अभूतपूर्व योग है। अस्पृश्यता पर जितना प्रबल आघात इस आंदोलन ने किया, उतना और किसी ने नहीं आर्यसमाज का प्रसार मुख्यतः मध्यवर्ग के बीच हुआ, इसलिए इसका कार्य अधिक क्रांतिकारी सिद्ध हो सका। इसकी कार्यपद्धति प्रगतिशील थी। जहां तक मानवीय समा अस्पृश्यता आदि का संबंध है, इसे अवश्य ही प्रगतिशील माना जायेगा।

थियॉसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना 1875 में मदाम ब्लावस्तू और ओल्कार्ट द्वारा न्यूयॉर्क में हुई थी। यह आंदोलन भारतीय धार्मिक परंपरा पर आधारित था। सोसाइटी के संस्थापक 1879 में भारतवर्ष पहुंचे और 1882 में अड्यार (मद्रास) में इसकी शाखा खोल दी गयी। इस संस्था को इंग्लैंड की शाखा से संबद्ध श्रीमती एनी बेसेंट 1893 में भारत आयीं और सोसाइटी के विकास में तन-मन से जुट गयीं। अपने गतिशील व्यक्तित्व और असाधारण वक्तृत्व शक्ति के कारण उन्होंने अनेक शिक्षित भारतीयों को आकृष्ट किया। श्रीमती बेसेंट ने समस्त देश का दौरा किया और हिंदू धर्म की आध्यात्मिकता के पक्ष में ओजस्वी भाषण दिये। थियॉसॉफी में अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने शिक्षा-संस्थाएं भी खोलीं। बनारस का सेंट्रल हिंदू कॉलेज इसी तरह की संस्था है।

बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर भारत में नये धार्मिक आंदोलनों के विरुद्ध **पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रियाएं** आरंभ हुई। बंगाल में राधाकांत देव ने राजा राममोहन राय के ब्राह्मसमाज के विरोध में धर्मसभा (1830) की स्थापना की, पर 1857 तक वह ब्राह्मसमाज का प्रभाव कम नहीं कर सको। 1857 के विद्रोह के बाद सुधारवादी रेडिकल्स का जोर कम हो गया और पुरातनवादी मनोवृत्तियों फिर से उभर कर सामने आयें। इसके अनंतर बंगाल में दो प्रवृत्तियों का ज़्यादा जोर रहा-राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छतावादी। दोनों के मूल में वैयक्तिकता, अतीत के प्रति गौरव का भाव विदेशी सत्ता के

विरुद्ध आक्रोश, गांव की बढ़ती हुई आबादी, गरीबी के प्रति सहानुभूति स्वतंत्रता और समानता के प्रति आग्रह आदि प्रवृत्तियां क्रियाशील थीं। इनमें से अतीत के गौरव के प्रति जागृति फैलाने का श्रेय उन पुरातत्ववेत्ताओं और पुरालेखविदों को है, जिन्होंने विस्मृति के गर्भ में विलोन भारतीय साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, वास्तुकला आदि का पुनरुद्धार किया। इसके फलस्वरूप संसार में भारत का गौरव बढ़ा और इस देश के निवासियों में आत्मसम्मान का भाव जाग उठा। अब पाश्चात्य संस्कृति के सामने डट कर खड़ा हुआ जा सकता था। इसके फलस्वरूप नवीन हिंदूवाद का जन्म हुआ। इसमें मुख्यतः दो दल थे-एक, प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी था; दूसरा, यथास्थान नये विचारों के सन्निवेश का पक्षपाती तो था, पर मुख्य धारा में किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का आकांक्षी नहीं था। बंकिमचंद्र चटर्जी ऐसे ही व्यक्ति थे। वे गीता के निष्काम कर्मयोग के हिमायती थे। उन्होंने धर्मतत्त्व पर ग्रंथ रचना के अतिरिक्त कृष्ण के संबंध में 'कृष्णचरित्र' को रचना की। धर्म-सुधारकों की भांति के टुकड़ों-टुकड़ों में समाजसुधार के पक्षपाती नहीं थे। उनका विश्वास था कि धर्म और नैतिकता के समग्र पुनर्जागरण में ही समाजसुधार समाविष्ट हो जाता है। बंकिम के उपन्यासों में देशप्रेम का स्थान बहुत ऊंचा था। वे देशप्रेम को धर्म और धर्म को देशप्रेम कहते थे। महाराष्ट्र की स्थिति बंगाल से भिन्न थी। एक तो वह बंगाल से साठ वर्ष पीछे अंग्रेज़ों के अधिकार में आया और दूसरे, पेशवा राज्य की परिसमाप्ति का दर्द उसे बना हुआ था। अपनी परंपराओं के प्रति उसे अधिक अनुराग था। महाराष्ट्र ने देश को ग़रीबी, भुखमरी आदि का पूरा दायित्व अंग्रेजी राज्य पर डाल दिया-चिपलूणकर के निबंधों में देश के पराभव का एकमात्र जिम्मेवार विदेशी शासन को ठहराया गया है। तिलक ने रानाडे के सुधारों का विरोध किया। उनको दृष्टि में में सुधार समाज को विभक्त करने वाले और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में बाधा डालने वाले थे। जनता को एक करने के लिए उन्होंने गणेशपूजा की शुरूआत की। उत्तर भारत में भी आर्यसमाज के विरोध में सनातन धर्मावलंबियों ने अपना स्वर बुलंद किया। इन विरोधी स्वरों के कारण सुधार का कार्य मंद तो पड़ा, किंतु इससे राष्ट्रीयता को अधिक बल मिला।

6. मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर :-

अंग्रेजों ने इस देश में नयी अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता, संचार सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया, फिर भी इससे भारत का हित हुआ। एक स्थिर व्यवस्था से छूट

कर देश को नूतन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ। परंपराएं टूटने लगीं। नये परिवेश में ऐतिहासिक मांग के फलस्वरूप लोग अपने को नये ढंग से ढालने लगे। आधुनिक काल में जिस पुनर्जागरण का उल्लेख किया जाता है, उसके मूल में भी ये बदलो हुई परिस्थितियां ही थीं। इसके पूर्व धर्म मुख्यतः पारलौकिक आकांक्षाओं से संबद्ध था, किंतु आधुनिक काल में वह इहलौकिक आकांक्षाओं का भी बाहक बना। पूंजीवादी समाज की भौतिकता के फलस्वरूप धर्म-सुधारकों को इस तरह का बाना धारण करना पड़ा या यों कहिए कि उन्हें इसके लिए बाध्य होना पड़ा।

भारतीय धर्म और संस्कृति के संबंध में अंग्रेज प्रशासकों और ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण धर्म-सुधारकों के लिए धारदार मार्ग से गुजरना आवश्यक हो गया। एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपने धर्म और संस्कृति की वकालत करनी पड़ी और दूसरी ओर देशवासियों के समक्ष धर्म का नया अर्थापन करना पड़ा। इस प्रकार हर बात को तर्कसंगत बनाने की दिशा में जो पहल की गयी, वह बहुत फलदायक सिद्ध हुई। इस संक्रांतिकाल में धर्म का पल्ला पकड़ना बहुत आवश्यक था क्योंकि धर्म अनिवार्यतः समाज-सुधार के साथ जुड़ा हुआ था। पुराणपंथी और सुधारक दोनों ने अपने मत के प्रचारार्थ धर्मशास्त्रों की शरण ली। राजा राममोहन राय अकेले व्यक्ति थे, जिन्हें शुद्धबुद्धिवादी कहा जा सकता है। सतीप्रथा के उन्मूलन के लिए उन्हें धर्मशास्त्रों की गवाही की आवश्यकता हुई। विद्यासागर ने सिद्ध किया कि धर्मशास्त्रों में वैधव्य का कोई विधान नहीं है। दयानंद सरस्वती सामाजिक सुधारों को वैधता देने के लिए वेदों की ओर उन्मुख हुए और उन्होंने अपने मत के पुष्टार्थ वेदों का नया अर्थ भी किया। धीरे-धीरे तर्क की संगति पर विशेष बल दिया जाने लगा। इससे रूढ़ियों को उच्छिन्न करने में सुविधा हुई। फलतः परंपरावादी और धर्म-सुधारक दोनों ही अतीत के गौरव को जागृत करने में सफल हुए। इससे भारतीयों को आत्मसम्मान का बोध हुआ और बराबरी के स्तर पर पश्चिम का सामना करने तथा स्वतंत्रता की मांग करने का आत्मविश्वास मिला। यद्यपि परंपरावादी लोग धर्म-सुधार में आस्था नहीं रखते थे, फिर भी राष्ट्रीयता पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। उनका कहना था कि राष्ट्रीयता में सभी सुधार समाविष्ट हैं। वस्तुतः जिन्हें परंपरावादी कहा जाता है और जिस अर्थ में कहा जाता है, उस अर्थ में वे परंपरावादी नहीं थे। रेडिकल भी पूरे तौर पर रेडिकल नहीं थे। परंपरा के नैरंतर्य को देखते हुए समस्या केवल उचित चयन की है, क्योंकि परंपरा की निरंतरता में कुछ अंश नये युग के प्रसंग में सार्थक होते हैं और कुछ अर्थहीन परंपरा की

प्रासंगिकता किस तत्त्व में है और किसमें नहीं, इसका विमर्श और चयन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित परंपरावादी और रेडिकल दोनों के मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं था, फिर भी दोनों के अभिगम अलग-अलग थे। पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली में दोनों ने विश्वास व्यक्त किया और नयी शिक्षा-संस्थाएं खोलीं। शिक्षा-संस्थाएं तो पहले भी थीं, पर अब इनका रूप एकदम बदल गया। इनका उद्देश्य शिक्षार्थियों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना था।

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया नये अर्थतंत्र शिक्षाप्रणाली, संचारजाल आदि के कारण आरंभ हुई। बहुत से लोग इसे पश्चिमीकरण न कह कर आधुनिकीकरण कहते हैं 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग बहुत संगत नहीं है क्योंकि स्वयं पश्चिम को बहुत-सी बातें पूर्व से मालूम हुई, जैसे मुद्रण- यंत्र का आविष्कार सबसे पहले चीन देश में हुआ। पश्चिमीकरण से पश्चिमी रीति-नीति, आचार-व्यवहार, वेशभूषा आदि के अंधानुकरण का भ्रम होता है। आधुनिकीकरण एक दृष्टिकोण है, जो वैज्ञानिक विचारधारा से बनता है और वह मूलतः इस लोक से ही संबद्ध होता है। एम. एन. श्रीनिवास ने 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' पुस्तक में ठीक ही लिखा है "भारतीयों को केवल स्याहीसोख का दर्जा देना स्पष्ट ही वाहियात है। यह कहना ठीक नहीं कि जिस किसी बात के संपर्क में वे आये, यह सब उन्होंने आत्मसात् किया, उसे दूसरों तक संप्रेषित कर दिया, यद्यपि कुछ व्यक्तियों के साथ निस्संदेह ऐसा हुआ। वास्तव में पश्चिम से कुछ बातें ग्रहण की गयीं और ग्रहण की गयी बातों में भी रूपांतरण हुआ।"[8] रूपांतरण की इस प्रक्रिया में पश्चिमी विचारकों में मिल, बेंथम, कामते आदि से बहुत कुछ प्रेरणा ग्रहण की गयी। किंतु इसके लिए शास्त्रों के साथ-साथ मध्यकालीन संतों को बानियों का भी सहारा लिया गया। छुआछूत, जातिप्रथा, स्त्री-पुरुष में भेद आदि का विरोध और स्वतंत्रता, समानता आदि का समर्थन इस तथ्य का सूचक है कि इस समय तक नवीन मानवतावाद का आविर्भाव हो चुका था। यों तो संस्कृत के शास्त्रग्रंथों और मध्यकालीन संतों भक्तों को 'बानियों' में भी एक प्रकार का मानवतावाद मिलता है, पर वह सर्वत्र ईश्वरवाद से संदर्भित है। कबीर ने हिंदू-मुसलमान के भेद पर यह कह कर प्रहार किया कि वे सभी ईश्वर की संतान हैं। कर्मकांड की निंदा उन्होंने इसलिए की कि वह ईश्वर प्राप्ति में बाधक है। भक्तों में तुलसी की स्पष्टोक्ति है, 'नावे' सबै राम के मानियत' पर आधुनिक युग में मनुष्य मनुष्य की समता, स्वतंत्रता आदि का सामाजिक न्याय के आधार पर समर्थन किया गया।

आर्यसमाज प्रभृति उपर्युक्त आंदोलनों में से अधिकांश में अंतर्विरोध दिखायी पड़ता है। इनके आदर्शों और व्यवहारों में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती उदाहरणार्थ, टैगोर परिवार ब्राह्म था। ब्राह्मसमाज में मूर्तिपूजा के लिए कोई जगह नहीं है, पर टैगोर परिवार खूब धूमधाम के साथ दुर्गोत्सव मनाता था। आर्यसमाज में वर्ण व्यवस्था जन्मता नहीं, कर्मता मानी जाती है, पर आर्यसमाजियों में ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे, जो जाति के बाहर विवाह संबंध स्थापित करने में संकोच का अनुभव न करते रहे हों। दूसरा अंतर्विरोध यह था कि राजा राममोहन राय, रानाडे आदि बहुत से लोग ब्रिटिश राज्य को देश के लिए वरदान समझते थे, लेकिन प्रजा के दोहन, शोषण आदि का विरोध करते थे। समाज में एक और संस्कृतीकरण बढ़ रहा था तो दूसरी ओर लौकिकीकरण।

7. संगीत, चित्र और साहित्य की नयी स्थिति :-

नवीन परिस्थिति और परिवेश के कारण साहित्य, संगीत और कला को भी संकट का सामना करना पड़ा। उनको आश्रय देने वाले केंद्र तेजी से टूटने लगे थे। कला और संगीत का विशेष घरानों से संबंध हुआ करता था। ये घराने इनकी स्वरूप-रक्षा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संलग्न रहा करते थे और इन घरानों के संरक्षण का दायित्व सामंतवर्ग पर था। मध्यकाल में भक्तकवियों के अतिरिक्त अकबर, जहांगीर, मानसिंह तोमर आदि ने संगीत को प्रश्रय दिया। उनके दरबारों में अनेक कलावंत रहते थे। तानसेन अकबरी दरबार का संगीतज्ञ था। मानसिंह ने गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी, ध्रुपद आदि का आविष्कार किया। मुगल-सल्तनत के समाप्त होने पर संगीत की मौलिकता समाप्त हो गयी। वह छोटे-मोटे सामंतों के आश्रय में किसी प्रकार सांस लेता रहा। जो कुछ शेष था, वह पाश्चात्य संस्कृति को आंधी में समाप्त हो गया। भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप रवि बाबू ने नये संगीत को कल्पना की, जिसमें पूर्व और पश्चिम के स्वरों का मिश्रण था। इसे रवींद्र संगीत की संज्ञा दी गयी। 1919 में अखिल भारतीय संगीत परिषद् की स्थापना हुई। अब भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का कार्य आरंभ हुआ, जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान विष्णुनारायण भातखंडे का है।

आधुनिक काल में कुछ दिनों तक भारतीय चित्रकला पश्चिम का अनुकरण करती रही पर पश्चिम के ढंग के जिन तैल चित्रों का निर्माण किया गया, वे अपनी अभिव्यक्ति में मध्यकालीन थे। ट्रावनकोर के राजा रवि वर्मा के चित्रों की विषयवस्तु पौराणिक और धार्मिक थी। उनके चित्रों की रूपरेखा सुनिर्मित, वर्णयोजनापरक और आकर्षक थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में रवि

वर्मा के अनेक चित्रों को प्रकाशित किया। 1854 में कलकत्ता आर्ट स्कूल की स्थापना के साथ ही भारतीय चित्रकला में नया मोड़ आया। ई.बी. हैबेल इसके अध्यक्ष थे। आगे चल कर हैबेल, अवनींद्रनाथ ठाकुर तथा आनंदकुमार स्वामी ने भारतीय चित्रशैली को नया रूप दिया, जो मूलतः इस देश की होती हुई भी आधुनिक जीवनदृष्टि से अनुमति थी। सन् 1907 में गगनेंद्रनाथ ठाकुर ने इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएंटल आर्ट्स की स्थापना की। इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि भारतीय चित्रशैली का एक स्वतंत्र रूप निर्मित हुआ। चित्रशैली में भी बंगाल ने पहल की और अपनी चित्र-परंपरा को नये संदर्भों में पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया। भारतीय नवजागरण की अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से भी हुई।

नवजागरण का सबसे अधिक प्रभाव बंगला साहित्य पर पड़ा। डॉ. हरदयाल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है "संवत् 1922 में वे (भारतेंदु हरिश्चंद्र) अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गये। उसी यात्रा में उनका परिचय बंगदेश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बंगाल में नये ढंग के सामाजिक, देश-देशांतर संबंधी ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया।"[9]

नयी आर्थिक व्यवस्था, पाश्चात्य शिक्षा और नवागत जीवनपद्धति के कारण इस देश की अपनी पहचान खो गयी थी। पर इस अवरोध ने ही यहां के प्रबुद्ध वर्ग को नये सिरे से अपनी पहचान करने के लिए बाध्य किया। यह पहचान नवीन और प्राचीन के अंतर्विरोध में की गयी। इसे दूसरे शब्दों में पश्चिमीकरण और भारतीयकरण का विरोध भी कहा जा सकता है। इन दोनों की रस्साकशी काफ़ी दिनों तक चलती रही। अंततः नवजागरण के अग्रदूतों ने पश्चिमीकरण के विवेकसम्मत परिवेश में अपनी संस्कृति को नये ढंग से संघटित करने का प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप साहित्यकारों ने अतीत को सामने रख कर अपने को पुनः गौरवान्वित अनुभव किया और देश में उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना को ठोस रूप दिया। आधुनिक काल का अधिकांश साहित्य अपने को पहचानने तथा पाश्चात्य बंधनों से छुटकारा पाने का इतिहास है। अतीत के गौरव को इस देश की सभी भाषाओं में अभिव्यक्त किया गया। इस गौरव के मूल में पुनरुत्थानवाद (रिवाइवलिज्म) न हो कर नवीन जागरण ही क्रियाशील था। यदि कहीं पर इस पुनरुत्थानवाद की ध्वनि सुनायी भी पड़ी तो कालांतर में समाप्त हो गयी। राष्ट्रीयता इस काल का दूसरा प्रमुख स्वर था। सन् 1947 तक इसमें कहीं भी शिथिलता नहीं

दिखायी पड़ती। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात यह स्वर आत्मालोचन में बदल गया, किंतु सन् 1960 के आसपास आधुनिकता का जो प्रभाव हिंदी साहित्य पड़ा, उससे साहित्यिक प्रगति की दिशा बदल गयी।

2.2 आधुनिकता :-

हिंदी साहित्य का सातवां दशक (1960-1970) आधुनिकता से खास तौर पर प्रभावित है। इससे ध्वनित होता है कि यह 'आधुनिक' से कुछ अलग है। इसलिए यह आवश्यक है कि इन दोनों शब्दों का अर्थभेद कर लिया जाये। 'आधुनिक' शब्द की व्याख्या प्रारंभ में की जा चुकी है, अतः उसे दुहराना कोई अर्थ नहीं रखता। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया गैर-रोमेंटिक और अमिथकीय साक्षात्कार 'आधुनिकता' है। 'आधुनिकता' का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ और प्रवृत्ति को समझ लिया जाये। आधुनिक काल अपने ज्ञान-विज्ञान और प्रविधियों के कारण मध्यकाल से अलग हुआ। यह काल औद्योगीकरण, नगरीकरण और बौद्धिकता से संबद्ध है, जिससे नवीन आशाएं उभरी और भविष्य का नया स्वप्न देखा जाने लगा। देश, धर्म, राष्ट्र, ईश्वर आदि की नयी-नयी व्याख्याएं की जाने लगीं।

एक समय तक इहलौकिक हो कर यह आधुनिक दृष्टि प्रगतिशील बनी रही। "प्रत्येक देश में पुनर्जागरण (रेनासां) आया, बहुत से परतंत्र देश स्वतंत्र हुए, 'अपने-अपने सपने' ले कर उन्होंने। अपने-अपने ढंग की सरकारें बनायीं। एक बिंदु पर खड़े हो कर मनुष्य ने पाया कि जिस औद्योगीकरण और प्रविधीकरण के सहारे उसने 'परी देश' का सपना देखा था, वह साकार नहीं हो सका। सरकारें स्थिर व्यवस्था में बदल गयीं। लोकतंत्र तथा साम्यवादी सरकारें समान रूप से निराशाजनक सिद्ध हुई। व्यक्ति या तो व्यवस्था का पुर्जा हो गया या प्रविधि का उसका अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गयी।"[10] इस खोये हुए व्यक्तित्व की खोज प्रक्रिया का नाम 'आधुनिकता' है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को बहुत कुछ बुद्धि सम्मत बना दिया था। नीत्शे की इस घोषणा से कि 'ईश्वर मर गया', बौद्धिक जगत में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की जो कसौटियां धर्मग्रंथों में निर्धारित की गय थी,

उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गयी और पुराने मूल्य विघटित हो गये। मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थिति (सिचुएशन) में वह असहाय, क्षुद्र और निरर्थक प्राणी है। विज्ञान की प्रगति ने भी निश्चयवादी सिद्धांत को खोखला सिद्ध कर दिया। क्वांटम सिद्धांत और सापेक्षतावाद से सिद्ध हो गया कि न तो कोई सार्वभौम सत्य होता है और न शाश्वत नैतिकता अणुओं की सत्ता के असिद्ध हो जाने के बाद अणु शक्ति (एनर्जी) में बदल जाता है और शक्ति अणु में निश्चयात्मकता की समाप्ति की अंतिम घोषणा हो गयी अस्तित्ववादी दर्शन ने इस पर अपनी मुहर लगा कर इसे और भी पुष्ट कर दिया।

अस्तित्ववादी दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया। उसने अपने को ठोस अनुभवों तथा प्रत्येक व्यक्ति के बुनियादी सवालों के साथ जोड़ा। ये बुनियादी सवाल हैं-व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा, अकेलापन, मृत्युबोध, स्वतंत्रता, त्रास आदि। इसके साथ ही वह सामूहिकतावाद और निश्चयवाद के विरुद्ध भी खड़ा हुआ। वह उन समस्त विचारों के विरुद्ध है जो व्यक्ति को अ-मनुष्य और अस्तित्वहीन बनाते हैं। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वतंत्र है। वह न वस्तु है न मशीन है, वह क्रियात्मक शक्ति है। वह स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ है और इसके लिए खुद जिम्मेदार है। कीगार्ड, सा आदि के अस्तित्ववादी विचारों का प्रभाव आधुनिक पश्चिमी साहित्य पर खूब पड़ा है।

सातवें दशक के हिंदी साहित्य में अकविता, अकहानी, अनाटक, अनुपन्यास को जो चर्चाएं हुई ('चर्चाएँ' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इन्होंने आंदोलन का रूप नहीं लिया), उनके आधार में आज पर लिखा गया साहित्य केवल परंपरागत रूपों को तोड़ने का प्रयत्न नहीं है, बल्कि इन रूपों के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन आदि को भी व्यक्त किया गया है।यह अभिव्यक्ति किस दर्जे की है, यह अलग बात है।

आधुनिकता का यह बोध एक वास्तविकता है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारे देश में इस बोध को से आने की बहुत कुछ जिम्मेदारी हमारे भ्रष्टाचारी लोकतंत्र की भी है। पर आठवें दशक के आरंभ में हमारे साहित्यकारों में भी इससे छुटकारा पाने को बेचैनी दिखायी पड़ने लगी है। यो कामू और सार्त्र ने भी अलग-अलग ढंग से व्यर्थता से उबरने को, परिस्थितिजन्य बाधाओं में कर्म करने की चेतना उत्पन्न की है। सार्त्र का अस्तित्ववाद कर्म का ही दर्शन है। किंतु, सार्त्र और कामू का

दर्शन हमें सचेत कर सकता है, अपनी दृष्टि नहीं दे सकता। बदलाव, संघर्ष और अर्थान्वेषण के लिए हमें स्वयं अपनी राह बनानी होगी। सार्त्र मार्क्सवाद का समर्थक होते हुए भी व्यक्तिवादी भी है। उसका अपना अस्तित्ववाद फ्रांसीसी परंपरा से सर्वथा अलग नहीं है। अतः हमारे भावी जीवन, चिंतन, कला, साहित्य आदि का भविष्य दो बातों पर निर्भर दिखायी दे रहा है: एक तो अर्थहीनता की स्वीकृति पर और दूसरे, उसके भीतर से गुजरते हुए अपने से संदर्भित अर्थान्विषण की प्रक्रिया पर।

2.2.1 आधुनिकता की अवधारणा :

1. आधुनिकता का अर्थ एवं परिभाषा :-

वर्तमान में सबसे अधिक प्रचलित शब्द है-आधुनिक। सामान्य जीवन एवं भाषा में इस शब्द का प्रयोग आम बन गया है। अंग्रेजी शब्द 'मॉडर्न' की व्युत्पत्ति लॅटिन से हुई है और शब्दकोश के अनुसार इसका अर्थ है- " 'वर्तमान या हाल ही में घटित।' लैटिन में इस शब्द का अर्थ था 'इस काल में।' किंतु धीरे-धीरे अंग्रेजी में इस शब्द का प्रयोग कुछ अलग अर्थ में होने लगा और इसका अभिप्राय हो गया-सामाजिक संरचना एवं मूल्यों में परिवर्तन या फिर नए मूल्यों एवं एक नई सोच का जन्म।"[11] अर्थात् 'आधुनिक' शब्द दो अर्थो में प्रयुक्त होता है पहला, काल से संबंधित अर्थ और दूसरा, प्रवृत्तिमूलक-अर्थ। डॉ. विनयकुमार पाठक के अनुसार " 'आधुनिक' का शाब्दिक अर्थ 'आजकल' या 'वर्तमान' है, जो पूर्व में घटित न हुआ हो और अब नये ढंग से अवतीर्ण हुआ है। यह प्रायः परंपरा के विपरीतार्थक में प्रयुक्त होता है। यह वर्तमान की कोख से जन्म लेता और बृहद सीमाओं को स्पर्श करता है। यद्यपि समसामयिकता और आधुनिकता समय के साथ-साथ चलते हैं...।"[12] इस दृष्टि से प्रत्येक नया काल अपने आप में आधुनिक होता है। परंपरा का विरोध तथा नयापन इस शब्द की विशेषता रही है।

आधुनिकता का उद्भव पाश्चात्य में हुआ है। नवीन खोजों की शुरुआत का परिणाम आधुनिकता माना गया पाश्चात्य शब्दावली में आधुनिकता का अर्थ-"स्थापित नियमों, परंपराओं एवं मान्यताओं से अलग हटकर विश्व में मनुष्य की स्थिति एवं इसके कार्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाना है।"[13] अर्थात् प्राचीनकाल से चली आ रही परंपराओं, मान्यताओं एवं नियमों को छोड़कर नवीनता भरी दृष्टि का स्वीकार कर लेना आधुनिकता है। आधुनिकता को आत्मसात करने वाला

व्यक्ति परंपरा का स्वीकार नहीं करता। वह परंपरा को प्रगति एवं कार्यकुशलता में बाधक बननेवाला ढकोसला मानता है। पारंपरिक जीवन-मूल्य उसके लिए बंधन बन जाता है। इसलिए वह उसका अस्वीकार करता है यदि उसे मजबूरन परंपरागत लोगों के साथ रहना पड़ता है तो उनसे अलग अपनी एक निजी पहचान बनाने का प्रयत्न करता है। समाजशास्त्री अभिजित पाठक के अनुसार "आधुनिक होने का अर्थ जीने के वैज्ञानिक/औद्योगिक जीवन-यापन की एकरूप/सार्वभौमिक संस्कृति को स्वीकार करना है। दूसरे शब्दों में आधुनिक होने का अर्थ पारंपरिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और प्रजातीय समुदायों के बीच के अंतर को समाप्त कर देना है। यही विश्व-स्तर पर सोचने जैसा है जहाँ स्थानीय ज्ञान-पद्धतियों अप्रासंगिक हो जाती है।"[14] तात्पर्य यह कि आधुनिकता विभिन्न संस्कृतियों को एक-दूसरे के निकट ला खड़ा करती है और उनके बीच रहे अंतरों को समाप्त करके वैश्विक संस्कृति का सृजन करती है। ऐसी स्थिति में परंपरा से चली आ रही सारी ज्ञान-पद्धतियाँ बेकार-सी हो जाती है और नई ज्ञान पद्धतियों एवं विचारधाराओं का जन्म होता है।

कई विद्वानों ने आधुनिकता के अर्थ को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, जिनमें से कुछेक परिभाषाएँ यहाँ पर उदधृत है:

मैक्स वेबर के अनुसार - "आधुनिकता व्यक्ति एवं समाज के सदा से चले आ रहे स्वरूप को मिलनेवाली स्पष्ट स्वीकृति है। आधुनिक अस्मिता अतीत में की गई अस्मिता की संरचनाओं की श्रृंखला में मात्र अगली कड़ी नहीं है, बल्कि यह इन संरचनाओं के मूल में उपस्थित कारणों पर से परदा उठाने की प्रक्रिया है।"[15] मैक्स वेबर की परिभाषा से दो तथ्य उजागर होते हैं कि आधुनिकता व्यक्ति एवं समाज के द्वारा की गई स्वीकृति है तथा आधुनिकता अतीत की संरचनाओं के कारणों पर से परदा उठाने की प्रक्रिया है।

आधुनिक समाज को केन्द्र में रखकर पीटर बर्जर ने कहा कि "आधुनिक समाज व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कुछ ऐसी गारंटी करता है कि इस समाज में जीनेवाला आधुनिक व्यक्ति अपने-आपको पारंपरिक समाज में जीनेवाले लोगों से अलग समझता है। आधुनिक व्यक्ति, जो सामाजिक भूमिकाओं एवं संस्थाओं की पारंपरिक संरचनाओं से अपने आपको मुक्त कर चुका है, एक नग्न व्यक्तित्व की तरह होता है जो संस्थागत भूमिकाओं से स्वतंत्र है।"[16] आधुनिकता की ओर संकेत

करनेवाली आधुनिक समाज की इस परिभाषा में पीटर बर्जर ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं पारंपरिक समाज से अलगाव जैसी आधुनिक समाज की विशेषताओं को व्याख्यायित किया है।

आधुनिकता को व्याख्यायित करते हुए शील्स ने आधुनिक व्यक्ति का सांसारिक रूप चित्रित किया है, यथा "आधुनिक होने का अर्थ है 'एडवांस' होना, अर्थात् धनी होना, पारिवारिक व धार्मिक सत्ता के झमेलों से मुक्त होना। इसका अर्थ है- तार्किक व बुद्धिवादी होना। यदि कोई ऐसा बुद्धिवादी हो जाता है तो उसके लिए सांसारिकता (वैज्ञानिकतावाद एवं सुखवाद को छोड़कर और कोई परंपरा नहीं रह जाती।"[17] आधुनिकता की इस परिभाषा में व्यक्ति का एक नया रूप सामने आता है। वह वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग करके सांसारिक सुख को महत्त्व देता है। पारिवारिक व धार्मिक सत्ता-बोध से वह दूर रहता है। तार्किकता एवं बौद्धिकता के जरिए वह पारंपरिक जीवन-पद्धति से अपने को मुक्त कर लेता है। सुखपूर्ण भावी जीवन के लिए वह वर्तमान में ही आयोजन कर लेता है।

डॉ. विनयकुमार पाठक के अनुसार- "आधुनिक बोध का अर्थ आधुनिक दृष्टि है जो सोचने, देखने और जीने के अद्यतन आचरण से आपूरित अकुंठ का स्वीकार है इसमें महत्त्वपूर्ण वह दृष्टि है जो प्रायः अपने और अपने संबंधों से बाहर जाकर तटस्थ ढंग से विश्लेषण कर सकती है। आधुनिक होने का अर्थ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों स्तरों पर मनुज वर्तमान परिवेश और अद्यतन बौद्धिक आवेश से आवेष्टित हो। ज्ञान-विज्ञान और प्रौद्योगिकी से वर्तमान में जो नवीन बोध आया है, यह आधुनिकता बोध है जो अरोमांटिक और अमिथिकीय है।"[18]

प्रस्तुत परिभाषा से आधुनिकता की एक प्रमुख विशेषता सामने आती है, वह है- तार्किकता। तार्किकता के आधार पर व्यक्ति में तटस्थ दृष्टि का विकास होता है। तार्किक तटस्थ दृष्टि से वह अपने संबंधों को एवं अपने परिवेश को देखता है। व्यक्ति की इस तार्किक दृष्टि एवं आधुनिकता बोध का प्रमुख कारण है - ज्ञान-विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास।

सुधीश पचौरी का मंतव्य है कि "आधुनिकता की विचार व्यवस्था इस प्रकार चलती है: राष्ट्र-राज्य जो एक समाज का अंतिम रूप है, जो केंद्रीकृत अधिरचना है, वह एक सामूहिक और आधुनिक सभ्यता की अनिवार्य इच्छा है, वह एकाधिकारी है, वही प्रतिनिधि है, वह ईश्वर की जगह ले लेती है, वह तर्क की श्रेष्ठतम स्थिति है, वह इतिहास का अंतिम निचोड़ है, इसमें विश्वास की जगह प्रकृति-विज्ञान है, रहस्य खत्म हो चले हैं।"[19] अर्थात् आधुनिकता में सभी कुछ केन्द्रीकृत हो चुका है। विज्ञान

की नवीनतम खोजों ने सभी रहस्यों को खत्म कर दिया है और ईश्वर की जगह विज्ञान स्थायी हो गया है। तार्किक शक्ति इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

अतः आधुनिकता अर्थात् एक प्रवृत्ति के रूप में, विचारधारा के रूप में, एक चिंतन के रूप में परंपरागत मान्यताओं तथा परंपरागत नियमों के विरुद्ध एक नवीन बौद्धिक एवं तार्किक जीवन-शैली। ज्ञान की नई शाखाओं के उद्भव के कारण समाज में आया बदलाव 'आधुनिकता' है। आधुनिकता के कारण समाज दो स्वरूपों में दिखाई पड़ता है एक, परंपरा से मुक्त समाज और दो, परंपरा से आबद्ध समाज। पारंपरिक समाज एक ऐसा समाज होता है जिसने परंपरा से चले आ रहे सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं एवं विचारों से लिप्त जीवन शैली का स्वीकार किया है। पारंपरिक समाज के लोग किसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं समझते और न ही कल्पना कर सकते हैं। पूरा समाज पुरानी प्रथाओं के अनुसार जीता है। इसमें व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं होता। जैसे कि भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था का ढाँचा। परंपरा से मुक्त जो आधुनिक समाज है, वह पुरानी मान्यताओं, प्रथाओं एवं नियमों का त्याग करता है। आधुनिक व्यक्ति स्वतंत्र रूप से निर्णय करता है एवं उसकी अपनी एक जीवन शैली होती है। पारंपरिक बंधनों से मुक्त होकर अपनी जीवन शैली में परिवर्तन करने के लिए वह स्वतंत्र होता है।

तार्किकता आधुनिकता की आधारशीला है। तार्किकता के परिणामस्वरूप तटस्थ दृष्टि का विकास होता है। युक्तिसंगत तार्किकता से निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। इससे देखने, समझने एवं सोचने की शक्ति विकसित होती है। तार्किकता के कारण ही आधुनिकता सफल हुई और उसने वैश्विक स्तर पर सामाजिक ढाँचे में उथल-पुथल मचा दी।

2.2.2 आधुनिकता का उद्भव :-

आधुनिकता का अर्थ जानने के बाद आधुनिकता का उद्भव स्थल, उद्भव समय एवं उद्भव के कारणों को जानना जरूरी बन जाता है।

आधुनिकता अपने प्रारंभिक समय में 'प्रबोधन युग' के रूप में जानी जाती थी। अतः आधुनिकता के उद्भव से परिचित होने के लिए 'प्रबोधन' को समझ लेना आवश्यक बन जाता है। समाजशास्त्री अभिजित पाठक के अनुसार - "यूरोपीय प्रबोध की अभिव्यक्ति अठारहवीं शब्दी के

मध्य में मॉटेस्क्यू, वोल्टेयर, डेविड ह्यूम, रुसो, कांट एवं एडम स्मिथ की कृतियों में होती है। यह एक नये युगबोध का प्रारंभ था एक ऐसा युगबोध जो तर्क, अनुभववाद, विज्ञान, विकास, धर्मनिरपेक्षता एवं विश्ववाद पर आधारित था। दूसरे शब्दों में, विज्ञान की सफलता के प्रति लोग बहुत आशावादी थे। वोल्टेयर ने न्यूटन को एक नए आदर्श हीरो के रूप में बतलाया गया है। बेवेल ने इस युग को 'तर्क की ज्योति' कहा क्योंकि यह अंध विश्वास एवं अज्ञान की गहरी निद्रा से समाज को जगाने की सामान्य प्रक्रिया थी।"[20] विज्ञान की प्रारंभिक सफलता को लेकर तत्कालीन चितक एवं साहित्यकार अत्यंत आशावादी थे। तत्कालीन समाज अंधविश्वास के अंधकार में भटक रहा था। वैज्ञानिक खोजों के परिणाम स्वरूप अंधविश्वासों पर से परदा हटने लगा। तार्किकता के सहारे ज्ञानोदय हो रहा था। समाज में व्याप्त अज्ञान को दूर करने की यह शुरुआत थी। अभिजित पाठक का मंतव्य है कि - "प्रबोधन परियोजना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यह विज्ञान को पूर्णतः वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिक ज्ञान मानता है।"[21] प्रबोधन को व्याख्यायित करते हुए इमानुएल कांट ने लिखा है - "मनुष्य द्वारा अपने-आप पर थोपी गई अप्रौढ़ता से निकलने को प्रबोधन कहते हैं। अपनी समझ को निश्चित दिशा में प्रयोग नहीं कर पाने की अक्षमता को अप्रौढता कहते हैं। यह अप्रौढता अपने-आप पर स्वयं की थोपी हुई है तर्क स्वयं समाप्त होने लगता है और ऐसा इसलिए नहीं कि इसमें समझने की क्षमता नहीं है बल्कि ऐसा इसलिए है कि इसमें दृढ़ता एवं साहस की कमी है। इसमें यह इच्छा नहीं है कि यह बिना किसी बाह्य सत्ता के अपनी सहायता करें बुद्धिमान बनो जागो हिम्मत करो कि तुम अपनी समझ के अनुसार व्यवहार करो। यह प्रबोधन युग का नारा है।"[22] अर्थात् मनुष्य अज्ञान और अंधकार में जीता है। इस अज्ञान और अंधकार के लिए मनुष्य स्वयं जवाबदार है क्योंकि बाह्य सत्ता की सहायता के बिना इसे दूर करने के लिए उसमें दृढ़ता एवं साहस नहीं है। जागृत हो के, अपनी सोच एवं समझ को निश्चित दिशा देकर, बुद्धिमान बनकर पूरी क्षमता एवं साहस के साथ स्वतंत्रता से जीना ही कांट के अनुसार प्रबोधन है अर्थात् स्वयं अपने आप को जागृत करना प्रबोधन है।

इस प्रकार 'प्रबोधन युग' यह आधुनिकता का प्रारंभिक चरण, हिस्सा तथा भूमिका है। आधुनिकता के उद्भव के संदर्भ में प्रमोद तलगेरि का मत है कि - "सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में एक महत्वपूर्ण वैचारिक परिवर्तन आया इसके तहत दर्शन एवं विज्ञान को धर्म एवं धर्मविज्ञान से बिलकुल अलग करके देखा जाने लगा। इस विभाजन के बाद यूरोप में भिन्न प्रकार का विकास

प्रारंभ हुआ। इसने मनुष्य एवं प्रकृति के संबंध को पूरी तरह बदल दिया। प्रकृति अब वैज्ञानिक अनुसंधान कर, नियंत्रण में करने की वस्तु बन गई। भौतिक वास्तविकता के प्रति विवेचनात्मक विश्लेषण के इस नए रवैये के साथ ही मध्यकालीन यूरोप एक नए युग में प्रवेश कर गया। इस नवीन युग के प्रतिपादक थे देकार्त, न्यूटन, बैंकन, कांट जिन्होंने पारंपरिक सोच को चर्य की सत्ता से मुक्त किया और मनुष्य के स्वतंत्र एवं वैयक्तिक विचारों का महत्व स्थापित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान एवं तकनीक में होनेवाली प्रगति ने यूरोप के सामाजिक ढाँचे को पूरी तरह बदल दिया।"[23] कुछ इसी ही प्रकार पाउलोस मार ग्रेगोरिओस ने आधुनिकता का उद्भव स्थल, समय एवं कारणों के संदर्भ में कहा हैं "अठारवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप में बौद्धिकता के प्रति जो उत्तेजना आयी वहीं से आधुनिक युग का प्रारंभ माना जा सकता है। सन् 1789 में हुई फ्रांसीसी क्रांति पश्चिमी समाज में इस बौद्धिक-मानसिक तथा राजनीतिक उत्तेजना की चरम सीमा थी। यूरोप में यह प्रक्रिया अठारवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही और अब भी उन भू-भागों में फैल रही है जहाँ की संस्कृतियों ने नगरीय प्रौद्योगिकी औद्योगिक तंत्र को इसकी पूँजीवादी उत्पाद प्रविधि तथा मानवीय श्रेष्ठता एवं स्वायत्तता पर आधारित कैल्विनवादी-व्यक्तिवादी मूल्य, संस्कृति, चिकित्सापद्धति, संचार तंत्र शिक्षा पद्धति तथा राजनीतिक-आर्थिक संस्थाओं को अपना लिया है। आज के हम सभी 'आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोग' इसी उत्तेजना एवं प्रक्रिया के उत्पाद हैं। भारत में भी यह प्रक्रिया बहुत बड़े स्तर पर फैल चुकी है लेकिन अभी तक इसने सभी लोगों को अपने प्रभाव में नहीं लिया है क्योंकि अभी तक सारे लोग शिक्षित नहीं हुए हैं।"[24] इन संदर्भो से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिकता का उद्भव स्थल यूरोप रहा है तथा अठारहवीं शताब्दी के मध्य में आई बौद्धिक क्रांति उसका उद्‌भवकाल माना जा सकता है।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में विभिन्न वैज्ञानिक खोजों का सिलसिला शुरू हुआ। परिणामस्वरूप प्रबोधन युग' का जन्म हुआ। समाज पर बौद्धिक-वैचारिक परिवर्तन लक्षित होने लगा। फलश्रुति यह हुई कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते आधुनिकता ने अपनी जड़ें जमा ली। बौद्धिक उन्नति ने जिस नवीन युग को प्रस्थापित किया उसे देकार्त, कांट, बैकन जैसे चिंतकों ने व्याख्यायित करके एक नवीन विचारधारा में परिणत कर दिया।

बौद्धिक क्रांति ने समाज के पूरे ढाँचे पर अपना प्रभाव छोड़ा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में इसका प्रभाव रहा। विज्ञान ने धर्म पर सवाल खड़े कर दिए। प्रकृति और मनुष्य के बीच के संबंध बदल गए। प्रकृति अब चमत्कारिक दैवीय रूप न रहकर वैज्ञानिक अनुसंधान के द्वारा नियंत्रित की जाने वाली वस्तु बन गई। भौतिकता एवं वास्तविकता मानव जीवन के आधार बन गए। पारंपरिक ईश्वरीय सत्ता से मनुष्य को मुक्त कर दिया गया। वैज्ञानिक एवं तकनीकि प्रगति ने यूरोपीय समाज के ढाँचे को पूरी तरह बदल दिया। अतः मानव जीवन में आनेवाले इन बदलावों के कारण आधुनिकता का उद्भव हुआ।

आधुनिकता के उद्भव का कारण देते हुए सुधीश पचौरी ने कहा है -"प्रकृति नियंत्रण योग्य है कारण-कार्य श्रृंखला अनंत है, ज्ञान लक्ष्य को निर्धारित करता है, लक्ष्य है स्वास्थ्य, आनंद, दुःख से छुटकारा दुःख का कारण क्या है? अभाव। यही अन्याय का कारण है। 'अभाव' को दूर किया जा सकता है। ज्ञान का यह आधुनिक मार्ग सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में बना। विकास की अवधारणा यहीं से आई। आधुनिकता की यह योजना मानवता की तमाम जरूरतों को पूरा कर सकती थी।"[25] अर्थात् आधुनिकता का उद्भव मूलतः मनुष्य की जरूरियाली को पूर्ण करने के लिए हुआ। जरूरत पूर्ण न होने पर दुःख उत्पन्न होता है। वैज्ञानिक आविष्कार जरूरतों को पूर्ण करके अभाव का अंत करते हैं फलतः मनुष्य स्वस्थ एवं आनंदित रहता है इसी वैज्ञानिक सोच ने आधुनिकता को जन्म दिया।

2.2.3 आधुनिकता का प्रभाव :-

आविष्कृत आधुनिकता ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी मानव जीवन से जुड़े क्षेत्रों पर अपना अमीट प्रभाव छोड़ा है। आधुनिकता ने जितने सुविधा संपन्न प्रभाव छोड़ें उससे कई अधिक जटिल समस्याओं को उत्पन्न किया है।

आधुनिकता के प्रभाव के संदर्भ में प्रमोद तलगेरि ने कहा है कि "उन्नसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान एवं तकनीक में होनेवाली प्रगति ने यूरोप के सामाजिक ढाँचे को पूरी तरह बदल दिया। कृषि समाज का स्थान नगरीय औद्योगिक समाज ने ले लिया नगरीकरण की इस तीव्र प्रक्रिया के फलस्वरूप बड़े शहरों का जन्म हुआ और इसके साथ सामाजिक व्यवहार में बहुत परिवर्तन आया। नई शहरी संस्थाओं का निर्माण हुआ, जैसे ऑफिस, बैंक, रेल यातायात, बीमा कंपनियों,

उद्योगशालाएँ, शेयर बाजार, अधिकारी तंत्र। स्वचालित वाहनों एवं बहुमंजिली इमारतों का निर्माण शुरू हो गया तथा संयुक्त परिवार टूट गए। जीविका की तलाश में लोग शहरों के सुसंगठित उद्योगों की तरफ आने लगे। अब लोग छोटे फ्लैटों में रहते थे और फैक्ट्री या ऑफिस में काम करते थे। मानव व्यवहार औद्योगिक अनुशासन से नियंत्रित होने लगा जिससे जीवन में एक यांत्रिक नियमितता आ गई। शहरों का जीवन अधिक उन्मुक्त एवं किंतु गुमनाम हो गया।"[26]

अतः स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकि विकास ने औद्योगिक क्रांति की और इसी औद्योगिक क्रांति ने समाज में समूचा परिवर्तन ला दिया। गाँव टूटते गए और शहर अस्तित्व में आते गए। गाँव के लोगों का आकर्षण बहुमंजिली इमारती वाले शहर बन गए। सामाजिक व्यवहार में औपचारिकता आती गई।

आधुनिकता के प्रभाव-स्वरूप परंपराओं, मान्यताओं, कुरूढियों, प्रथाओं आदि के बंधन शिथिल हुए आधुनिकता ने न केवल परंपरिक सामाजिक ढाँचे पर प्रहार किया, किन्तु पारंपरिक समाज की अतार्किक धार्मिक आस्था पर भी चोट की। वैज्ञानिक तथ्यों ने ईश्वर की शक्ति पर भी शंका की। चमत्कार, रहस्य, अंधविश्वास आदि पर से परदा हटने लगा समाज की पारंपरिक संस्कृति को आधुनिकता ने पीछे धकेल दिया।

आधुनिकता ने राष्ट्र की शक्ति को मजबूत करने के लिए सैन्यशक्तिको महत्त्व दिया। राष्ट्र की रक्षा हेतु अत्याधुनिक टेकनोलोजी का उपयोग करके अत्यंत घातक अस्त्र- शस्त्र विकसित किए गए। परमाणु-बॉम इसी वैज्ञानिक आविष्कारों का परिणाम है। कम्प्युटर के उदभव ने इसमें चार चांद लगा दिया है।

भारतीय समाज में आधुनिकता के प्रभाव को समझ पाना कठिन है क्योंकि भारतीय समाज की समाज व्यवस्था की संरचना ही कुछ ऐसी है जिसमें भारतीय समाज ने आधुनिकता के सारे उपकरणों का स्वीकार करके सुविधा संपन्न जीवन व्यतीत करना तो शुरू कर दिया, किन्तु भारतीय समाज संपूर्ण आधुनिकता को आत्मसात नहीं कर सका। भारतीय समाज में आज भी अंधविश्वास, कुरीतियों, कुप्रथाएँ एवं मान्यताएँ समाज को जकड़े हुए है। इसीलिए इन्द्रनाथ चौधरी ने कहा कि "आधुनिकता में पारंपरिक एवं नवीन दोनों मूल्य समाहित हो जाते हैं।"[27] भारतीय समाज दो स्वरूपों में विभक्त है- परंपरा के साथ जीनेवाला समाज और परंपरा से मुक्त होकर जीनेवाला समाज ।

समय प्रवाह के साथ-साथ आधुनिकता ने समाज में कई समस्याएँ उत्पन्न की और आधुनिकता अपने निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायी। जिस विज्ञान ने सुविधाएँ दी उसी विज्ञान के विकास ने मानव जाति के भविष्य पर प्रश्नार्थ लगा दिया। अभिजित पाठक ने आधुनिकता की नकारात्मक छवि को साफ जाहिर की, जिसमें "आधुनिकता में सब कुछ अच्छा ही नहीं है। विज्ञान मुझे अनिश्चितताएँ और बेचैनियाँ देता है। इसकी निस्पृह वस्तुनिष्ठता, मूल्य-निरपेक्षता एवं अवैयक्तिकता में भयानक हिंसा निहित है।यह हिंसा प्रकृति के प्रौद्योगिकीय दोहन, विश्व के उपनिवेशीकरण और आधुनिक- वैज्ञानिक युद्ध के रूप में व्यक्त होता है।"[28] यह स्पष्ट है कि आधुनिकता के कारण आज विश्व पर युद्ध की स्थिति बनी रहती है। प्रकृति के सतत दोहन के कारण मानव-जीवन पर कुदरती आपत्तियों का खतरा मँडरा रहा है। दो विश्व युद्ध इसी आधुनिकता का परिणाम है। आधुनिकता में जो हिंसा और बर्बरता छिपी रही थी उसे दोनों विश्वयुद्धों ने प्रकाशित कर दिया है। विश्व युद्धों के बाद उत्पन्न परिस्थिति को कृष्णदत्त पालीवाल ने कुछ इस प्रकार व्याख्यायित किया है "हर क्षेत्र में पतन और आधुनिकतावाद से उत्पन्न केंद्रीयतावाद का आतंक हर जगह सांस्कृतिक संशय मूल्यांधता, बौद्धिक नपुंसकता का असहाय-आत्मनिर्वासन, आत्म-परायेपन का बोध।"[29] अर्थात् आधुनिकता ने विश्व-युद्ध का निर्माण किया। युद्धों के पीछे सत्ता स्थापित करने की मानसिकता थी। वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग करके एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को पराजित करने का प्रयत्न करता था। युद्धों का परिणाम यह हुआ कि लाखों लोगों की हिंसा के बाद महासत्ताएँ अस्तित्व में आयी अर्थात् आधुनिकता ने केन्द्रवाद को जन्म दिया विज्ञान के इस विद्यालक स्वरूप से मानव अस्मिता तहस-नहस हो गई। आधुनिकता की बौद्धिकता अचानक बेकार सिद्ध हुई।

भारतीय संदर्भ में आधुनिकता के प्रभाव को लेकर कृष्णदत्त पालीवाल कहते हैं कि "आधुनिकता ने भारतीय सभ्यता को, संस्कृति को केले के पत्तों की तरह अपनी आवारा हवाओं से चीर दिया। लेकिन विडंबना यह है कि इस यूरोपीय आधुनिकता ने 'प्रगति' और 'विकास' के सुनहरे सपने दिखाए। 'सेकुलर' फिलासफी का पाठ पढ़ाया और ऐसे कौशल से पढ़ाया कि उसके भीतर से जातिवाद, प्रदेशवाद, सांप्रदायिकतावाद, व्यक्तिवाद और अधिनायकवाद के अंकुर फूटकर वृक्ष बने।"[30] अर्थात् सन् 1850 के बाद भारत में आयी हुई आधुनिकता ने भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव छोड़ा। आधुनिकता ने प्रगति और विकास के नाम पर भारतीय समाज को सुख-सुविधा के लिए

प्रसाधनों की आपूर्ति की शिक्षा के माध्यम से समाज में जागृति फैलाने का प्रयत्न किया। सभी का विकास करने का सपना दिखाया। किन्तु भारत में आधुनिकता का परिणाम यह हुआ कि पूरा राष्ट्र जातिवाद, प्रांतवाद, सांप्रदायिकतावाद जैसी समस्याओं में घिर गया। मूलतः जातिवाद जैसी समस्या भारत की प्राचीन समस्या रही है, किन्तु आधुनिकता ने इसे और अधिक सशक्त किया। इस संदर्भ में सुधीश पचौरी का मंतव्य इस बात को अधिक स्पष्ट कर जाता है, उन्होंने कहा कि -"अपने समाज के संदर्भ जागृत करके देखें। अल्पसंख्यकों, स्त्रियों और पिछड़ों, दलितों की अस्मिताएँ अब तक दबी रही हैं। पिछली दो सदियों में अधिक मजबूत हुई ब्राह्मणवादी व्यवस्था और पश्चिमी आधुनिकतावादी विमर्श की गहरी मित्रता के चलते ऐसा हुआ है। उपनिवेशवादी विमर्श और ब्राह्मणवादी विमर्श उस आधुनिकतावादी विमर्श में खान-पानी ही बने जो यूरोप में चला और 'अन्य' को हाशियों पर डालता रहा, दबाता रहा।"[31] अर्थात् भारत में आई हुई आधुनिकता का फायदा एक विशेष वर्ग को ही हुआ । इसका मतलब यह हुआ कि भारत में भी आधुनिकता ने केन्द्रवाद को अधिक महत्व दिया। ब्राह्मण वर्ग भारत का चीर-स्थायी केन्द्र रहा है। परंपराओं, मान्यताओं, कुप्रथाओं आदि को छोड़ने की बातें खोली सिद्ध हुई। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपने फायदे के लिए आधुनिकता का उपयोग किया और आधुनिकता ने अपनी उपनिवेशवादी दृष्टि को सफल करने के लिए ब्राह्मणवादी व्यवस्था का उपयोग किया। फलतः हाशिये के लोग हाशिये पर ही रह गए।

अंततः इतना स्पष्ट है कि आधुनिकता अर्थात् एक निश्चित विचारधारा को व्याख्यायित करने वाला पद है। जिसमें पुराने के विरुद्ध नये का संघर्ष है। विज्ञान, तर्क एवं बुद्धि इसके प्रमुख हथियार है। वैज्ञानिक आविष्कार एवं औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप मानव जीवन में आया हुआ परिवर्तन आधुनिकता का परिचय है। मानवी आवश्यकताओं को पूर्ण करना आधुनिकता लक्ष्य है। इसके लिए आधुनिकता ने प्रकृति का दोहन किया। मानव द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेने पर ईश्वर की शक्ति पर भी शंका उत्पन्न हुई। अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में उद्भवित होनेवाली आधुनिकता ने संपूर्ण विश्व पर अपना प्रभाव छोड़ा। मानव जीवन में आनेवाली सुविधाओं को लेकर संपूर्ण विश्व इससे आकर्षित था। किन्तु दो विश्व-युद्ध, सामाजिक विभाजन एवं अंतर्विरोधों को लेकर आधुनिकता के प्रति मोहभंग हुआ।

2.3 आधुनिक युग बोध के आयाम :-

स्वातन्त्र्योत्तर पीढ़ी के रचनाकारों ने अपने पक्ष के समर्थन में रचना-प्रक्रिया की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। इस व्याख्या को सैद्धान्तिक रूप देने के लिए उन्हें 'आधुनिकता' तथा 'आधुनिक युगबोध' जैसे पारिभाषिक शब्दों को गढ़ना पड़ा है। अविवेकपूर्ण ढंग से आधुनिकता की हर एक फैशन तोता-रटन्त अन्धानुकरण या गतानुगतिका मात्र है, जो इस आशंका का परिणाम है कि हम अनाधुनिक न समझ लिये जाएं और 'आधुनिकता' के विभिन्न पहलुओं का योगदान रहा है।

2.3.1 साहित्य और परिवर्तित परिवेश :-

इसी एक तत्व के आधार पर काव्य-साहित्य की स्थिति मानना मूल होगी। सफल साहित्य में इस तत्व के साथ उन तत्वों का भी योग रहता है, जिनका स्वरूप जीवन की गति के साथ परिवर्तित होता रहता है और साथ ही, जिनसे एक विशेष प्रक्रिया द्वारा सम्बद्ध होकर यह शास्वत तत्व अपने मूलरूप में रहता हुआ भी विकसित होता रहता है। प्रत्येक युग में हमारी जीवन स्थितियां समान नहीं रहती। बदलती हुई जीवन स्थितियां नये जीवन मूल्यों को जन्म देती है वे नये मूल्य जब हमारी भावात्मक सता को प्रभावित करके, हमारी रागात्मकता का अंग बनकर, साहित्य में प्रतिफलित होने लगते हैं, तो युगानुरूप आदशों, प्रेरणाओं उपादानों और अभिव्यक्ति प्रणालियों की नवीनता भी आवश्यक होती है। साहित्य के स्थायी और परिवर्तनशील मानों में इस प्रकार का रूपान्तर ही किसी युग के साहित्य को गत युगों के साहित्य से विशिष्टता प्रदान करता है और उसकी नयी प्रवृत्तियाँ अपने युग में 'आधुनिक' कहलाने की अधिकारिणी होती है। आगे चलकर जीवन स्थितियों में पुनः परिवर्तन हो जाने पर वे प्रवृत्तियाँ 'आधुनिक' पद को छोड़कर परम्परा का अंग बन जाने के लिये बाध्य होती हैं और उनके स्थान पर नयी उद्भूत प्रवृत्तियाँ आधुनिकता का आसन ग्रहण करती है। इसलिए कहा गया है कि "नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपने-आप का संस्कार करते चलना ही आधुनिकता है। अतः आधुनिकता तो इतिहास में समय-समय पर आती रहती है और आती रहेगी।"[32] मूल से या अतीतत से जुड़े रहकर ही आधुनिकता सचमुच आधुनिकता बनती है, सार्थक होती है, दोनों नेत्रों से जाती है, कानी नहीं (एक आंख से देखना) रहती।

इस प्रकार शुद्ध साहित्य सदा आधुनिक रहता है, जो अपने युग से जीवन ग्रहण कर युग तक सीमित नहीं रहता, युग-युग तक जीवित रहता है।

2.3.2. आधुनिकता और आधुनिकीकरण :-

इन दोनों में भेद है आधुनिकता बुद्धिवादी मनोवृत्ति को कहते हैं 'आधुनिकीकरण' का अर्थ है उद्योग, समृद्धि, सैन्यबल, साक्षरता और अवकाशहीनता है, जितने भी अविकसित देश है, वे आधुनिकता नहीं, आधुनिकीकरण की ओर लोभ से देख रहे हैं। यूरोप में आधुनिकता पहले आयी थी, आधुनिकीकरण बाद में प्रकट हुआ। पहले बुद्धिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता हुई, विज्ञान उसके बाद बढ़ा, अर्थात् यूरोप का मन पहले बदला और शरीर बाद में। भारत और एशिया के देश चाहते हैं कि उनका शरीर तो यूरोप जैसा हो, लेकिन मन अपना ही रहे। इसमें मुख्य तौर पर निम्नांकित घटक सम्मिलित है -

1. आधुनिकता और जीवन-मूल्य :-

आधुनिकता को जीवन-मूल्य की संज्ञा दी जाए अथवा उसे जीवन-प्रक्रिया कहा जाए। इस सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं है 'मूल्य' का संबंध उपयोगिता से है। सामान्यतः ये आदर्श अथवा तत्व, जो जीवन को स्थायित्व और सार्थकता प्रदान करते हैं, जीवन-मूल्य कहलाते हैं।

समस्त वैचारिक समयता के इसी परिवेश में घूमती रहती है। व्यक्ति की प्रतिमा, मौलिकता, विवेचनात्मकता, संकीर्णता, नवीनता आदि की व्याख्या के यही संदर्भ है। व्यक्ति विशिष्ट मूल्य के सन्दर्भ में ही सोचता है। मानसिक चिन्तन प्रक्रिया का विकास करता है, बुद्धिजीवी बनता है तथा अपने समस्त वैचारिक चिन्तन को स्थायित्व देता है। इस प्रकार मानव मूल्य तथा चिन्तन-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग होने के कारण मूल्यधर्मी है, वही है, जो मूल्य है।

2. आज की आधुनिकता के चार स्तर :-

यद्यपि प्रत्येक युग की आधुनिकता भिन्न होती है। तथापि हर युग में वह पूर्ववर्ती परम्पराओं को अन्तर्मुक्त करती हुई नवीनतम वैज्ञानिक, दार्शनिक और सामाजिक उपलब्धियों के आधार पर नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना करती है। आज की आधुनिकता को चार स्तरों पर रखकर देखा समझा जा सकता है।

3. परिवेश :-

यह आधुनिकता का पहला स्तर है। वस्तुतः आज की आधुनिकता परिवर्तित भाव-बोध की यह स्थिति है, जिसका प्रादुर्भाव यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक विकास क्रम के वर्तमान बिन्दु पर आकर हुआ है। जिस विज्ञान को रोमानी चर्मकार, सुख-सुविधा, प्रगति और सभ्यता के अग्रगामी चरण के रूप में ग्रहण किया गया था। उसी विज्ञान तथा प्रविधि का महाध्वंसक रूप विश्व-युद्धों के रूप में सामने आया। जिन पश्चिमी देशों में यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक प्रगति बहुत पहले हो चुकी थी, वहां भी ये समस्याएं अभूतपूर्व तथा अप्रत्यासित रूप में सामने आयी पूरी-पूरी जातियों, संस्कृतियों तथा अल्पसंख्यकों को अमृत से नष्ट कर देने की धारणाएं, गणित तथा सांख्यिकी के आधार पर रखे गये। पूर्व-निश्चित हत्याकाण्ड मनदोहन की क्रिया-विधियां, संपूर्ण युद्ध की स्थापनाएं विश्व का दो मतवादों के शिविर तथा उनके रूपांतरों में केंद्रीभूत हो जाने का क्रम वैचारिक समर तथा व्यापारिक सल्तनते-समान-संस्कृतियां, शीतयुद्ध, तटस्थता, अन्तर्राष्ट्रीयता, सर्वशक्तिमान नियता राज्यों का उदय, बढ़ती हुई आबादी, बड़ी-बड़ी भीड़ें, आदमी को मात्र संख्या सामग्री या विभिन्न व्यावसायों की यंत्रवत इकाई के रूप में ग्रहण करने की दृष्टि, विज्ञान के हाथों व्यक्ति के क्रमशः युवाओं में परिणत हो जाने की नियति, अन्तरिक्ष-विजय, अणु-शक्ति के उपद्रव, आदि यथार्थ तथा संकट, इन सबके ऊपर अनचाहे मारक अस्त्रों से मिनटों में संसार की सामूहिक हत्या का भय, इन सभी से ऐसी अकल्पनीय वस्तुस्थितियां निर्मित हुई है, जो अब तक इतिहास में कभी आयी ही नहीं थी।

4. भाव क्षेत्र : -

इसने परिवर्तित विश्वव्यापी सन्दर्भ में मानवीय भाव-बोध को एक गहरा तात्विक आघात पहुंचाया और समस्त पूर्ववर्ती मान्यताएं बढ़ती चली गयी। सुदृढ़ आत्माओं के स्थान पर आकण्ठ अवसाद, भय, आशंका, संशय, अनिश्चय, सोम, आक्रोश और विडंबना से मानव-मन आक्रांत हो उठा। वह अपने बाह्य जीवन में अजनबी तथा आन्तरिक जीवन में स्वयं को विस्थापित अनुभव करने लगा।

5. दार्शनिक पक्ष :-

बीसवीं शताब्दी तक आते-आते मानव सभ्यता प्रगति के लगभग शीर्ष बिन्दु तक पहुंच गयी है। निसंदेह औद्योगिक विकास ने मानव जाति को अनेक सार्वजनिक सुख-सुविधाएं प्रदान की है,

किन्तु मानवीय सुविधाओं को आनुपातिक अभिवृद्धि के पश्चात् भी मानव मन असन्तोष तथा अशांति से ग्रस्त है। आधुनिकता के इस तथ्य से दार्शनिक स्तर पर कुछ मौलिक प्रतिक्रियाएं हुई है। परिणाम स्वरूप वृत्तियां अन्तर्मुखी होती-सी चली गयी और आत्मनिष्ठ दृष्टियों का विकास हुआ। मनुष्य स्वयं को अधिक गहराई से समझाने का प्रयत्न करने लगा। वह क्या है, कौन है, संसार में क्यों आता है, किसके लिए जीवित रहता है आदि प्रश्न एक नवीन अर्थवत्ता के साथ पुनः उठे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि "इन्हीं सब व्यर्थताओं और विभीषिकाओं के बीच होकर, उनका बोझ मन पर ढोते हुए पुरानी आस्थाओं को खोकर, नदी किसी आस्था के अभाव में, जो एक भावबोध बनता है, घोर निराशा और अविश्वास जिसका आवश्यक तत्व है, उसी को 'आधुनिक-भाव-बोध से संबोधित किया जाता है।"[33]

6. अभिव्यक्ति साधनों का विस्तार :-

इसे आधुनिकता का चौथा स्तर कहा जा सकता है। नयी वास्तविकताओं से प्राप्त संवेदनाओं और नवीन "सौंदर्य बोध को सफल वाणी देने में परम्परा प्रयुक्त माध्यमों की क्षमता अपर्याप्त है। इसके लिए युगानुरूप नवीन भाषा-भंगियों, नये मुहावरों, बिंदों, प्रतीकों, मिथकों, कल्पना-चित्रों, छंदों और लय- विधान आदि की खोज अनिवार्य है। कहना न होगा कि आधुनिक युगबोध का यह पक्ष भी सक्षम और सबल रूप में प्रकट हुआ है।

2.4 आधुनिकता और समसामयिकता :-

आधुनिकता के साथ समसामयिकता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। समसामयिकता का सन्दर्भ इस बात पर आधारित है कि मनुष्य अपने जीवन के हर पल के प्रति भी अपना एक ममत्व और अपनी एक दृष्टि रखता है अथवा रखता है।

"आधुनिक की अंतरचना और उसके आयाम को 'समसामयिक' और वर्तमान क्रियाकलापों से अलग कर भी देखा जा सकता है। 'समसामयिक' और 'वर्तमान' का काल-विस्तार 'आधुनिक' की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरणार्थ 'आधुनिक युग' में हम भारतेन्दु से लेकर आज तक के काल विस्तार को समाहित करते हैं। इस प्रकार 'आधुनिक युग' में कितने ही 'समसामयिक' और 'वर्तमान' समाये हुए हैं।"[34] आधुनिक में जो विस्तार और गहराई है, वह मात्र सामाजिक या मात्र वर्तमान में नहीं

है। स्पष्ट है कि "आधुनिकता युग विशेष का गुण है और समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है, जो हमें देशकाल का बोध देती है। समसामयिकता देशकाल के बोध के साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। जिस भी देशकाल में हम है, उसकी सीमाओं और विस्तार को हम समसामयिकता के यथार्थ द्वारा अनुभव करते हैं।"[35] जीवन के इन्हीं सन्दर्भ में आधुनिकता के परिवेश और समसामयिकता के आयाम में, हमें अपनी दृष्टि अपने दायित्व का बोध होता है।

युगबोध से सामान्यतः युग की मान्यताओं, स्थितियों एवं संदर्भो का बोध होता है। इसलिए प्रत्येक युग का अपना एक विशिष्ट एवं सामान्य बोध होता है। युगबोध की महत्ता उस के विकसित या परिवर्तित होने में हैं। इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल का बोध भक्तिकाल के बोध से अलग हैं तथा भक्तिकाल से रीतिकाल एवं आधुनिक काल सर्वथा भिन्न है। कारण यहीं कि प्रत्येक युग की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, कई प्रकार की विशेषताएँ तथा विवशताएँ होती है। इसलिए संयुक्त शब्द युग-बोध के साथ आधुनिक युग बोध का उल्लेख रहता है। इससे स्पष्टतः आधुनिक युग के बोध की ओर संकेत हैं।

आधुनिक युगबोध में अर्थबोध का विशेष महत्व है। परिवर्तित परिवेश के संदर्भ में जो भी अर्थबोध होगा वहीं प्रत्येक युग के साहित्य के स्वरूप को जिस नवीन अर्थबोध से निर्धारित किया जाता है उसकी बड़े राष्ट्रीय और आंतरराष्ट्रीय परिस्थिति में ही रहती है। युगबोध और अर्थबोध का अटूट संबंध होता है। इस अर्थबोध के कारण ही किसी युगबोध को विशिष्ट नाम दिया जाता है। उदा. हिंदी के आधुनिक नाटक को हम ले तो, भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग। इनके मूल में परिस्थितिगत मान्यताओं का प्रभाव रहता है, साथ ही कुछ हिन्दी के आधुनिक नाटककार भी इसमें शामिल हो जाते है। इस कारण आधुनिक-युगबोध की चर्चा में युग के अंधेपन का विशेष उल्लेख किया जाता है। संशय, अपमान, संत्रास, आनास्था, कुण्ठा, अविश्वास, अश्रद्धा तथा व्यंग्य आदि नये अर्थबोध की स्थितियों का चरम आज के युग में व्याप्त है। इसके मूल में व्यक्ति विशेषतः साहित्यकार के सामने अनेक कारण रहे होंगे।

2.5 'युग' तथा 'बोध' का अर्थ :-

'युग' शब्द अपनी व्याप्ति में संपूर्ण मानव संस्कृति का काल सापेक्ष अर्थ देता है। हिन्दी साहित्य के इतिहासान्तर्गत किसी विशिष्ट युग अथवा काल की चर्चा की जाती है, तो उसमें उस युग की सामान्य प्रवृत्तियों, परिस्थितियों तथा उपलब्धियों का अर्थबोध हो जाता है। हम एक विशिष्ट काल की सीमा से परिचित हो जाते है।

युग का संबंध जितना अर्थबोध से जुड़ा है-उससे अधिक वह मूल्यबोध से जुड़ा हुआ है। वैयक्तिक मूल्य व्यापक अर्थो में ग्राह्य होनेपर अपना सीमित दायरा छोड़कर सामाजिक बन जाते है। यहीं मूल्य युग- विशेष की मान्यता बन जाते है। वस्तुतः युग-परिवर्तन अथवा विकास मूल्यों एवं लोगों की मान्यताओं के कारण ही होता है। इसलिए कोई मूल्य बहुत से समाजधर्मो में व्यक्तियों को प्रभावित करता है तब वह 'बोध' बन जाता है और इसीसे युग-विशेष का निर्माण हो जाता है। डॉ. कैलास मिश्र इस संबंध में कहते हैं कि "युग विभिन्न परिवेशों में विभिन्न मूल्य निर्मित करता है और उन मूल्यों के कारण वह अपने विभिन्न अर्थो का प्रसार करता हैं।"[36] 'युग' शब्द के साथ 'बोध' शब्द का प्रयोग आज व्यापक संदर्भ में प्रयुक्त हो रहा है। इसी बोध के कारण व्यक्तियों में चेतना, विकास एवं संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। 'बोध' शब्द इन्द्रियानुभूति के माध्यम से किसी 'वस्तु' की स्थिति का ज्ञान कराता है, जिसमें समय सापेक्षता अधिक रहती है। प्रत्येक काल का अपना एक बोध होता है। जब इसी बोध का किसी युग के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाता है तब वह सामान्यतः किसी सिद्धांत को लेकर कालसापेक्षता में जन्म देता हूँ। डॉ. मेघ ने 'बोध' का संबंध विमर्श शक्ति से माना है, जो विवेक तथा बुध्दि से नियत है।

रामधारीसिंह 'दिनकर' का आधुनिक बोध के संबंध में कथन हैं- "इसीलिए हमारा ख्याल है कि साहित्य में साधारणतः जिसे आधुनिक बोध कहा जाता है, वह कोई शाश्वत मूल्य नहीं हैं। मूल्य शायद वह है ही नहीं। मूल्यों के विघटन से उत्पन्न वह एक दृष्टि है, जिसमें घबराहट, निराशा, शंका, त्रास और असुरक्षा के भाव है। इसीलिए आधुनिकता बोध की सारी व्याप्तियाँ ऐसी नहीं हैं, जो आँख मूँदकर कर स्वीकार कर ली जाएँ।"[37]

2.5.1 आधुनिक युगबोध का अर्थ :-

युगबोध मानव-मस्तिष्क की एक सहजात प्रवृत्ति है। जीवन की प्रवाहमान और विकासोन्मुख धारा से मनुष्य गुजरता है। अपनी चिंतन शक्ति के द्वारा जब वह उसे वर्तमान के संदर्भ में अपने अतीत को देखता है, तो उसे कुछ परिवर्तित अनुभव करता है। वैसे देखा जाए तो वर्तमान अतीत की अगली कड़ी है, जो कुछ समय पश्चात् उसमें जुड़ जाती है। फिर भी दोनों के बीच एक विरोधी रेखा होती ही है। वर्तमान के क्षणों में जीते हुए जहाँ कहीं विरोध दिखाई देता है अथवा विरोधाभास होता है, उसके आसपास ही आधुनिकता के लक्षण दिखाई देते है। आधुनिकता एक अर्धविकसित प्रक्रिया है, जिसकी कोई पूर्व निश्चित और अपरिवर्तनीय दिशा नहीं है। मनुष्य और उसकी अविकसित अता अल्पविकसित क्रियाएँ ही आधुनिकता को परिभाषित करती हैं। इस आधुनिकता को जानने के लिए व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता है। इतिहास बोध और अतीत के प्रति एक सामान्य विचारधारा, जो वास्तव में वर्तमान का बोध है, व्यक्ति की अपनी विशेषता है। यही आधुनिक बोध है। इतिहास की यह आधुनिकता वर्तमान बोध है।

आधुनिक युगबोध या आधुनिकता बोध, आधुनिकता का ही एक पहलू है। आधुनिक, आधुनिक - बोध, आधुनिकीकरण जैसे समानार्थी शब्द आधुनिकता के साथ प्रयुक्त होते हैं।

आधुनिकता की दृष्टि से समाज में होनेवाले सभी प्रकार के अंतर को देखना ही आधुनिक युगबोध है। आधुनिक बोध आज के सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के मूल में निहित एक दृष्टि के रूप में यथार्थ-बोध है।

2.5.2 आधुनिकीकरण और आधुनिकता बोध :-

आधुनिकता का और एक पहलू है-आधुनिकीकरण, जिसका आधुनिक बोध से घनिष्ठ संबंध है। आधुनिकीकरण वह प्रवृत्ति है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति नवीनता की खोज में सनकी-सा हो जाता है। वर्तमान युग में इस प्रवृत्ति के कारण हम किसी व्यवहार की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता को देखे बिना ही व्यवहार के नये ढंगों को प्रोत्साहन देने लगते है। वेशभूषा, खान-पान, सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवहारों को प्रभावित करने में इस प्रक्रिया ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

किसी समाज में इस प्रक्रिया के क्रियाशील होनेपर उसी व्यक्ति को प्रगतिशील कहा जा सकता है, जो जीवन के प्रत्येक पहलू में आधुनिक बनने का प्रयत्न कर रहा हो।

" 'आधुनिकीकरण' बहिर्गत संकल्पों तथा आधुनिकता अंतर्मुखी संकल्पों की अविर्भावक है।"[38] आधुनिकीकरण का सामान्यत: शाब्दिक अर्थ नवीनीकरण से लेते है। सामाजिक ढाँचों में, पारिवारिक स्वरूप में, सामाजिक संबंधों में, सभ्यता में, रहन-सहन में, राजनैतिक रूप में बहुत ही द्रुतगति से नवीनीकरण ही रहा है। विशेषत: नगरों-महानगरों में होनेवाले आधुनिकीकरण को ही अभी लक्ष्य किया जाता है। परिणामत: यह आधुनिकता समाज के थोडे लोगों तक ही सीमित है।

आधुनिकीकरण कुछ पूँजीपतियों, नौकरशाहों और अभिजात वर्गों का ही है, जो एक आदत, एक फैशन, एक सभ्यता के रूप में है। यह सामंदवाद और पूँजीवाद की देन है।

आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण में वैसा कोई विशेष फर्क नहीं है। इस आधुनिकबोध का संबंध साहित्य की कुछ विशेष प्रवृत्तियों ओर बोध की स्थिति के आपसी मेल से है। यह आधुनिकता अनेक स्तरों पर वर्तमान बोध से परस्पर संबद्ध है। इसलिए आज के साहित्य में क्षणवाद का महत्व बढ़ रहा है। क्षण-विशेष के रूप से ही आधुनिकता बोध की उपासना की जाती है। वर्तामन ही सर्वाधिक क्षणभंगुर काल होने के कारण आधुनिक युग में स्वीकृत घड़ी का महत्व इस नाशवान वर्तमान के बोध का प्रतीक है।

2.5.3 आधुनिक बोध की कुछ प्रवृत्तियाँ :-

धर्म आधुनिकता के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। अगर इस संदर्भ हम भारत का ही उदाहरण लें, तो हमें दिखाई देता है कि यहाँ देश एक है किंतु धर्म अनेक है। फिर भी एक धर्म दूसरे के मार्ग में बाधक नहीं है। आज हमारे देश के संविधान ने धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार कर लिया है। आर्ज धर्म-विशेष के प्रति तथा व्यक्ति के प्रति, व्यक्ति का दृष्टिकोण संकुचित न होकर, विस्तृत और उदार बन गया है। धर्मनिरपेक्षता की यह प्रवृत्ति आधुनिक बोध को परिलक्षित करती है।

आंतरराष्ट्रीय रूचि का समाहार भी आधुनिकता का ही एक लक्षण है। आधुनिक युग में विभिन्न देशों का युगबोध, सांस्कृतिक चेतना और कलासृजन देश-काल के व्यवधानों पर विज्ञान की उन्नति के अनुकूल ही एक दूसरे के निकट आ गये है। यही समन्वय और सामंजस्य की स्थिति है।

रहन सहन, खानपान और बोलचाल में पश्चिम का अनुसरण करना आधुनिक युगबोध ही हूँ। जो व्यक्ति जितना अधिक पश्चिमी रंग में रंगा है, उसे. उतना ही आधुनिक कहा जाता है। "यांत्रिकता, बौद्धिकता और उपयोगितावादी रूचि का एकांगी मिश्रण ही आधुनिकता है।"[39] ऐसा पाश्चात्य आधुनिकता का अर्थ है। जहाँ कहीं हमें यांत्रिकता, बौद्धिकता और उपयोगितावादिता की दृष्टि से किसी भी चीज की ओर देखनेवाला मनुष्य दिखायी दे, हम उसे आधुनिक वह सकते है। लेकिन जो व्यक्ति पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त होकर अपने ढंग से विशिष्ट आधुनिकता का सृजन करेगा, जिसका मुख्य आधार सामंजस्य होगा, वही सच्चा आधुनिक व्यक्ति है।

परंपरा और रूढियों का विरोध करना भी आधुनिक बोध ही है। आधुनिक व्यक्ति हमेशा परंपरा का विरोध करता है। आधुनिक युग के आरंभ में भारत में भी विभिन्न समाजसेवी संस्थाओं तथा बड़े-बड़े लोगों ने परंपरागत कुरीतियों और अर्थहीन रिवाजों को समूल उखाड़ फेंकने का निश्चय किया। उनका यह विचार आधुनिक बोध ही है। बालविवाह, सतीप्रथा, बहुविवाह का निषेध, अछूतोध्दार, नारी स्वातंत्र्य इसी के उदाहरण हैं।

नगरीकरण के साथ आधुनिक बोध का घनिष्ठ संबंध है क्योंकि आधुनिकता के प्रसार के साथ नगरीकरण की प्रवृत्ति फैलती है। अनेक नगर मिलकर महानगर का निर्माण करते हैं और वर्तमान सभ्यता को जो भी विशिष्टताएँ हैं, ये महानगर उनके प्रमुख केन्द्र बन जाते है। परिणाम यह होता है कि नगर और गाँव की सभ्यता के बीज का अंतरात निरंतर दीर्घ होता जाता है। यह आधुनिक बोध इन्हीं महानगरों के बीच बसनेवाले मनिषियों का दृष्टिबोध है।

2.5.4 **विज्ञान और आधुनिक युगबोध :-**

"विज्ञान और अधुनातम उपकरणों के सहयोग से मनुष्य अपनी सुख-सुविधा और मनोरंजन का जो विस्तार कर सकता था, वह उसने महानगरों में किया है। संसार के उद्योगों बार व्यवसायों के मुख्य केन्द्र महानगरों में है। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय महानगरों में है। सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, नाटक और ऑपेरा महानगरों में मिलते हैं। श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाएँ महानगरों से निकलती हैं।"[40] इस प्रकार मध्यकालीन, आधुनिक व्यक्ति और समाज के मध्य महानगरों की सभ्यता ने ही विषम रेखा अंकित की है। दो देशों के बीच की दूरी जितनी कम हुई हैं, उतनी ही मनुष्य और मनुष्य के बीच की

दूरी बढ़ती गयी है। इस खाई को पाटने और बढ़ाने का श्रेय नगरीकरण की प्रवृत्ति को ही है, जिसमें शांति और सुकून की अपेक्षा व्यस्तता बढ़ती गयी है।

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के बढ़ते अविष्कारों तथा प्रयोग के कारण ही यह आधुनिक बोध का मेरूदण्ड निर्माण हुआ है। जब कोई अल्पविकसित देश आधुनिक बनना चाहता है, तब वह विज्ञान और तकनीकी ज्ञान को प्राप्त करना ही चाहता है। विज्ञान ने ही आधुनिक संस्कृति को एक नया आयाम दिया है। क्योंकि प्राचीन संस्कृतियों में मशीन-उद्योग का कोई संबंध नहीं था।

आधुनिकता या आधुनिकता बोध में एक नयी विचारधारा और नैतिकता को जन्म दिया है। इस नैतिकता का संबंध मनुष्य को स्वर्ग या नरक ले जाने से नहीं है। उसका संबंध अपने वैयक्तिक स्पंदनों से है। नयी नैतिकता यही है कि यहाँ जो कुछ है, मनुष्य के साहस, श्रम और बुध्दि के अधीन है। इसके पीछे किसी अदृश्य शक्ति या किसी देवता का कोई संबंध नहीं है।

आज के युग में जनसंख्या वृद्धि हो रही है। इसके पीछे भी देवता या किसी अदृश्य शक्ति का हाथ नहीं हैं। इसपर नियंत्रण के लिए बंध्याकरण, गर्भ-निरोधक साधन, गर्भपात और विलंबित विवाह का सहारा लिया जाता है।

2.5.5 आधुनिक युगबोध की विभिन्न समस्याएँ -

आधुनिकता अपनी पीठिका पर संकट की स्थिति लिये रहती है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र- धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, कला आदि में संकट की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक प्रखर रूप से दिखाई देती है। संकट का बोध प्रत्येक व्यक्ति को सजग तो करता है, लेकिन त्रस्त और आतंकित होते हुए भी मनुष्य की चेतना संकट के मूल कारण को खोजती है, उसके परिणामों का अनुमान लगाती है। प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहता है कि इस संसार में जो भी कुछ हो रहा है, क्या यह अपने आप होता है या इसके पीछे कोई है। इसके अंतर्गत निम्नांकित घटकों को समाविष्ट किया गया हैं, जिसमें -

1. विज्ञान के कारण उत्पन्न समस्याएँ:

आज का युग यांत्रिकता का युग है। हमारा जीवन बाह्य और आंतरिक रूप से इससे प्रभावित है। मनुष्य ने वैयक्तिक उपलब्धियों को अपने जीवन में जाने-अनजाने स्वीकार कर लिया है। इसके कारण सामाजिक जीवन में बदलाव आ गया है। आज हमारा संपूर्ण जीवन विज्ञान पर अवलंबित है।

चलचित्र, यातायात, मशीनों का उपयोग हम जीवन में देख रहे है। मनुष्य का मनोरंजन, भोजन बनाना सारे काम विज्ञान कर रहा है। विज्ञान ही के कारण भौगोलिक दूरी को समाप्त कर, मानवीय संबंधों और तादात्म्य को भी समाप्त कर दिया है। बाप-बेटा एक परिवार में, एक घर में और मधुर संबंधों से घिरे होने के कारण भी विज्ञान के कारण एक-दूसरे के संबंध का बोध नहीं कर पा रहे है। विज्ञान ने मनुष्य विश्लेषण की दृष्टि दी है। विज्ञान इतनी द्रुतगति से चल रहा है कि उसके साथ को मनुष्य चल भी नहीं पा रहा है। विज्ञान के कारण मनुष्य के जीवन में अशांति, चारों तरफ भाग दौड़ और शोर के क्षण है। सहानुभूति, आत्मीयता और मानवीयता का भाव समाप्त होता जा रहा है। उसके स्थानपर आदमी-आदमी के संबंध बदल रहें है। विज्ञान के प्रभाव से मनुष्य अपरिचय, संत्रास, घूटन, फूहड़पन आत्मनिर्वासन, निर्णय का द्वन्द, व्यर्थता आदि समस्याओं से गुजर रहा है।

आज मनुष्य में वैज्ञानिक विचारधारा उत्पन्न हुई है। जिसके कारण उसके वैयक्तिक विचारों और समाज के विचारों में टकराहट होती है। मनुष्य के विचारों में तर्क अधिक होता है।

विज्ञान मनुष्य मन तथा मस्तिष्क में विधि-निषेध संबंधी कार्यो, विचारों, मूल्यों के प्रति प्रश्नों को उत्पन्न करता है। व्यक्ति प्रचलित मूल्यों, सभ्यता और संबंधों की आलोचना करता है और अपनी रचनात्मक कल्पनाद्वारा वैज्ञानिक पद्धति से नवीनीकरण करता है। इस तरह विज्ञान के कारण जीवन में अनास्था का भाव निर्माण होता है।

विज्ञान आधुनिक समाज का सर्वाधिक गत्यात्मक पहलू है। विज्ञान के कारण मजदूरी और मेहनत, कार्य और चिंतन, नगर और महानगर, कस्बा और ग्राम, उत्पादन और उपयोग सभी के मानदण्ड क्रांतिपूर्ण ढंग से बदल गये है। विज्ञान ही के कारण वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक संबंधों का आधुनिकीकरण हुआ है। संयुक्त परिवारों के स्थान पर आज विभक्त परिवार हो गये है। अर्थ के दबावों और वैयक्तिक तर्क के कारण यथार्थ के धरातल पर सामाजिक संबंधों के मानदण्ड टूटते जा रहे हैं। आधुनिक मनुष्य अपने अद्वितीय विचारों और स्वतंत्रता के घेरे में जीना चाहता है। आज का संयुक्त परिवार माता-पिता और उनके बच्चों का है, बाकी सारे संबंध दूर हो गये है। धीरे-धीरे मनुष्य नितांत अकेला और अकेला होते जा रहा है। हमेशा उसका मन शंकाकूल रहने लगा है।

2. धर्म के कारण उत्पन्न समस्याएं :-

धर्म का महत्व हमारे जीवन में सर्वव्यापी है। हम अपने जीवन में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों को उतना महत्व नहीं देते, जितना मोक्ष को देते है। लेकिन आज शिक्षा, राजनैतिक और विज्ञान-बोध के कारण धर्म से आस्था धीरे-धीरे खत्म हो रही है। मार्क्स ने तो धर्म को भ्रामक जाल कहा है, और गलत दिशा में ले जानेवाली वस्तु कहा है। आज व्यक्ति तर्क के आधार पर जिंदा है, आस्था के आधार पर नहीं। क्योंकि आज हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान धर्म नहीं कर रहा, तो विज्ञान कर रहा है। विज्ञान, शिक्षा और राजनीति ने मनुष्य के मन में अधिकार के लिए लड़ाई लड़ने और स्पर्धा के प्रश्न को उत्पन्न किया हैं। अब धर्म का प्रभाव अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उतना नहीं है, जितना मध्यकाल में था। आज युध्द में धर्म का बीज नहीं है, राष्ट्रीय मूल्य का बीज है। धर्म के आधार पर चलनेवाली व्यवस्था बहुत हद तक टूटती चली जा रही है। पारिवारिक, सामाजिक, वैवाहिक, उत्तराधिकारी संबंधी मान्यताओं में अब परिवर्तन आ रहा है। आज लोग पुराणों और प्राचीन धर्मशास्त्र कथनों में विश्वास नहीं रखते। मनुष्य का जीवन आज इतना व्यस्त हैं कि वह धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकांडों के लिए समय नहीं दे पाता और जो लोग यह करते हैं, उन्हें अंधविश्वासी कहते हैं। आज विवाह जैसे कार्य को भी एक घंटे में समाप्त कर दिया जाता है। जीविकोपार्जन का साधन बन जाने के कारण धार्मिक संस्थाओं के बारे में पवित्रता-अपवित्रता की भावना समाप्त हो गयी है। आज पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण हो रहा है। जीवन में यज्ञ आदि को गौण स्थान है। जन्मदिन पर केक काटने को प्रथा चल पड़ी है। प्राचीन काल में धार्मिक संस्थाएं व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को निश्चित करती थीं, लेकिन आज धर्म इसका आधार नहीं है। अगर व्यक्ति आर्थिक, राजनैतिक और बौद्धिक रूप से सफल है तो उसे उच्च स्तर का व्यक्ति माना जा सकता है। इसप्रकार आधुनिक समाज सिर्फ धर्म को ढकोसला मानता है। धर्म को आज प्रगति में अवरोध उत्पन्न करनेवाली बाधा माना जाता है। धर्म का ही नहीं, आज ईश्वर का अस्तित्व भी माना नहीं जाता। ईश्वर के स्थान पर व्यक्ति को महत्व दिया जाता है। आजकल साहित्य में भी सामान्य व्यक्ति का चित्रण किया जाता है, किसी ईश्वरीय व्यक्ति का नहीं। यद्यपि ईश्वर विषयक आस्था समाज में नहीं हैं, तो भी एक नया चिंतन माना जाता है, जिसमें ईश्वर विषयक आस्था को माना जाता

है। जीवन दर्शन के बारे में भी आज व्यक्ति चिंतन करने लगा है। आनंदवाद, समाजवाद, क्षणवाद, नियतिवाद, दायित्ववाद जैसे किसी 'वाद' के घेरे में व्यक्ति रहता है।

धर्मविषयक आस्था न रहने के कारण तथा विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण हमारी संस्कृति बदल गयी है। आज धर्म और नीति न होने के कारण आस्था और विश्वास टूट गये हैं। फलत: मनुष्य खोया-सा रहता है। स्थिर और अटूट मूल्य अर्थहीन हुए हैं। परंपरागत मूल्य अर्थहीन ही नहीं, तो अनावश्यक और असंगत भी है। समता, मानवता, प्रेम आदि नष्ट होकर जीवन निस्सार, संदेहशील, विक्षिप्त, आत्मघाती और उदासीन बना हैं। मूल्यों का यह संकट इतना बढ़ा है कि लेखक किसी भी राजनीतिक या सामाजिक आदर्श के लिए संघर्ष करने के बजाय अपने साहित्य में अपराध, बलात्कार, समलिंगी संबंधों का वर्णन करने लगा है। लेखक इन्हीं बातों को, जो बर्बर, कामोत्तेजक और अनैतिक है, प्रस्तुत कराने में साहित्य की जरूरत मानते हैं।

3. मूल्यहीनता के कारण उत्पन्न समस्याएं :-

जीवशास्त्र और गर्भनिरोध के ज्ञान ने आज यौन मूल्यों के क्षेत्र में आश्चर्यजनक परिवर्तन किया है। गर्भ निरोध के नये तरीके और प्रचार, यौन स्वतंत्रता और प्रेम के बदलते हुए विचार, परिवार और वैवाहिक संबंधों को नयी दृष्टि से देखने पर विवश कर रहे है। इस संबंध में कहा जाता है कि डार्विन ने मनुष्य को पशु का शरीर दिया और फ्रायड ने पशु की कामवृत्ति। मनुष्य इस नये ज्ञान के कारण प्रचलित श्रेठ मूल्यों को भूलता जा रहा है। आज मनुष्य की कथनी और करनी में अंतर आ गया है। प्रत्येक मनुष्य के चेहरे पर मुखौटा है। उसका जीवन असंरक्षित और अनिश्चित बन गया है। उसको भविष्य के बारे में चिंता है। व्यक्ति आज वर्तमान को हो यथार्थ मानता है क्योंकि जो भी कुछ है, वर्तमान में ही है। आज मनुष्य निरुद्देश्य और दिशाहीनता रहता है। उसे पता ही नहीं चलता कि क्या सुंदर है, क्या असुंदर या क्या झूठ, क्या है। यह सब समझने के लिए जो मूल्य प्राचीन काल में थे, उनके न रहने के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई है। आज मनुष्य के सामने एक भी ऐसा आदर्श नहीं, जिसके लिए वह संघर्ष करें।

आज मनुष्य जिस युग में जीता है, वह युग विकृत है। सब लोग उसे अजनबी और पराये लगते हैं। इन लोगों के बीच वह अकेला निराश्रित है और इसीलिए आज के साहित्य के भी अराजकता, सुरक्षा का भय तथा चीखें है। इसीकारण आज का साहित्य संत्रास, निरर्थकता, नैराश्य

और मृत्युबोध का साहित्य है। वह केवल जीवन के विकृत और वीभत्स पहलुओं को चित्रित करता है। आज कोई निश्चित मूल्य न होने के कारण ईश्वर, मूल्य, आस्था, प्रतिबध्दता सब शब्द अर्थहीन है। इसीलिए साहित्य में 'एन्टीहीरो' की तलाश हुई। 'एन्टीहीरो' की कोई आस्था नहीं होती। यह साहित्य क्षणिक आनंद देता है, किसी मूल्य को स्वीकार नहीं करता। जब किसी के पास मूल्य नहीं होता, तो उस व्यक्ति का स्वरूप किसी भी तरह का होता है- हत्यारा, चोर, डाकू, लुटेरा, दलाल, वेश्या, व्यभिचारी आदि।

इस प्रकार मूल्यहीनता तथा धर्म और ईश्वर पर आस्था न होने के कारण आज साहित्य में मनुष्य की अंधी प्रवृत्तियाँ, कच्चे अनुभव, निकृष्ठ भावनाओं का चित्रण किया जाता है। अपराध, कामुकता, स्वार्थ, यौन-विचार आदि को साहित्य में बार-बार दोहराया जाता है। अब साहित्य में वर्णित प्रेम अर्थहीन और निष्ठाहीन है, तो जनेंद्रियोंद्वारा प्राप्त किया हुआ अनुभव ही स्थायी और आवश्यक है। आज अधिकतर साहित्य में अश्लीलता ही है। इसे प्रकट करना आधुनिक युगबोध है।

आज आधुनिक युग ने एक ऐसे आध्यात्मिक शून्यता को जन्म दिया है, जिसमें आनंदलिप्सा और विकृत भावना ही अधिक देखने मिलती है। जो लोग सुखी है, वे भोग-विलास और क्षणिक जानंद को ही महत्व देते हैं। वे साहित्य और कला के सौन्दर्य और आध्यात्मिकता को बिल्कुल महत्त्व नहीं देते। आज की संस्कृति नवयुवक और नवधनाध्य अर्धशिक्षित लोगों की बनी है। इसीकारण आज हिंसा, अपराध, यौन-विकार, कामोत्तेजना, परोत्पीड़न, मदिरापान, नशाखोरी, नैतिक मूल्यों के प्रति होनेवाली विमुखता, फिल्मी प्रभाव, सौंदर्य प्रतियोगिताओं और बगैर परिश्रम के एकदम से धन कमाने की विधियों, स्वार्थ और अहंवाद के दृष्टिकोण को उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी समझा जा रहा है और ये दोनों प्रकार के लोग यही करते हैं।

मानसिक स्तर में अपरिपक्व लोग जीवन के सामान्य मूल्यों से दूर जाकर एक ऐसी संस्कृति का पोषण कर रहे हैं, जो बाजारू और भ्रष्ट है, क्योंकि जो मनुष्य किसी भी व्यक्ति या वस्तु का गुण अवगुण, सम्मान और व्यवहार का मूल्य धन और पदपर मानता हो, तो उनके लिए सौन्दर्य और नैतिकता का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता। यदि आदमी अपना ध्येय आधुनिक जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करने में ही मानता, तो वह किसी भी मूल्यपर उसे खरीदता है या प्राप्त करता है। उस समय वह नैतिकता का विचार भी नहीं करता। अपने जीवन की रिक्तता की पूर्णता के लिए वे कामेत्तेजक

नृत्य, पॉप संगीत, कामुकता, हत्या, ब्ल्यू फिल्म का प्रयोग करते हैं। ये लोग हत्या और बलात्कार से भरपूर उपन्यासों, कार्टुन, कॉमिक्स, भड़कीली फिल्में, पत्रिकाएँ ऐसा ही साहित्य पढ़ने के शौकीन होते हैं। रिक्तता भरने के लिए आज के आदमी बीअर बार, कॉफी हाऊस, रेस्तरां आदि स्थानों पर जाते हैं और यही आज जीवन में इतना घुल मिल गया है कि इसके बाहर का वातावरण अजनबी, निरर्थक और आनंदहीन लगता है।

आज संसार में फिल्म का बड़ा प्रभाव है। फिल्मी नायक-नायिकाएँ आदर्श मानी जाती हैं। आज की पीढ़ी फिल्मों के सपनों में जीती है, जिसका वास्तकिता ये बहुत कम संबंध है। फिल्म के कारण ही हीरोपरस्ती को जन्म मिला है। आज कोई भी हीरो हो सकता है। फ्रायड ने तो हीरो को विकृत, दुर्बल और परिपक्व व्यक्ति माना है। इसीलिए आज का युग 'एण्टीहीरो' का है, जो स्वयं परिस्थिति के अनुकूल ढल जाता है। जिसके पास जीवनमूल्यों के प्रति आस्था है तथा मानवता के प्रति उल्लास है, वैसे भगतसिंह जैसे लोग आज 'हिरों' नहीं बन सकते।

आज संसार में शिक्षा का प्रसार सौंदर्यानुभूति परिष्कृत करने तथा संस्कृति को विकसित करने नहीं होता, तो मनोरंजन तथा मन की सस्ती तुष्टि के लिए साहित्य पढ़ा जाता है। आज साहित्य प्रतिष्ठा, पद, धन, लोकप्रियता आदि कुछ नहीं देता। आज लेखक ने संगठन और सरकार की दासता स्वीकार की, तो ही उसे सम्मान मिलता है।

4. नगरीकरण तथा आधुनिकीकरण से उत्पन्न समस्याएँ :-

आधुनिकीकरण, औद्योगीकीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक जीवन को अधिक प्रभावित किया है। परिवार का परंपरागत स्वरूप, प्रचलित मानदण्ड और यहाँ तक कि व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन हुआ। औद्योगीकीकरण और आधुनिकीकरण के कारण परिवारों का परंपरागत रूप तेजी से टूट रहा हैं। पहले स्त्रियों को परिवार में अधिकार नहीं होते थे, लेकिन आज स्त्रियों के अधिकारों में वृद्धि हुई है। बड़े-बड़े उद्योगधंदों के कारण शहरों में लोगों की संख्या बढ़ रही है और जगह के अभाव में लोग गंदी बस्तियों में रहते है। जनसंख्या में सतत होनेवाली वृध्दि इस समस्या को बढ़ाती है। रास्ते से जाते समय बस में या मनोरंजन के स्थलपर लोग पास जरूर बैठते है, पर उनके मानस का अंतर बढ़ता रहा है। समाज और समूह में अंतर है। बस में और रास्तेपर एकत्रित आनेवाले लोग 'समूह' के अंतर्गत आते हैं, लेकिन 'समाज' के लोग किसी एक भावना से

एकत्रित रहते है। आज 'समाज' की अपेक्षा 'समूह' में अधिक दिखाई देती है। किसी के दु:ख की किसी को परवाह नहीं है। बाहर से ये लोग करीब दिखाई देते हैं, लेकिन मन से बहुत दूर होते हैं। वे बेनाम, गुमनाम और बेसहारा लोग होते है। उनका न अपना अस्तित्व होता है और न किसी दूसरे का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे हमेशा अकेले निराशा से, डरे से घूम रहे होते है। उनके सामने हमेशा यह समस्या रहती है कि संसार के दबाव से अपने को कैसे सुरक्षित रखें, अपने मन में होनेवाले दु:ख और भय को कैसे नष्ट करें। यह आधुनिक बोध ही है। आज प्रत्येक आदमी के मन में संशय, संत्रास, उपेक्षा तथा व्यंग्यबोध दिखाई देता है। यह सब औद्यागिकीकरण आधुनिकीकरण और नगरीकरण का ही परिणाम है।

5. पारिवारिक समस्याएँ :-

आज के में आवश्यकताओं के बढ़ने के कारण जीवन की पुरानी व्यवस्था असंगत लगने लगी है। पहले परिवार संयुक्त होता था। लेकिन आधुनिकीकरण को प्रक्रिया के कारण परिवार विभक्त हो गये हैं। धनोपार्जन और परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पति-पत्नी दोनों घर से बाहर जाकर कार्य करते है। उनका जीवन में अर्थार्जन में इतना व्यस्त है कि वे अपने बच्चों तथा परिवार के सदस्यों की ओर ध्यान नहीं दे सकते। इसीकारण बच्चे आवारा होते रहे हैं, बिगड़े जा रहे हैं। उनपर किसी की नज़र न होने के कारण, संस्कार न होने के कारण छोटी उम्र में हो लैंगिक विषयों में रुचि लेने लगे है, ब्ल्यू फिल्म देखने लगे हैं। माता-पिता दोनों के नौकरी में लगे रहने के कारण बच्चे उन्हें चार-चार दिनों तक मिल नहीं पाते। इसकारण बच्चों में भी निराशा छा जाती है। वे अपने को एकाकी तथा असहाय पाते है। उनमें भी घुटन महसूस होने लगती है और इसीकारण जो करने नहीं चाहिए, वे ही दुष्कर्म वे करते हैं।

जीवन की यह व्यस्तता सिर्फ बच्चों और भी माँ-बाप के बीच में ही कटुता नहीं निर्माण करती, तो पति-पत्नी में भी बे-बनाव का निर्माण करती है। पति-पत्नी के मधुर संबंधों में एक तनाव निर्माण हो जाता है। दोनों अपने-अपने गुणों का विकास ना चाहते हैं और व्यक्तिवादी आदर्शों को निर्माण करते हैं। इस तरह एक परिवार में रहते हुए भी एक दूसरे की उपस्थिति का बोध, सहानुभूति का बोध, आत्मीयता का बोध धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। परिवार के -हास के कारण व्यक्ति, विपरीत रास्तोंपर भटक जाता है, अपने को अब और बेगाना पाता है। उसे लगता है कि हम जिस

परिवार में रहते हैं, उस परिवार और परिस्थिति से हम बिल्कुल कट गये हैं। इसी कारण वह भ्रमित होकर नये संबंधों को बनाने का प्रयत्न करता है। उसका मन इसीकारण दोहरा बन जाता है।

बदलती परिस्थिति तथा बढ़ती आवश्यकताओं के कारण मनुष्य का जीवन हमेशा अभावों से ही घिरा रहता है। अभावों से घिरा हुआ यह जीवन मनुष्य को जड़वत बना देता है। आज मनुष्य के जीवन में न सिर्फ अर्थ का ही अभाव है, बल्कि सहानुभूति, आत्मीयता, प्रेम, परस्पर सहयोग आदि का भी अभाव है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नयी स्थिति का निर्माण करता है। क्योंकि आज व्यक्तिगत मूल्यों और सामाजिक मूल्यों में कोई संतुलन नहीं रह गया है। पुराने मूल्य नये संदर्भ में लुप्त होकर नूतन मूल्यों की संज्ञा से जाने जा रहे हैं। आज पति-पत्नी का पुराना संबंध नये संबंध में परिवर्तित हो गया है। 'माँ' का स्थान अंग्रेजी शब्द 'ममी' और पिता का स्थान 'डैडी' ने ले लिया है। पति-पत्नी और बच्चों का संबंध औपचारिकता ने ले लिया है। आज व्यक्ति अपने ही घर में अपने को 'मेहमान' की तरह अनुभव करता है। व्यक्ति के पास बहुत कुछ है, फिर भी खालीपन और अभावों को महसूस करता हूँ। वह जीवन के एकांत में टूटता है और दोहरे अकेलेपन में टूटकर 'होने' में ही 'न होने' की अवस्था का अनुभव करने लगता है। व्यर्थता, उदासीनता, सूनापन आदि का अनुभव उसे होने लगता है। इसप्रकार आधुनिकता के कारण मनुष्य सीमित और संकुचित बन गया है। मनुष्य इससे बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहा है तथा नये संबंधों को खोज रहा है।

आज आधुनिक युग में अनेक परिवर्तन हमें देखने मिलते हैं। पहले नारी पराश्रित थी। वह स्वतंत्र नहीं थी। लेकिन आज वह सक्रिय हुई है। आर्थिक और वैचारिक दृष्टि से वह स्वतंत्र है। अब वह 'पति परमेश्वर' या 'चुल्हे तक' ही अपना कार्यक्षेत्र न मानकर सभी ओर कार्यरत हूँ। इतना ही नहीं आज के परिवार को कम महत्व देने लगी है, अपने व्यक्तिगत गुणों को बढ़ावा देती है। वह घर में एक खीझ एवं झुंझलाहट महसूस करती है। आज पुरुषों के समानांतर खड़ी होने के लिए स्त्री को तरह-तरह के स्तरों, नग्नताओं तथा सुरक्षा कवचों की सहायता से ही जीना पड़ता है, परंतु वह फिर भी सब करती है। आज के जीवन में अनेक स्त्रियाँ कौमार्य, सतीत्व, निष्ठा आदि पवित्र बातों को विशेष महत्व नहीं देती। पहले स्त्रियाँ अपने घरवालों के काम करने में संतुष्ट रहती थीं, उनका सभी प्रकार का काम करती थी। लेकिन काम न करने में आधुनिकता मानती है। पहले जिन घरों में मांस-मच्छी नहीं बनायी जाती थी, उन्हीं घरों में वह बनायी जाती है। इतना ही नहीं, जो स्त्रियाँ पहले कभी अकेली

बाहर नहीं पड़ती थी, वे क्लबों में जाकर जुआ खेलने लगी है, रेसकोर्स पर जा रही है और इसे ही आज आधुनिकता माना जाता है।

आधुनिक युग की और एक समस्या है- पीढ़ी संघर्ष। घर में होनेवाले बुजुर्गों के विचार आज की युवापीढ़ी नहीं मानती। माता-पिता, दादा-दादी के जमाने में जो था, वह आज की युवापीढ़ी नकारती है। उनके विचारों में भी बहुत अंतर आया है। संस्कृति तथा त्यौहार इनको यह नयी पीढ़ी नहीं मानती। पिक्चर देखना, ब्ल्यू फिल्म देखना, कैबरे, डिस्को, आश्लील किताबें पढ़ना, आवारा घूमना, लड़कियों के पीछे घूमकर अश्लील बोलना, गर्द, ब्राऊन शुगर पीना, शराब और सिगरेट पीना आदि का ही इन्हें शौक होता है। इस नयी पीढ़ी के सामने आदर्श न होने का ही यह परिणाम है और इसे ही आधुनिकता कहा जाता है। जो व्यक्ति यह सब नहीं करता, उसे पिछड़ा माना जाता है।

2.6 नैतिकता और आधुनिक युगबोध :-

इसतरह आधुनिकता ने एक नई विचारधारा और नैतिकता को जन्म दिया। आधुनिक युग की यह नैतिकता आधुनिक मनुष्य के लिए स्वर्ग या नरक का सोपान नहीं है, तो उसके व्यक्तिक स्पंदनों से संबद्ध है। व्यक्ति उसे अपनी उत्तेजनाओं और प्रेरणाओं से उत्पन्न मानता है। नयी नैतिकता यह है कि यहाँ जो कुछ भी है, मनुष्य के साहस, श्रम और बुध्दि के अधीन है। इसमें अदृश्य या देवता का हाथ नहीं है। "आज का युग जनाधिक्य का युग है। इस पर नियंत्रण के लिए आधुनिक समाज ने बंध्याकरण, गर्भ-निरोधक साधनों, गर्भपात और विलंबित विवाह का सहारा लेना प्रारंभ किया है।"[41] इन सब बातों से एक नयी नैतिकता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। उदा. आधुनिक स्त्रियों में मातृत्व के वरण की अपेक्षा अप्सरा धर्म के प्रति विशेष आकर्षण है। आचरण की पवित्रता से अधिक चमड़े के सौन्दर्य का महत्व आजकल बढ़ गया है। नारियाँ ज्यों-ज्यों शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय में अधिक मात्रा में प्रवेश करेंगी, पुरुषों पर अवलंबित न रहकर वैवाहिक बंधनों से स्वतंत्र होने की मंशा करेंगी, त्यों-त्यों पुरुष ये बाते कभी सहन नहीं करेंगे और फलस्वरूप संबंध विच्छेद की प्रवृत्ति निर्माण होगी और इसीकारण स्त्री और पुरुषों के वैयक्तिक संबंध, तरुण तरुणियों का दांपत्य जीवन पहले की अपेक्षा अधिक अपरिचित और तनावग्रस्त रहेगा। इस नयी नैतिकता ने वात्सल्य और ममत्व के प्रति पारंपरिक दृष्टिकोण ही बदल दिया है। कुछ सनातनी विचारकों का कहना है कि आधुनिक युग

की यह नैतिकता किसी स्वस्थ परंपरा का संकेत नहीं हैं। आज 'सेक्स' ही युगबोध और युगसत्य बन गया है। वास्तव में नयी नैतिकता के नेतृत्व के ब्याज से आधुनिकता प्रेम और वासना के संदर्भ में स्वेच्छाचार को प्रश्रय देना चाहती है।

इसप्रकार कुलमिलाकर आज का व्यक्तिअलगाव, संत्रास, अपनापन, अकेलापन आदि समस्याओं से घिरा हुआ है। जब वह झूठी शान, मर्यादा तथा गलत तर्कों पर जिन्दा रहना चाहता है। वह भीड़ में अपना परिचय नहीं दे सकता। आज की शासन व्यवस्था तथा अर्थतंत्र के कारण वह केवल अकेला ही नहीं रहा, तो पेशे की एकरूपता के कारण आदमी की पहचान खो चुका है। वह परतंत्र है और उसका 'स्व' लुप्त है। यह आधुनिक आदमी की समस्या है। हमारे देश में होनेवाले पूँजीवादी लोग अपनी महत्वाकांक्षा और सफलता के कारण आत्मनिर्वासित है, तो गरीब लोग असफलता, बेकारी, गरीबी तथा बेरोजगारी के कारण निर्वासित है।

पाश्चात्य देशों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ होने के कारण हमारे देश की समस्या अलग ही हैं, संकट अलग ही है। 40 प्रतिशत लोग अपनी प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर पाते। देश में बाहर से अनाज मँगाना पड़ता है। जनसंख्या बढ़ रही है। इन सभी कारणों से असली चीज नकली में बदल गयी है। संपूर्ण देश आर्थिक संकट, बेरोजगारी, बेकारी से संत्रस्त है। आज सभी ओर सिफारसों की जरूरत है। भारत में एक ओर पूँजीपति, तो दूसरी ओर निम्नवर्ग है। यहां गरीबी तथा बेकारी हटाने के सिर्फ नारे ही लगाये जाते हैं। देश में सिर्फ व्यक्तिवाद, जातिवाद, भाषावाद ही फैला हुआ है। स्वार्थी और नकली नेता समाज के लिए कुछ नहीं करते और इन सब कारणों से जनता उच्च और महान कुछ नहीं कर सकती। फलतः उनमें अकेलापन, निराशा, व्यर्थता दिखाई देती है। संत्रास और अस्तित्व का भी प्रश्न व्यक्ति को सता रहा है।

इस प्रकार आधुनिक युगबोध में एकांगिता ही अधिक है। अनेक विद्वानों ने आधुनिकता की निराशाभरी व्याख्या की है, जो अनेक स्तरों पर संगत लगती है। संकट तो है ही, लेकिन आधुनिक युग बोध के संकट को दिखाना, हताशा या अकर्मण्य बनाना ही उद्देश्य नहीं हैं, तो इस संकट से व्यक्ति को सावधान बनाना ही उद्देश्य हैं। सिर्फ संकट देखकर 'आधुनिक बोध है' कहकर इसे छोड़ नहीं देना चाहिए, तो उन संकटों पर मात करके 'आधुनिक युगबोध यह भी है' यह सिद्ध करना चाहिए। आधुनिक युगबोध के खतरे से सावधान होकर समर्थ लोकनायक, चिंतक मानव जीवन के शुभपक्ष

की भी कल्पना कर सकते हैं। "अतर्जीवन में अवचेतन मन के उद्घाटन के फलस्वरूप निरंतर चेतना प्रवाह को सिध्दि से हमारे नैतिक और रागात्मक मूल्यों में निश्चय ही संशोधन हुआ है। जैविक प्रवृत्तियों का महत्व बढ़ा है और विवेक एवं प्रज्ञा का गौरव क्षीण हुआ है। परन्तु इसके कारण चेतना को नवीन अंत:प्रकाश नहीं मिला केवल अवसाद का अंधकार ही बढ़ा है, यह कल्पना एकांगी है।"[42]

इस प्रकार डॉ. नगेन्द्र इसे आधुनिक युगबोध नहीं मानते। ऐसी दशा में आधुनिकता के प्रति प्रतिबद्ध या उसके पक्षधर होकर अंधकार और निराशामयी व्यास्था करना युग सत्य नहीं हो सकता। यह निराशाजनक स्थिति आधुनिकता की मात्र एक प्रवृत्ति भर हो सकती है। अतः निराशा और अवसाद को ही आज के युगबोध का लक्षण नहीं माना जा सकता। आधुनिक युगबोध में ऐसे भी अनेक तत्व हैं, जो अच्छे हैं।

आधुनिकता के प्रेरक तत्व युगीन प्रवृत्तियों में ही घुले-मिले रहते हैं। किसी भी युगविशेष का निर्माण उन्हीं घटनाओं एवं परिस्थितियों के द्वारा होता है, जिसका प्रभाव आधिकारिक एवं गहन होता है। सरिता स्वयं जिसप्रकार अपना मार्ग खोज लेती है, उसीप्रकार जीवन की धारा भी अंधकार के गहवर चीरकर ही आशा और प्रकाश के संसार में पदार्पण करती है।

निष्कर्ष:

आधुनिक युगबोध याने आज के समाज में होनेवाले विचार। आधुनिक युगबोध यह शब्द आधुनिकीकरण और आधुनिकता के संबंध में भी प्रयुक्त होता है। आधुनिकीकरण और आधुनिकता-बोध का गहरा संबंध है। धर्म के संबंध में बदले हुए विचार, आंतरराष्ट्रीय रुचि संबंधी बदले विचार, रहन-सहन संबंधी मत, परंपरा और रूढियों का विरोध, मूल्यहीनता आदि आधुनिक युगबोध की प्रवृत्तियाँ हैं।

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के कारण हुआ परिवर्तन भी आधुनिक युगबोध के अंतर्गत ही आता है। विज्ञान का अर्थ है वैज्ञानिकों द्वारा की गयी खोज। उदा. बिजली और टेक्नॉलॉजी के इस परिप्रेक्ष्य में मायने है, जहां पर इस विज्ञान का व्यवहार में किया गया प्रयोग और इन सब कारणों से जो समस्याएँ उत्पन्न होती है, वह भी आधुनिक युगबोध के अंतर्गत ही आती हैं।

2.7 त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में आधुनिक बोध : एक विहंगम दृष्टि

हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि और आधुनिक हिंदी कविता के प्रमुख कवि शास्त्री जी की काव्यान्तर्गत पूरा भारत बसता है। उनकी कविता सधी हुई और संयमित होती है। प्राकृतिक सौंदर्य, जीवन, जिज्ञासा, संघर्ष, सकारात्मकता आदि बिम्ब उनकी काव्यान्तर्गत देखने को मिलते हैं।

त्रिलोचन को हिन्दी साहित्य की प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रमुख कवि में रूप जानते है। उनका कहना था कि भाषा में जितने अधिक प्रयोग होंगे वह उतनी ही अधिक भाषा समृद्ध होगी। त्रिलोचन ने हमेशा ही नवसृजन कार्य को प्रोत्साहन दिया है। वे आधुनिक हिंदी कविता की प्रगतिवादी काव्यधारान्तर्गत तीन प्रमुख स्तंभों में से एक थे। इसके अन्य दो स्तम्भ नागार्जुन व शमशेर बहादुर सिंह थे।

त्रिलोचन की कविता ही उदाहरण है कि उन्होंने जीवन की पाठशाला में ही काव्य की दीक्षा ली है, जो अपने लोक से उन्हें मिली है। इसी रास्ते चलकर कविता को एक समाज की अभिव्यक्ति का आकार प्रदान कर पाये हैं। विकास का अर्थ उनके लिये जीवन में ही है, उससे बाहर नहीं। जीवनोत्तर प्रगति व्यर्थ है, मिथ्या है उनके लिये!-

"जीवन में ही प्रगति भरी है, अलग नहीं है।
जो बाहर है वस्तु तत्व से दूर कहीं है।"[43]

इससे यह स्पष्ट होता है कि उनके काव्यान्तर्गत में ही परिवर्तन और प्रगति की सार्थकता छिपी है। यहाँ यह भी लक्ष्य किया जाना चाहिए कि जीवन में जटिलता भी है, दु:ख भी, अकेलापन भी, अथाह शून्यता भी, पर इन विपदाओं का लेखा-जोखा नहीं है। त्रिलोचन का कवि स्वीकारता तो है कि पीड़ा है पर उससे वह टूटा- हारा नहीं है, हताश होकर बैठ नहीं गया है। वह सदैव दु:खों की माला नहीं जपता। वह कर्मयोगी है।

त्रिलोचन इस तरह भावों को अच्छी तरह से जानने वाले कवि हैं, वे उसका बखान नहीं करते। यह उनके दृढ़ व्यक्तित्व को बतलाता है। आज मानवता के ह्रास का एक बड़ा कारण चरित्र का दुय्यमता है और कई बार तो चरित्र के विचलन को ही आधुनिकता का पर्याय मान लिया जाता है क्योंकि पूँजी ने मानव के सबंधों को धन-संबंधों में ही बदलने का कार्य किया है और सुख की झूठी व्याख्या की है। परंतु उनके चरित्र की एकनिष्ठता वस्तुत: आधुनिकता का भारतीय संदर्भ है जिसकी

जड़ें हमारी परंपरा और संस्कृति में है जो वे अपने पारंपरिक ज्ञान और संस्कार से लेते हैं। यही कारण है कि इनके प्राण-तत्व के रूप में तुलसी और निराला उनके आदर्श हैं जिनकी गुरुता उन्होंने स्वीकारी है हालाँकि दोनो अलग-अलग काल और परिस्थितियों के कवि हैं परंतु त्रिलोचन के अंतस में समाकर एकरस हो गये हैं।

त्रिलोचन के काव्यान्तर्गत आकर्षण का एक और कारण है, उनके काव्यान्तर्गत बड़ी मात्रा में लोकचित्रों और प्रकृति का समुपस्थित होता है। वे अपने आस-पास की प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, उनकी बारीक गतिविधियों का अवगाहन करते हैं और सादी भाषा की लड़ियों में पिरोकर कविता की सुन्दर माला रच देते हैं। इस प्रकार प्रकृति के व्यापारों से न्यस्त होकर उनकी कविता में कला का स्वत: प्रस्फुटन हो जाता है अथवा कहें कि, वे कला के लिये कविता नहीं करते थे। इसलिये उनकी कविता में वक्रता और गूढ़ता की जगह आत्मीयता और सरलता का बोध होता है। यही उनका कलावाद है-

" कजरारे चंचलबादल।
छिपते छिपते जब तब तारे
उज्ज्वल झल मल।"[44]

वर्तमान समय में शास्त्री जी के कविता की प्रासंगिकता का प्रभाव अपने देश में उदारीकरण और वैश्वीकरण के पश्चात अधिक प्रभावी रूप से कारगर सिद्ध हुआ। यह एक ऐसा विचार है जिसमें मानव के वही मूल्य, वस्तु, कला और प्रयत्न टिक पायेंगे जो बाजार के पक्ष में हो और उपभोक्ता-मनुष्य के लिये उपयोगी हो क्योंकि यह विचार जीवन और संस्कृति के हरेक वाक्य, शब्द और परिणाम को एक बिकाऊ उत्पाद में बदल देने पर जोर दे रहा है। ऐसे में भारतीय साहित्य के देशज चरित्र के नष्ट हो जाने का खतरा स्वाभाविक है। साथ ही यह आदमी में ऐसी रुचि को उत्पन्न करने का उपक्रम कर रहा है जो बाजार और विज्ञापन की भाषा को महत्व दे। यह सृजन, विचार और आत्मिक भाव की भाषा को कसौटी पर रखता है। इस कारण शास्त्री जी और ऐसे अन्य कवियों को जानने तथा समझने के लिए लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य तो उस ज़मीन की जानकारी देते हैं जिसके विषय में वे विचारों की अभिव्यक्ति कर जाते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि यह मनुष्यता की संस्कृति में विश्वास रखता है। इस संदर्भ में त्रिलोचन की कविता को देखने से यह पता चलता है

कि उनकी कविता उस लोक-हृदय का पता देती है जिसमें बाजार के लिये जगह नहीं। बाजार के विपरीत, मानव की मूल संवेदना को जगाने में समर्थ है क्योंकि दुनियाभर में चल रहे अन्याय और उत्पीड़न से अलग वह एक प्रेममय, विलक्षण संसार की रचना करता है जिसमें सच्चाई को प्रतिष्ठित करने की शब्दों में एक शक्ति रहती है।

अत: वरिष्ठ कवि और समालोचक मिश्रा जी की यह उक्ति हमें स्वीकारने में जरा भी संकोच नहीं कि "कविता उनके अत्यंत दायित्वशील जीवन का पर्याय है। उन्होंने कविता का मान रखने के लिये हर बड़ा खतरा उठाकर हमारे लिये एक अनुकरणीय आधार रचा है। ऐसे कवि ही अपनी जाति के गौरव होते हैं, जिनसे आनेवाली पीढियां उनसे प्रेरणा लेती हैं।"[45]

इसलिये त्रिलोचन जी के शब्दकर्म की बहुकोणीय समीक्षा और प्रतिष्ठा वर्तमान कविता-समय की माँग है। इसप्रकार हमने त्रिलोचन जी की आधुनिक हिंदी कविता पर दृष्टिपात कर, उन पड़ाओं की पहचान करने का प्रयत्न किया है, जो हमारे उपजीव्य कृतिकार के कवित्व की रचनाशीलता को समझने में सहायक है।

****

संदर्भ संकेत :-

1. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी सहित्य का इतिहास, पृ. 402

2. वही, पृ. 403

3. डॉ. विनयकुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ. 77

4. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, पृ. 18

5. डॉ. विनयकुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ. 57

6. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी सहित्य का इतिहास, पृ.410

7. वही, पृ. 411

8. डॉ. पुरूषोत्तम उपाध्याय, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ. 67

9. डॉ. सधीरकुमार श्रीवास्तव, हिंदी साहित्य का विकास, पृ. 49

10. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, पृ. 32

11. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार, पृ.53

12. डॉ. विनयकुमार पाठक,हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ.32

13. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र,उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार, पृ. 29

14. वही, पृ.39-40

15. वही, पृ.56

16. वही, पृ.56

17. वही, पृ.57

18. डॉ. विनयकुमार पाठक,हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ.32-33

19. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, पृ.13-14

20. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार, पृ.41

21. वही, पृ.45

22. वही, पृ.133

23. वही, पृ.54

24. वही, पृ.133

25. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, पृ.19

26. कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर-आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, पृ.84

27. वही, पृ.30

28. वही, पृ.40

29. कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर-आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, पृ.83

30. वहीं, पृ. 74

31. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार, पृ.17

32. डॉ. विष्णुस्वरूप, नया साहित्य: कुछ पहलू, पृ. 5

33. अमृतराय, आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा, 'विकल्प' (प्रवेशांक) मई 1967, पृ. 32

34. लक्ष्मीकांत वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ.265

35. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, नयी कविता और काव्य में स्थायी मूल्यों का प्रश्न, 'माध्यम', फरवरी 1968, पृ. 33

36. डॉ. हुकुमचंद राजपाल, विविध बोध: नये हस्ताक्षर-युगबोध:आधुनिक युगबोध तथा आधुनिकता बोध, पृ.101

37. डॉ. नगेंद्र-साहित्य: नया और पुराना-नवप्रकाशित आलोचनात्मक ग्रंथ, पृ.216

38. डॉ. रमेश कुंतल मेघ- 'आधुनिक बोध और आधुनिकीकरण', पृ. 135

39. डॉ.कुमार विमल - अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ. 293

40. डॉ. रामधारीसिंह 'दिनकर''आधुनिक बोध', पृ.75

41. डॉ. कुमार विमल, अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ. 229

42. डॉ. नगेन्द्र, नया साहित्य नये संदर्भ, पृ. 23

43. त्रिलोचन, धरती, पृ. 15

44. त्रिलोचन, धरती, पृ. 30

45. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ .112

****

तृतीय अध्याय

त्रिलोचन शास्त्री:व्यक्तित्व एवं कृतित्व

3.1 व्यक्तित्व :-

विख्यात प्रगतिशील कवि त्रिलोचन शास्त्री औसत भारतीय जनों के एक सशक्त कवि हैं। हिन्दी में निराला के बाद ये दूसरे कृषक कवि है, जिनमें भारतीयता का संस्कार कूट-कूट कर भरा है। अत्यंत सहज, अर्थयुक्त त्रिलोचन का काव्य मानवीय अनुभूतियों का थिराया हुआ पर संघनित रूप है। 'मानवता की पुकार' इनकी कविता का मुख्य स्वर है। शमशेर जी के शब्दों में "त्रिलोचन की वाणी का ओज उनके हृदय की प्रथा नहीं है. वह अमर मानवता की पुकार है।"[1] यह कवि काल को अपने में समेटे हुए कालातीत बन जाता है। गीत. ग़ज़ल , रुबाई, सॉनेट, काव्य नाटक, प्रबंध कविता इत्यादि अनेक रूपों में समृद्ध 'शब्द' के जादूगर इस कवि का समूचा काव्य-संसार निजी वैशिष्ट्य के कारण समकालीन कविता में स्थायी महत्व रखता है तथा अलग पहचान के अधिकारी है।

3.1.1 जन्म तथा जन्मस्थान :-

त्रिलोचन शास्त्री कृषक तथा देहाती थे। उनका जन्म 20 अगस्त 1917 को उत्तरप्रदेश, जिला सुलतानपुर, तहसील कादीपुर के गाँव कटघरा, चिरानिपट्टी में हुआ था। पिता का नाम ठाकुर जगरदेव सिंह था और वे बैरागी बाबू के नाम से जाने जाते थे। माँ यह ठाकुर थी। उसका विश्वास था कि पढ़ लिखकर व्यक्ति न तो देहाती जीवन के उतार-चढ़ाव या नित्य होने वाले झगड़ों के काबिल रहता है और न ही इससे उसका भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। वह तो बेटे को गँवार कृषक ही बनाना चाहती थी। इसी लिए सदैव बेटे की पढ़ाई का विरोध ही करती रही। कुल मिलाकर वे युद्ध प्रेमी ठाकुर परिवार के शर्मीले से पहलवान पुत्र थे। उनका बालपन का नाम ठाकुर वासुदेव सिंह था। त्रिलोचन नाम उनके संस्कृत के गुरु ने रखा था। 'वसुदेव सिंह' यह घरवालों का दिया हुआ नाम था। 'शास्त्री' की उपाधि और त्रिलोचन के साहित्यिक नाम से जुड़कर इनका नाम 'त्रिलोचन शास्त्री' हो गया था। सर्वमान समय में आपका 'त्रिलोचन' नाम ही अधिक प्रसिद्ध है।

"त्रिलोचन जी के पिता का नाम था जगरदेव सिंह। गाँव वाले उनको 'वैरागी बाबू' कहते थे। उनके पिता अपने पुत्र के अंदर संतों का ज्ञान स्फुरित हुआ देखना चाहते थे।"[2] "यही उनकी महती आकांक्षा थी। शायद इसलिए कि उन्होंने त्रिलोचन को बचपन ही में स्वामी जी की सेवा में सौंप दिया था, जो पिता जी के मित्र थे।"[3] शमशेर बहादुर के शब्दों में - "त्रिलोचन की माँ यह ठकुराइन थी। उस पर माँ का अतुल प्यार था। माँ चाहती थी कि बेटा शक्तिवान बने, ज़िंदगी से जूझने लायक बने। माँ की आँखों में भविष्य का सारा नक्शा वसुदेव की मौजूद जवानी की कर्मठता से बँधा हुआ था, मात्र अवध की यह श्रद्धेय सीधी-सादी, ठकुराइन सिर्फ इतना जानती थी कि जीवन संघर्ष के लिए शरीर में बल तो होना ही चाहिए और कितना ही बल क्यों न हो, वह कम ही पड़ेगा। जवान लड़का जितना खायेगा उतना ही उसमें बल आयेगा, सीधी-सी बात और इतना ही नहीं, वह दुश्मन पट्टीदारों से निपट भी सकेगा, जिसकी आगे जरूरत थी। ...सोचिये, वह कैसी माँ रही होंगी, जो अपने बेटे को सचमुच फौलाद का ही बना हुआ देखना चाहती थी, उससे कम नहीं।"[4] "वसुदेव बचपन में बहुत शर्मीला व्यक्ति था, यहाँ तक कि उनकी भौजी ने उन्हें 'दुलहिन' नाम दिया था।"[5] बचपन के अपने स्वभाव के बारे में उन्होंने स्वयं लिखा हैं -

"मैं छोटा था।
झेंपू था, मिलने-जुलने में सिकुड़ा-सिकुड़ा
रहता था। समान वय वालों से मोटा था
रहता था। समान वय वालों से मोटा था
पर फुर्ती थी। पीछा करने पर उठा-उड़ा,
यहाँ वहाँ फिरता था। कभी पकड़ में आता
नहीं...... ।"[6]

उनके पिता ने उन्हें बचपन में ही अपने मिश्र स्वामी जी की सेवा में सौंप दिया था-"किसी संकल्प के कारण। इसके अलावा ये उनके शिष्य बने हुए आसाम से पंजाब तक कई वर्षों तक घूमे थे। उसी अर्से में उन्होंने अच्छी तरह होश भी सँभाला। मगर वह फिर वापस गाँव आए और वहीं रहने लगे।"[7]

3.1.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि :-

त्रिलोचन का विवाह परंपरानुसार बचपन में ही हुआ था। पत्नी बडी सात्त्विक एवं दृढ़ स्वभाव की ग्राम्या है वह बहुत गुणवती देवी है। इस कारण त्रिलोचन जी पर उनका अच्छा नियंत्रण है। पहले पुत्र के जन्म के बाद त्रिलोचन काम ढूँढने निकले और देशाटन भी करते रहे, इसलिए दोनों कई सालों के लिए अलग रहे। बड़े सात्त्विक स्वभाव की इस साध्वी का त्रिलोचन जी के पूर्णरूपेण उन्नति में योगदान रहा है और त्रिलोचन के अच्छे व्यक्तियों से संपर्क का हमेशा स्वागत करती है। बुरे संपर्क को दृढ़ता के साथ मना करती है। इनका प्रेम त्रिलोचन के लिए जीवन के सभी क्षेत्रों में एक प्रेरणा है। "अपने घुमक्कड़ स्वभाव के कारण त्रिलोचन जी कमी रात-भर घर से गायब रहते। उनकी पत्नी में असंतोष जरूर था।"[8] कभी-कभी वह क्षुब्ध होती थी तब त्रिलोचन जी उन्हें मना लेते थे। इसके बारे में स्वयं त्रिलोचन जी अपने दैनन्दिनी में लिखते हैं- "पत्नी रात से अब तक के गैर हाजिरी पर क्षुब्ध थी। मना लिया।"[9] त्रिलोचन जी की पत्नी उनकी कमजोरियों एवं दुर्बलताओं को नष्ट करके पराजय या निराशा के क्षणों में शांति एवं सहारा प्रदान करनेवाली रही है। आर्थिक अभावों एवं मुसीबतों के बीच में भी सुखी रहना ये दोनों खूब जानते हैं। त्रिलोचन जी को दु:ख था कि आर्थिक अभाव के कारण पत्नी की इच्छाएँ पूरी कर नहीं पाते हैं। यह बात निम्न सॉनेट में अपने भावातिरेक के साथ उभर आती है-

" ग्वैंडे आया, और हाथ दोनों हैं खाली,
सजी खूब थी हाट, मगर मुश्किल था पाना
पैसों बिना।"[10]

"त्रिलोचन का जीवन दु:ख पूर्ण था। जीवन-निर्वाह के लिए उन्होंने अनेक नौकरियाँ कीं। अपने अक्खड़ और फक्खड़ स्वभाव के कारण से वे किसी नौकरी में स्थिर न रह सके। कई जगहों में कई प्रकार की नौकरी उन्होंने की है। 'आज', 'जन वार्ता', 'समाज', 'प्रदीप' और 'चित्र रेखा', 'हंस' और 'कहानी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में सह-संपादन का कार्य भी उन्होंने सँभाला है।"[11] यहाँ विश्वनाथ मुखरजी का निरीक्षण उल्लेखनीय है कि "चित्र रेखा (1996, तीन अंक), 'कहानी' (1931-41), 'हंस' (1940 के तीन अंक) आदि का संपादन करके आपने दिखा दिया कि संपादकत्व क्या है।"[12] 1946-47 तक अनेक शब्दकोषों के संपादन में सहयोग दिया। "1970-72 में विदेशी छात्रों में हिन्दी, संस्कृत,

उर्दू की शिक्षा में व्यस्त रहे। कुछ दिनों उर्दू विभाग, द्वैभाषिक कोश (उर्दू-हिन्दी) परियोजना दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली में कार्यरत रहे।"[13] निराला के समान त्रिलोचन भी अनगिनत अभावों से गुज़रे थे, आर्थिक अभावों के बीच महान जीवनादर्शों को लेकर चलने के परिणाम स्वरूप उन्हें बहुत कष्ट भोगना भी पड़ा है।

3.1.3 शिक्षा-दीक्षा :-

त्रिलोचन के पिता जी की इच्छा थी कि उनको पढायें। लेकिन उनकी माँ बेटे को पढाने के विपक्ष में थी। परंतु उनकी दादी उसको पढाने के पक्ष में ही थी। इसलिए वह गाँव के कुछ दूर एक स्कूल में भेजा गया। उनकी माता यह कभी नहीं चाहती थी कि पढ़-लिखकर उनका भविष्य बिगड़ जाय। लेकिन उसकी बुआ उन्हें पढाने पर तुली थी। स्वयं त्रिलोचन पर भी पढ़ने की धुन सवार थी। इसलिए तो चम्पा को उनसे कहना पडा -

"तुम कागद ही गोदा करते हो दिन भर
क्या यह काम बहुत अच्छा है।"[14]

पढ़ने में वसुदेव सिंह बहुत होशियार थे। "गुरुजी ने व्याकरण का मारेश्वर सूत्र पढ़ाया। सूत्र कुछ कठिन था। गुरुजी के पूछने पर वसुदेव ने बिना कागज़ देखे ही पूरे सूत्र अच्छी तरह से सुना दिया। गुरुजी बहुत संतुष्ट हुए। कहा जाता है कि 'त्रिलोचन' नाम भी उसी समय गुरुजी के द्वारा रखा गया था।"[15] स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के अलावा फ़ारसी सीखने के लिए एक 38 मौलवी के पास जाते थे। पंजाब से उन्होंने संस्कृत में 'शास्त्री' किया। शैक्षणिक उपाधियों को उन्होंने हमेशा उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। त्रिलोचन जी को निकट से जानने वाले श्री. लक्ष्मीशंकर श्रेष्ठ ने लिखा है कि "त्रिलोचन चतुरानन तो नहीं है। लेकिन है, चतुर, और दशानन न होते हुए भी खबर दशों दिशाओं की रखते हैं-साहित्य ज्ञान और भाषा विज्ञान की, त्रिलोचन की पिपासा उनके तीसरे नेत्र की ही देन समझी जा सकती है।"[16]

❖ **सम्मान एवं पुरस्कार:**

1. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान सम्मान (1984) - गुलाब और बुलबुल पर।
2. उत्तर प्रदेश हिंदी समिति पुरस्कार (1958) - दिगंत पर।

3. साहित्य अकादमी पुरस्कार (1981) - काव्य संग्रह 'ताप के ताए हुए दिन' पर।

4. उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान सम्मान (1984) - काव्य संग्रह 'दिगंत', 'गुलाब और बुलबुल' पर।

5. मैथिलीशरण गुप्त सम्मान (1990) - 'काव्योत्कर्ष' के लिए।

6. 'शलाका सम्मान' (1992) - हिन्दी अकादमी, नई दिल्ली द्वारा साहित्य में योगदान हेतु ।

7. भवानी प्रसाद मिश्र राष्ट्रीय पुरस्कार (1993), म. प्र. साहित्य परिषद द्वारा काव्य-संग्रह 'फूल नाम है एक' पर।

8. सुलभ साहित्य अकादमी पुरस्कार (1999) - साहित्य साधना हेतु ।

9. भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता पत्रकारिता में योगदान के लिए। (2008 भाषा, कविता और पत्रकारिता में योगदान के लिए।

(1) कविता संग्रह :-

01. 'धरती' (1945), प्रथम संस्करण-प्रदीप प्रेस, मुरादाबाद (उ. प्र.)।

02. 'गुलाब और बुलबुल' (1956), प्रथम संस्करण-जगत शखधर, वाराणसी (उ. प्र.)।

03. 'दिगंत' (1957), प्रथम संस्करण-जगत शंखधर, वाराणसी (उ. प्र.)।

04. 'ताप के ताए हुए दिन' (1980) प्रथम संस्करण- संभावना प्रकाशन, हापुड।

05. 'शब्द' (1980). राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

06. 'उस जनपद का कवि हूँ' (1981), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

07. 'अरघान' (1983) यात्री प्रकाशन, दिल्ली।

08. 'अनकहनी भी कुछ कहनी है' (1985), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

09. 'तुम्हें सौंपता हूँ' (1985), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

10. 'फूल नाम है एक' (1985), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

11. 'सबका अपना आकाश' (1987), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

12. 'चैती' (1987), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

13. 'अमोला' (1950), अवधी भाषा में रचित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

14. 'मेरा घर' (2002), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

15. 'जीने की कला' (2004), किताबघर, नई दिल्ली।

(2) कहानी संग्रह :-

1. 'देशकाल' (1986), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

II. डायरी :-

'रोजनामचा' (1992), साहित्य वाणी, इलाहाबाद (उ०प्र०)।

III.निबन्ध आलोचना :-

'काव्य और अर्थबोध' (1995), साहित्य वाणी, इलाहाबाद ।

IV. संपादन :-

'मुक्तिबोध की कविताएँ' (1991), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

V. **अन्य :-**

1. प्रतिनिधि कविताएँ (1985), सं.- शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. साक्षात् त्रिलोचन (1990), लम्बी बातचीत, कमलाकांत द्विवेदी / दिविक रमेश, सिद्धार्थ पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
3. त्रिलोचन के बारे में (1994), संपादक- गोविन्द प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. त्रिलोचन संचयिता (2002). संपादक- ध्रुव शुक्ल, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय।
5. मेरे सलाहकार (2004), संपादक श्याम सुशील, किताबघर, नई दिल्ली।

(3) निधन :-

त्रिलोचन एक बड़े कवि के साथ महान कोशकार भी थे। हिंदी, संस्कृति, अँग्रेज़ी और फारसी सहित कई भाषाओं पर उनका अधिकार था। उन्होंने हिंदी को विविध तरह के नए शब्द दिए, जिससे भाषा न सिर्फ़ समृद्ध हुई, अपितु उसमें विविध विषयों को व्यक्त करने का आत्मविश्वास भी बढ़ा। उत्तर प्रदेश के सुलतानपुर जिले में एकटघरा चिरानीपट्टी में 20 अगस्त 1917 को जन्मे त्रिलोचन

शास्त्री जनपदीय काव्यबोध और प्रगतिशील काव्यधारा के अंतिम कवि थे, जिनका देहावसान रविवार, 9 दिसम्बर, 2007 को उनके निवास स्थान गाजियाबाद हुआ था।

3.1.4 व्यक्तित्व की पहलू :-

शिवप्रसाद सिंह का कथन है कि "त्रिलोचन शिव का नाम है। शिव का तीसरा नेत्र है जो वक्र है। हिन्दी में लोग जिसे त्रिलोचन नाम से जानते हैं वह एक वक्रावक्र सामान्य का सहज प्रतीक है।"[17] श्री नन्दकिशोर नवल के अनुसार- "त्रिलोचन जी शीशे की तरह साफ, दृढ़ प्रकृति के और साथ ही संत अथवा श्रेष्ठ मनुष्य की तरह विलक्षण व्यक्ति है।"[18] त्रिलोचन जी व्यक्तित्व की नानामुखता, वैविध्य एवं गहराई के कारण हमेशा अपने मित्रों के लिए भी एक रहस्यमयी व्यक्ति रहे हैं। स्वयं त्रिलोचन जी ने अपने व्यक्तित्व के ऊपर, कभी व्यंग्य करते हुए कभी अन्यथा, कई सॉनेट लिखे हैं। देखिए वह अपने को कैसे चित्रित करते हैं-

"वही त्रिलोचन है जिसके तन पर गंदे
कपडे हैं. कपडे भी कैसे-फटे लटे हैं,
यह भी फैशन है, फैशन से कटे कटे हैं...।"[19]

यह पहनावा भी इनके महान व्यक्तित्व को छल नहीं सकता। इनके हर हाव-भाव में, चलने के ढंग में व्यक्तित्व की गहराई झलक उठती है। देह में लिपटी दीनता से इनका मन बिलकुल निर्लिप्त है। इसलिए इनका किसी भी झिझक से मुक्त उत्साही व्यवहार है। इस महान स्वभाव का मूल यह है कि इनका व्यक्तित्व जीवन के कटु अनुभवों की भट्ठी में निखरा है-

"जीवन इसका जो कुछ है पथ पर बिखरा है,
तप-तप कर ही भट्ठी में सोना निखरा है।"[20]

त्रिलोचन जी कहते हैं कि बोलते समय वे दूसरों की ऊब या उत्सुकता का पूरा ध्यान रखते हैं। कोई सुननेवाला मिले तो त्रिलोचन घंटों प्रवचन देते रहेंगे। त्रिलोचन जी नियम के ज़रूर पक्के हैं। विश्वनाथ मुखरजी के शब्दों में -"स्वाभिमान तो इन में कूट-कूटकर नहीं हँस-हँसकर भरा है।"[21] "त्रिलोचन जी एक नम्रशील व्यक्ति हैं। व्यक्तित्वारोपण उनकी प्रवृत्ति में है ही नहीं, जिसे श्री. शिवप्रसाद सिंह उनकी एक सिद्धि मानते हैं।"[22] "त्रिलोचन व्यक्तित्वों का शिकार हुए हैं, उनका

व्यक्तित्व हमेशा निरामिष रहा है।"[23] वे अपने ज्ञान को गर्व की बात नहीं मानते। यह बात सही है कि दूसरों की सेवा में अपनी जानकारी प्रस्तुत करने में वे सदैव तैयार हैं। नम्रता के साथ उनमें वह दृढ़ता भी थी जो उनके व्यक्तित्व को अतुल गरिमा प्रदान करती है। वे जितना अपने चिंतन एवं लेखन में प्रगतिशील थे उससे कहीं अधिक अपने जीवन में थे। स्वयं कठिनाइयों एवं गरीबी से गुज़रने के कारण शायद वे गरीबों एवं पीडितों की वेदना को अच्छी तरह समझ लेते थे।

"त्रिलोचन जी के व्यक्तित्व को समग्र दृष्टि से देखने पर वे एक 'ग्रामात्मा' सिद्ध होते हैं। उनके काव्य की ओर इशारा करते हुए बाबा नागार्जुन जी ने उन्हें 'ग्रामात्मा' कहा है।"[24] यह खिताब उनके व्यक्तित्व के संबंध में भी सही प्रतीत होता है। शिवप्रसाद शुक्ल के अनुसार "त्रिलोचन, शमशेर और नागार्जुन, ये तीन ही ऐसे व्यक्ति हैं हिन्दी में, जो चाह कर भी अपने व्यक्तित्व से भारतीय ग्राम-संस्कृति की कडियल सोंधी गंध और अक्खड़ आत्मीयता को अलग नहीं कर सके हैं।"[25] इसी भाव के संबंध में उमेशचन्द्र मिश्र ने लिखा है "त्रिलोचन नगर में रह कर भी नागरिकता के बनाव, चुनाव से बहुत दूर हैं।"[26]

जीवन की कटुताओं से मिडकर भी संतुलन और मानसिक शान्ति बनाए रखना त्रिलोचन जी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में - "अब भी वह हँसते हुए मिलते हैं। उनकी बातों में वैसा ही रस होता है। सडकों पर घूमते हुए साहित्य-चर्चा में डूब जाने की क्षमता बरकरार है। यह कोई जीवन की साधारण सफलता है।"[27]

3.1.5 त्रिलोचन शास्त्री का कवि-व्यक्तित्व :-

"त्रिलोचन जी को देखते ही हर बार मन पर एक असाहित्यिक, अवैज्ञानिक प्रश्न अपने आप लिखा जाता है; वह कौन-सी चीज़ है, जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर वह शमशेर हो जाती है और घटा देने पर नागार्जुन?"[28] प्रस्तुत कथन स्वर्गीय श्री फणीश्वरनाथ रेणु का है। रेणु जी के हृदय पटल के उस प्रश्न का उत्तर ढूँढने में हमें सफलता प्राप्त न होने पर भी यह बात स्पष्ट है कि नागार्जुन जी या शमशेर जी की जैसी लोकप्रियता त्रिलोचन शास्त्री को शायद न मिली हो, तो भी उनके कवि-व्यक्तित्व हिन्दी के काव्याकाश में अनिर्वचनीय रूप में शोभायमान होकर ऊर्ध्व स्थान में ही चमक रहा है। फिर डॉ. रामविलास शर्मा जी के ही शब्दों में "त्रिलोचन कवि है। बहुत लोकप्रिय नहीं है किन्तु

कुछ लोग जो विद्वान और साहित्यप्रेमी है, उनकी कविताएँ बहुत पसंद करते हैं।"[29] इसके अतिरिक्त वे प्रगतिशील धारा के एक विशिष्ट एवं मूर्धन्य कवि हैं। डॉ. कृष्णलाल हंस लिखते हैं कि " कवि त्रिलोचन को प्रगतिवादी काव्यधारा के एक समर्थ कवि होने का सम्मान प्राप्त है।"[30]

3.1.6 कृतित्व :-

रचनात्मक लेखन, शब्दकोष संपादन और पत्रकारिता त्रिलोचन शास्त्री के तीन क्षेत्र रहे हैं। उनके तेरह कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ये काव्य कृतियाँ त्रिलोचन के कवि-व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में सहायक हैं। इनके संग्रहों में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से मौलिकता के दर्शन होते हैं। 1945 में त्रिलोचन का पहला काव्यसंग्रह 'धरती' प्रकाशित हुआ। 1956 ई. में उनकी ग़ज़लों और रुबाइयों का संग्रह 'गुलाब और बुलबुल' प्रकाश में आया। 1957 में त्रिलोचन का सॉनेटों का महत्वपूर्ण संग्रह 'दिगंत' छपा। त्रिलोचन का 1980 में 'ताप के ताये हुए दिन', 1980 में ही 'शब्द', 1981 में 'उस जनपद का कवि हूँ', 1984 में 'अरघान' 1885 में 'तुम्हें सौंपता हूँ' 1985 में ही 'फूल नाम है एक' और 'अनकहनी भी कुछ कहनी है' 1987 में 'सबका अपना आकाश' और 'चैती', 1990 में 'अमोला' नामक अत्यंत महत्वपूर्ण काव्यकृतियाँ प्रकाशित हुईं। ये काव्यकृतियाँ हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा को एक नया आयाम देती हैं। त्रिलोचन की उक्त काव्यकृतियों में बहुत-सी ऐसी कविताएँ हैं, जो हिन्दी साहित्य की धरोहर हैं। हिन्दी काव्य जगत इनकी कविताओं से पर्याप्त समृद्ध हुआ है। इस कवि की काव्यकृतियों पर बहुत से सम्मानजनक पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके हैं जिससे इनकी कविताओं की लोकप्रियता स्पष्ट हो जाती है। 1981 में 'ताप के ताये हुए दिन' नामक काव्यकृति पर शास्त्री जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1983-84 में इनके ग़ज़लों और रुबाइयों के महत्वपूर्ण संग्रह 'गुलाब और बुलबुल' पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा सम्मान पुरस्कार प्रदान किया गया। 1989 में त्रिलोचन को मध्यप्रदेश के पुरस्कार 'मैथिली शरण गुप्त सम्मान' से सम्मानित किया गया। त्रिलोचन को प्राप्त कई महत्वपूर्ण पुरस्कार उनके महत्वपूर्ण कवि-व्यक्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

3.2 कविता संग्रह :-

3.2.1 'धरती' (1945) :-

'धरती' त्रिलोचन का पहला कविता संग्रह है। इसका प्रथम प्रकाशन सन् 1945 में हुआ। छायावाद के संदर्भ में 'धरती' की कविताओं को समानान्तर रखकर देखने से 'धरती' जैसे संग्रह के काव्य तथा गीतों का महत्व अधिक स्पष्ट रूप में उजागर होता है। त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत काव्य पर प्रत्यक्ष रूप में जोर दिया गया है, जिसमें कृषक जीवन के सामूहिक श्रम तथा संघर्ष के चित्रों को सहज एवं अलंकृत शैली के माध्यम से रखा गया है -

"हे धूप कठिन सिर-ऊपर
थम गयी हवा है जैसे
दोनों दूबों के ऊपर
रख पैर सींचते पानी
उस मलिन हरी धरती पर
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी।"[31]

'धरती' के बारे में मुक्तिबोध जी ने लिखा था कि "मुझे कहने दीजिए कि धरती (त्रिलोचन का काव्य संग्रह) के गीतों का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है, जिनसे मात्र काव्य सामर्थ्य ही नहीं प्रकट होता, वरन् जीवन के विस्तृत दायरे के विभिन्न भागों का काव्यात्मक आकलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है।"[32] वस्तुतः 'धरती' सामाजिक उत्तरदायित्व की रचना है। इन काव्यान्तर्गत अनपढ़ बच्ची चंपा है, चित्राजंबोरकर है, नगई महरा है, भोरई केवट है, अछूत निषाद है तो सब्जी बेचनेवाली बुढिया है। इन में भारत के कृषक-मजदूरों और सुख-दुःख को सहती संघर्षशील जनता की मुँह से बोलती तस्वीर अपने सरल रूपों में सामने आती है। इन चरित्रों में कवि की व्यापक सहानुभूति, दलित-मुक्ति चेतना और जनवादी विचार धारा को देखा जा सकता है।

कल्पना की सुन्दर छवियों का साकार रूप उनके प्रकृति संबंधित काव्यान्तर्गत दिखायी देता है। सामाजिक कविताओं की पृष्ठभूमि में भी कवि ने कल्पना के माध्यम से नवीन समाज के सुख-स्वप्नों को संजोया है। "जहाँ श्री रामेश्वर शर्मा 'धरती' की कविताओं को टेकनिक प्रधान एवं

प्रयोगात्मक मानते हैं श्री शमशेर बहादूर सिंह के अनुसार 'सहजता ही उनका प्राण' है। इस संकलन में जन-जीवन के परिवेश के चित्र, उसकी विशद व्याख्या, एक निरायास सहजता में आए हैं, और यह सहजता ही 'धरती' के पद्य का प्राण है।"[33] यहाँ तथ्य बिलकुल स्पष्ट है कि संपूर्ण काव्यान्तर्गत, वे चाहे प्रणय परक हो या प्रकृति संबंधी, कवि की प्रगतिशीलता प्रकट होती है। सामाजिक लक्ष्य के प्रति जागरूक कवि की ये आकांक्षायें मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य पर केन्द्रित है। संसार को बदलने की कवि की ये इच्छाएँ और स्वप्न केवल भावात्मक नहीं बल्कि वह उसका ठोस जीवन दर्शन ही है।

इस संग्रह की कविताएँ त्रिलोचन जी की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर तीन वर्गों में पृथक रूप से रखी जा सकती है, जिसमें (1) प्रेम संबंधी कविताएँ (2) प्राकृतिक सौंदर्य के आकर्षण को वाणी देनेवाली कविताएँ (3) कवि की सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति देनेवाली कविताएँ शामिल रही हैं।

1. प्रेम संबंधी कविताएँ :-

'मिलकर वे दोनों प्राणी', 'जब जिस छन में हारा', 'चाहे जो समझे यह दुनिया', 'कभी अकेला बिलकुल हो जाता हूँ', 'आज मैं अकेला', 'मुझे तुम्हारी याद आती', आदि काव्यान्तर्गत प्रेम का स्वस्थ रूप अभिव्यक्त हुआ है। यह प्रेम न तो रूप लिप्सा पर आधारित है। यह प्रेम विलासिता और शारीरिक भूख से परिचालित न होकर साहचर्य तथा श्रम पर आधारित है। श्रम और साहचर्य पर आधारित यह प्रेम कितना अनोखा है-

"यह उनका प्यार अनोखा
है उत्पादक, है दृढ़तर...... ।"[34]

यह प्रेम 'किसानी रूप'[35] है, जो सहयोग भूमि पर आधारित होकर श्रम की संबद्ध भावना से परिचालित है। यह प्रेम प्रेमी को निष्क्रिय बनाने वाला नहीं बल्कि उसको कर्मक्षेत्र में बढ़ने के लिए बल देता है। त्रिलोचन का यह प्रेम गृहस्थ जीवन संबंधित प्रेम हैं। प्रेम के जो बिंब उन्होंने प्रस्तुत किये हैं, वे एक उत्तरदायित्वपूर्ण गृहस्थ जीवन के हैं। यह केवल आदर्श प्रेम नहीं है, यथार्थ की भूमि पर खड़ा प्रेम है। प्रेम की सहज मजबूरियों यहाँ भी हैं प्रेम संबंधी कवि की आलोच्य परिकल्पना का विस्तृत विमर्श अन्यत्र किया जाएगा।

2. प्रकृति-चित्रण संबंधी कविताएँ :-

प्रकृति के सौंदर्य से संबंधित अनेक कविताएँ प्रस्तुत संग्रह में हैं। कवि के लिए प्रकृति जहाँ मानव की चिरसंगिनी होने के कारण व्यापक मानव जीवन का अंग है, वहीं वह कवि हृदय में एक उदात्त सौंदर्य चेतना की सृष्टि करनेवाली एक अद्भुत शक्ति है। प्रकृति के निर्मल रूप को देख कर कवि कहता है। जैसे -

"धूप सुन्दर
धूप में जग-रूप सुन्दर
सहज सुन्दर।"[36]

कवि त्रिलोचन जी की काव्य प्रेरणाओं में सब से सबल प्रेरणा है प्रकृति-प्रेम। प्रकृति संबंधित काव्यान्तर्गत कई जगह कवि पर छायावादी शैली और शब्दावली का प्रभाव बहुत मुखर है। कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो सामान्यता के स्तर से ऊपर उठकर हमें प्रभावित करती हैं। 'त्रिलोचन जी जगत के सहज सुन्दर रूप पर' मुग्ध हैं। उन्हें जग की प्रत्येक वस्तु सुन्दर दिखायी देती है। प्रकृति संबंधी अनेक काव्यान्तर्गत सामाजिक चेतना भी प्रकृति-प्रेम के साथ एक ही समग्रता में व्यक्त होती है।

3. प्रगतिशील भावभूमि संबंधित कविताएँ :-

'धरती' की कविताओं की पृष्ठभूमि सामाजिक है। इस कोटि की काव्यान्तर्गत कुछ कविताएँ ऐसी हैं जिन में कवि ने अपने पौरुषशील, आशावादी और आस्थापूर्ण दृष्टिकोण को व्यक्त किया है और वे कविताएँ भी हैं जिसमें कवि ने अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है। प्रथम वर्ग की कविताएँ अपेक्षाकृत भावुकता पूर्ण हैं और उनका पौरुषशील आस्थावादी दृष्टिकोण से आलोकित हैं। पर दूसरे वर्ग के काव्यान्तर्गत भावना पक्ष दब कर कोरा वक्तव्य मात्र रह जाता है।

समाजपरक काव्यान्तर्गत कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जिन में कवि ने कृषक जीवन के विभिन्न पक्षों के चित्र प्रस्तुत किये हैं। 'मिलकर वे दोनों प्राणी', 'भोरई केवट के पर', 'उठ कृषक ओ' आदि इसका कुछ उदाहरण है। वहीं नेमीचन्द्र जैन का निरीक्षण उल्लेखनीय है धरती कवि की प्रथम रचना होने के बावजूद एक अद्भुत कृति है। प्रस्तुत पुस्तक में जब त्रिलोचन जी ने एक ओर अनेक प्रयोग

किये हैं तो दूसरी ओर उन्होंने परंपरा गत छंदों का और शैली का सहारा लेकर उस शैली को अपनी निजी मौलिकता भी प्रदान की है और इस विविध सफलता के लिए कवि बधाई का पात्र है।"[37]

3.2.2 **गुलाब और बुलबुल** (1956) :-

'गुलाब और बुलबुल' का प्रकाशन 'धरती' से लगभग 11 वर्ष बाद हुआ। इसमें उनकी रुबाइयों और ग़ज़लें संकलित है। इस में प्रेम गीतों के अतिरिक्त प्रगतिवादी भावनाओं से पूर्ण रचनाएँ भी हैं। इस संग्रह का प्रकाशन 'दिगंत' के कुछ माह पहले का है, लेकिन 'दिगंत' के सॉनेटों की रचना 'गुलाब और बुलबुल' की रुबाइयों और गज़लों से पहले हुई। फिर भी अभिव्यक्ति का जो सौन्दर्य 'दिगंत' में है वह 'गुलाब और बुलबुल' में नहीं। प्रणय विषयक काव्यान्तर्गत प्रेम के चित्रों को उजागर किया है। इनके अलावा कवि ने इस काव्य संग्रह में जीवन के अन्य पक्षों से संबंधित अपने निश्छल व्यक्तिगत उद्गारों एवं भावनाओं को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है जो उनके स्वस्थ एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व के परिचायक तत्व है। इन रुबाइयों एवं गजलों में सामाजिक जीवन की विषमता, शोषक वर्ग की प्रवृत्तियाँ एवं नवनिर्माण की आकाक्षाएँ चित्रित हैं। कवि ने विश्व जीवन के व्यापक क्षेत्रों में व्याप्त अराजकता, अकर्मण्यता, गंदी राजनीति तथा ह्रासशील जीवन-मूल्यों पर सशक्त व्यंग्य भी किया है।

इस संग्रह में भी 'धरती' की तरह, जमीन मानव-जीवन के प्रति आस्था और विश्वास की है। लेकिन अब त्रिलोचन के पाँव उस पर इतने जमे हुए है कि उन्हें जीवन के अनुभवों के एक बहुत बड़े अंश को समेटने और संभालने का साहस है। 'गुलाब और बुलबुल' नाम से थोडा भ्रम हो 64 सकता है। ग़ज़लों की परंपरा के अनुसार इस संग्रह की कविताएँ आत्म-व्यंजक हैं। लेकिन उनके बीच झाँकता हुआ व्यक्तित्व दर्द का ही नहीं स्वाभिमान और अल्हड़ मस्ती का भी है।

इस संकलन की कविताओं को मोटे तौर पर चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :- (1) प्रेम संबंधी (2) प्रकृतिपरक (3) सामाजिक यथार्थवादी और (4) व्यंग्यात्मक। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य ग़ज़लें भी हैं जो दार्शनिक ढंग का या आत्मकथात्मक हैं।

अधिकांश ग़ज़लों में प्रेम का उदात्त रूप ही अभिव्यक्त हुआ है। यह कवि की नैतिक ईमानदारी का लक्षण है। यह प्रेम इतना शक्तिमान है कि मुर्दों में भी प्राण आ सकता है। समर्पण का

भाव और उभयपक्षीय आत्मीयता इस प्रणय का सारतत्व है। प्रेम के संयोग एवं विप्रलंभ दोनों स्वरूपों को त्रिलोचन जी ने अपने सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही देखा है। फिर भी रुमानी रूप भी इधर उधर झलकता है। यह शायद अपने काव्य रूप की सीमाओं के कारण ही हुआ हो ।

इस संकलन में प्रकृतिपरक कविताएँ भी संकलित हैं। जहाँ कहीं कहीं प्रकृति का शुद्ध एवं मार्मिक चित्रण है, वहीं प्रकृति साधन रूप में भी उपस्थित होती है। रुबाइयों और ग़ज़लों के इस संग्रह में इन प्रकृति-प्रणय-परक कविताओं का होना उर्दू और संस्कृत परंपराओं के सुयोग्य संगम का प्रतीक भी है। प्रकृति को चित्रित करने वाली अधिकांश ग़ज़लें काव्यात्मकता की दृष्टि से भी उत्तम बन पड़ी हैं। प्रकृति के माध्यम से कवि के सामाजिक यथार्थवाद की कलात्मक अभिव्यक्ति भी हम समझ सकते हैं। उदा.

'फूल देखे हैं, वर्ण गन्ध खूब देखा है,
सुख में कोई है तो काँटों में पला है कोई।"[38]

सूक्ष्म दार्शनिक तथ्य को भी प्रकृति के द्वारा संप्रेषित करने की कवि की क्षमता प्रशंसनीय है। रुबाइयों एवं ग़ज़लों की इस बस्ती में भी शास्त्री जी ने विराट प्रकृति की जो झाँकी प्रस्तुत की है यह उनकी सफलता का प्रमाण है।

सामाजिक यथार्थवादी कविताएँ भी इस संकलन में मिलती हैं। प्रेम-परक, प्रकृति संबंधी, व्यंग्यात्मक आदि सभी प्रकार के काव्यान्तर्गत कवि का सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण किसी न किसी प्रकार विद्यमान है। इसके अतिरिक्त प्रगतिशीलता को सीधी से अभिव्यत्कि देनेवाली रचनाएँ भी हैं। यह संकलन आद्यंत प्रगतिशील विचारों एवं भावनाओं से भरपूर है। उनके व्यंग्यात्मक काव्यान्तर्गत तो प्रगतिशील त्रिलोचन पैने होकर अभिव्यक्त हुए हैं। पूँजीवादी समस्या की सहज अभिव्यक्ति देखिए -

"काम उसका नहीं अटकता है।
जिसकी अंटी में दाम होता है।"[39]

ग़ज़लों की परंपरा के अनुसार इस संग्रह की कविताएँ आत्मव्यंजक हैं। लेकिन उनके बीच झोंकता हुआ व्यक्तित्व दर्द का ही नहीं स्वाभिमान और अलहड़ मस्ती का भी है। 'गुलाब और बुलबुल' की रुबाइयों में कवि त्रिलोचन की कविता का एक नया तत्व भी आया है। वह उनका व्यंग्य

है। कतिपय कविताएँ निजी प्रसंगों और व्यक्तिगत जीवन से संबंधित हैं और कुछ गज़लों में जीवन को दार्शनिक दृष्टि से देखा गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस संग्रह की कविताएं अपने प्रवाह, अपनी सरल भाषा, अपने सादे अन्दाज, ताजगी, प्रयोगात्मकता एवं यथार्थवादी जीवन दर्शन के कारण हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगी।

3.2.3 **दिगंत** (1957) :-

57 सॉनेटों का यह संग्रह सन् 1957 में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशक जगत शंखधर पो. बा. 22, वारणासी है। 26 साल बाद इसका दूसरा संस्करण कैलाश खोसला, विक्रांत प्रेस, वजीरपुर, दिल्ली ने निकाला। इस में कवि त्रिलोचन दिगंतोचित प्रौढता लिए हुए मालूम पडते हैं। यह प्रौढ़ता न केवल विचारों में ही नहीं बल्कि कलापक्ष में भी दिखाई देती है। श्री उमेशचन्द्र मिश्र के शब्दों में 'धरती' के कवि ने 'दिगंत' तक पहुँचते पहुँचते अपनी काव्यात्मक प्रतिभा में एक प्रकार की नवीनता और वैविध्य का समावेश किया है।"[40] त्रिलोचन का 'दिगंत' केवल उनकी ही नहीं बल्कि वर्तमान हिन्दी कविता की भी एक बड़ी उपलब्धि है। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इस संग्रह के अनेक सॉनेट आधुनिक कविता के अच्छे से अच्छे संग्रह में स्थान पा सकते हैं। इन काव्यान्तर्गत जीवन की मार्मिक अनुभूति मिलती है। इन सॉनेटों में कवि ने अपने सारे अनुभव और अध्ययन को काव्य साधना में तपाकर प्रस्तुत किया है।

इस संग्रह में सहज उल्लास और ओज के अनेक सुन्दर चित्र है। इसकी कविताओं का कवि जीवन के सामने विनत है। इसलिए वह दुख और पीड़ा के बीच भी उसके सौन्दर्य का बोध करता है। इसका कवि प्रेम और सौन्दर्य का उपासक भी है। लेकिन उसकी हर अनुभूति अपने चारों ओर की मानवता की मंगलकामना से जुडी है। इस संकलन के कई काव्यान्तर्गत कवि ने अपने काव्य के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। मार्क्सवादी विचार धारा के प्रति आस्थावान होने के नाते इनका काव्य विशुद्ध काव्य न होकर उपयोगितावादी दृष्टिकोण से संप्रेरित है। कवि ने सामाजिक जीवन की धड़कनों, सत्य के प्रति अदम्य दृढता, आगामी मनुष्यताओं के हेतु तथा संघर्षशील समाज की आशा-अभिलाषा को अभिव्यक्त करने के लिए 'दिगंत' को अपनाया है।

इस में कवि के अनेक विषयों पर लिखे गये सॉनेट संग्रहित है- व्यक्तिगत अनुभूति, राजनीतिक विचार, शब्द चित्र, घटनाएँ, स्मरण, प्रेम, प्रशस्तियाँ। इस प्रकार कवि के इस संग्रह में विभिन्न प्रकार के अनुभवों का संकलन एक स्थान पर एकत्रित है। काव्य की दृष्टि से इन कविताओं को मोटे तौर पर तीन वर्गों में पृथक किया जा सकता है, जिसमें- (1) प्रणय विषयक कविताएँ (2) सामाजिक यथार्थवादी कविताएँ और (3) इतर विषयक कविताएँ सम्मिलित हैं।

कवि ने प्रेम को भी प्रगतिशील दृष्टि से देखा है। प्रेमविषयक सॉनेटों में त्रिलोचन ने प्रणयगत अनुभूतियों के अकृत्रिम चित्र खींचे हैं और इस प्रकार अपने प्रणय के पुष्ट और स्वस्थ स्वरूप को उभारा है। प्रेम का यह उदात्त एवं यथार्थ चित्रण उनके स्वस्थ सामाजिक गतिशील व्यक्तित्व का परिचायक है। इस संग्रह में कवि ने संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों के संबंध में लिखा है। पर उसमें न मिलन के क्षणों के आह्लाद का अनहत आनंद होता है और न वियोग की आँच में घोर अवसाद ही प्रेम में वे पावनता, निश्छलता के आकाँक्षी हैं। वियोगावस्था का यथार्थ चित्रण कवि की प्रगतिशीलता और उदात्तता को व्यक्त करते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रणय दिगंत में विचरण करते हुए भी कवि के हाथ से प्रगतिशील यथार्थ कभी छूटता नहीं -

"प्रेम जागता जीवन यों तो दे जाता है,
मगर पेट के आगे वही हार खाता है।"[41]

यह स्पष्ट है कि इस संग्रह की सारी कविताओं पर त्रिलोचन का सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रकट है। सामाजिक वैषम्य और दैन्य से कवि है। मानवीय पीड़ा और वेदना से उनका हृदय प्रवीभूत हो जाता क्षुब्ध है। मानव के प्रत्येक दु:ख से उसको सहानुभूति है। प्रगतिवादी चेतना 'काकली' नामक सॉनेट में कोकिल के कंठ से गूंज उठती है। इतर विषय संबंधी कई कविताएँ प्रस्तुत संकलन में मिलती हैं। 'तुलसी बाबा', 'काशी का जुलाहा', 'गालिब', 'माओत्से तुंग', आदि कुछ उदाहरण हैं। इन कविताओं के अलावा 'दिगंत' में ऐसे भी कुछ सॉनेट हैं जो निजी प्रसंगों और व्यक्तिगत घटनाओं से संबंधित हैं। वैसे देखा जाय तो इस संग्रह के अधिकांश सॉनेट कवि के व्यक्तिगत जीवन को स्पर्श करते हैं। व्यंग्यपरक कविताएँ भी इस में संकलित हैं। कहा जा सकता है कि 'दिगंत' के अधिकाँश सॉनेट सजीव, मर्मिक और संवेदनाओं की आर्द्रता से ओत-प्रोत हैं। इस

संकलन में जब कवि वास्तविकता से संपृक्त होकर गाता है, तब कविताएँ उदात्त हो उठती हैं और जब राजनीतिक अथवा एक उपदेशक गाने लगता है तब कविताएँ घुटनों के बल चलने लगती हैं।

3.2.4 ताप के ताये हुए दिन (1980) :-

'दिगंत' के प्रकाशन के करीब 23 वर्षों पश्चात सन् 1980 में इस संकलन का प्रकाशन संभावना प्रकाशन, हाडपुड द्वारा हुआ। इस में 31 छोटी कविताएँ, 10 सॉनेट और 4 लंबी कविताएँ संकलित हैं। कवि त्रिलोचन शास्त्री के ही शब्दों में "ताप के ताये हुए दिन मेरी फुटकर कविताओं का नया संकलन है। इस संकलन को राजेश जोशी ने तैयार किया। इस काम में उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं को भी लिया है। कुछ कविताएँ उन्होंने शायद मेरे हस्तलेखों से चुनी हैं।...... संकलन का नाम भी उन्हीं का सुझाया हुआ है जिसे मैं ने स्वीकार किया।"[42] इस संकलन के आधार पर त्रिलोचन को 1981 का साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया। ओम भारती के अनुसार "'ताप के ताये हुए दिन'को पुरस्कृत करके साहित्य अकादमी ने अपने को गौरवान्वित किया।"[43] स्वयं कवि का भी यह विश्वास था कि "यह संकलन मेरे पूर्ववर्ती संकलनों से अलग दिखाई देगा।"[44] इस संकलन में कवि त्रिलोचन की विविधमुखी काव्य-साधना की एक समग्र झलक प्राप्त है।

इस संकलन की कविताओं की जड़ें बहुत दूर तक फैली हुई हैं। साहित्यिक स्तर पर इन कविताओं के पीछे एक भरा-पूरा अतीत है, जिससे इनका गहरा और जीवित संबंध है। इस संबंध का सब से सीधा प्रमाण इन कविताओं की भाषा में मिलता है। इस संग्रह में त्रिलोचन के कुछ सॉनेट भी हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि वह एक हद तक कवि के इस पूर्वनिर्मित 'इमेज' को तोड़ता है। इस संकलन के पहले खंड की अधिकाँश छोटी कविताएँ वस्तुतः सांकेतिक भाषा की कविताएँ हैं। प्रकृति के असीम संस्लिष्ट चित्रों में बहुत गहरे लुके हुए संकेत हैं और बेहद आत्मीय काव्यान्तर्गत भी। ये कविताएँ मनुष्य के दैनन्दिन कार्यकलापों और सुख-दुःख का वर्णन करती हुई एक ऐसे सत्य की ओर इशारा करती हैं, जिससे सामाजिक संरचना के स्वरूप को पहचाना जा सकता है।

'ताप के ताये हुए दिन' के काव्यान्तर्गत अभिव्यक्त संपूर्ण भावभूमि को मोटे तौर पर तीन क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है सामाजिक-यथार्थ, व्यक्तिगत अनुभूतियाँ और प्रकृति। प्रस्तुत संग्रह में जहाँ पर त्रिलोचन व्यक्ति के जीवन की अभिव्यक्ति देते हुए दिखाई देते हैं, वहाँ भी वह व्यक्ति, समाज और

समय के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित होता है। त्रिलोचन जी ने भूमिका में लिखा है कि व्यक्ति के माध्यम से सामान्य सत्य का विशेषीकरण करने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न प्रस्तुत संग्रह में आद्यंत हमें मिलेगा। प्रथम दृष्ट्या, इन काव्यान्तर्गत व्यक्तिगत जीवन और वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही विषय हैं, पर निकट से देखने से मालूम पड़ेगा कि इससे सामाजिक यथार्थ ही अभिव्यक्त हुआ है।

इस संकलन की अंतिम कविता है 'छोटू'। एक बच्चा जो स्वयं मनुष्य के विकास का एक दौरा है कैसे खुद विकास कर रहा है यही इस कविता का विषय है। संपूर्ण मानव जाति की विकास यात्रा से चलकर त्रिलोचन एक बच्चे की विकास यात्रा तक आते हैं। जब मनुष्य ने धरती पर पहला कदम रखा तब से आज तक का विकास-क्रम त्रिलोचन रखते हैं। इसी प्रकार 'नगई महरा' नामक लंबी कविता में नगई कैहार का चरित्र अपने आप में एक पूरा समाज है। श्री परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार, "नगई की सामाजिकता को कविता सारे अन्तर्विरोधों में पकडती है।"[45] यह कविता एक सामाजीकृत मनुष्य की कहानी है। इसमें भारतीय समाज की, चाहे वह कृषक हो या मज़दूर, समझ और संस्कृति साकार हो उठी है। कविता वर्णनात्मक होकर भी कई प्रकार के मानवीय संबंधों और जटिल सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करती है।

काव्य में प्रकृति मुख्यतः दो प्रकार से आती हैं-प्रस्तुत प्रकृति-चित्रण के रूप में और अप्रस्तुत प्रयोग में। अप्रस्तुत रूप में प्रकृति का प्रयोग कवि की कलात्मकता का परिचायक है। त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में भी प्रकृति विभिन्न रूपों में चित्रित हुई है, पर अधिकतर प्रकृति के उत्साहपूर्ण, स्वस्थ प्रेरक और पवित्र चित्र ही उन्होंने खींचे हैं। मानव निरपेक्ष प्रकृति-चित्रण का उत्तम उदाहरण है 'पृथ्वी-आकाश' नामक कविता। अधिकांश काव्यान्तर्गत प्रकृति चित्रण मानव-संदर्भ में ही हुआ है। 'हम साथी', 'सहस्र दल कमल', 'बरसाती रात', 'कुहरे में भोपाल' आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं।

कई काव्यान्तर्गत त्रिलोचन के जीवन और व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष उभर आए हैं। 'अंतर', 'अपना ही घर', 'मैं तुम', आदि कविताओं के द्वारा उनके कवि-व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन तक भी हम पहुँच सकते हैं। वस्तुतः 'ताप के ताये हुए दिन' की कविताएँ एक संघर्षरत कवि के अनुभव के ताप से ताई हुई कविताएँ हैं। उनके पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है और कहनेवाले कहेंगे भी। पर इतना निर्विवाद है कि इस संग्रह के प्रकाशन से समकालीन हिन्दी कविता का दायरा कुछ और चौडा हुआ है। इस मुद्दे पर चौथे अध्याय में विस्तार से विचार करेंगे।

3.2.5 उस जनपद का कवि हूँ (1981) :-

'उस जनपद का कवि हूँ' राजकमल प्रकाशन, द्वारा 1981 में प्रकाशित है। इसमें त्रिलोचन जी की 106 सॉनेट संकलित हैं। संकलित कविताओं का रचनाकाल 1950-54 है। 53 और 54 की कविताएँ तीन से चार तक हैं। 50 की कविताएँ एक दर्जन से कुछ ऊपर हैं। 51 की कविताओं की संख्या अधिक हैं और 52 की कविताएँ अपेक्षाकृत कम हैं। इन कविताओं का चुनाव और अनुक्रम श्री. नामवर सिंह और श्री. केदारनाथ सिंह ने किया है। इस संग्रह की कविताएँ त्रिलोचन के एक महत्वपूर्ण काव्ययात्रा का रचनात्मक दस्तावेज हैं। यह कई मानों में 'दिगंत' संग्रह से समानता रखती है।

यह त्रिलोचन के सॉनेट के संग्रह हैं। इसके सॉनेट शेक्सपियर सरणी के ढंग के सॉनेट हैं। यह सॉनेट तीन भागों में विभक्त होता है। अन्तिम भाग एक द्विपदी होती है। त्रिलोचन सॉनेट के इस रूप में ज्यादा सहज होते हैं। शायद इसलिए कि यह रूप नीतिकथाओं या लोककथाओं की सरल बुनावट के नज़दीक है जहाँ पूरी कथा अन्त में जाकर किसी नीतिवाक्य या सूक्तिवाक्य में अपने को समेटती ही नहीं अपने आशयों को भी ज्यादा खोलकर स्पष्ट करती है। कई बार ये नीतिवाक्य कविता के अन्त के बजाय बीच में भी आते हैं। ये नीतिवाक्य उनकी प्रबल नैतिक सच्चाई से उद्भूत हैं। कई बार ये उपदेश या उद्बोधन की तरह लगते हैं और लग सकता है कि ये उनकी कविता को कविता से दूर ले जाते हैं।

इस संग्रह में 50 से 54 तक के सॉनेट हैं। भारतीय इतिहास में जितना महत्वपूर्ण यह समय है, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण इससे कुछ पहले का समय है। कवि त्रिलोचन किसी समय की मनोदशाओं विशेष रूप से शोषित पीडित जनता की मनोदशाओं को कविता में दर्ज करते हैं, घटनाओं को या तो नहीं, या बहुत कम। इन काव्यान्तर्गतआशा के बावजूद गहन करुणा है। यह करुणा पराजय की भी है और बदलाव की इच्छा और घोर यथास्थिति के द्वंद्व से उपजी करुणा भी। इस संग्रह के शुरू में कुछ ऐसे सानेट हैं जिनका मुख्य पात्र स्वयं त्रिलोचन है। इसी तरह के तीन सॉनेट 'ताप के ताये हुए दिन में भी हैं। सामान्य का विशेषीकरण, यह उनकी कविता का केन्द्रीय गुण है।

इस संग्रह की कविताओं को विषय की दृष्टि से पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है। (1) प्रगतिशील संबंधी कविताएँ (2) आत्मकथात्मक (3) प्रणय परक कविताएँ (4) प्रकृति विषयक और (5) इतर विषयक कविताएँ।

यद्यपि इस संकलन की हर कविता में प्रगतिशीलता प्रकट होती है, फिर भी कुछ ऐसी कविताएँ हैं जो प्रगतिशीलता और सामाजिक यथार्थ से सीधे संबंध रखती हैं। 'आँखों का पानी', 'कोई भूखा हो तो', 'स्त्री केलिए जान दे दी', 'चिंता आज और कुछ', 'कैसी पीडा हुई', 'सपना देख रहा हूँ', 'प्रभो, पुत्र वह माँग रही है', 'दीवारें दीवारें' आदि कविताएँ उदाहरण हैं। एक ओर जब त्रिलोचन चुनी हुई घटनाओं के मार्मिक चित्रण से अपनी प्रगतिशीलता को अभिव्यक्त करते हैं तब दूसरी ओर कतिपय काव्यान्तर्गत वे अपने पाठक से सीधे बातें करते हैं। इन में प्रथम प्रकार की काव्यान्तर्गत वे अधिक सफल होते हैं। उदाहरण के लिए 'इंदो आई थी' नामक कविता। यह बात तो मानना पडेगा कि प्रगतिशीलता से भरी इनकी व्यंजना कई जगह मार्मिक हो उठी है। उनकी आत्मकथात्मक एवं संस्मरणात्मक काव्यान्तर्गत भी उनकी प्रगतिशीलता प्रखर होकर व्यक्त हुई है। इस संग्रह में प्रगतिशीलता का सर्वोत्तम रूप दिखाई देता है।

इसके अलावा इस संग्रह में कुछ आत्मकथात्मक कविताएँ भी हैं। इन में से कुछ उनके भौतिक जीवन से संबंधित हैं और कुछ उनकी काव्य साधना से संबंधित हैं। त्रिलोचन के व्यक्तित्व एवं काव्य साधना को समझने के लिए ये कविताएँ बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। इनसे उनके जीवन दर्शन एवं काव्य दर्शन भी सीधे अभिव्यक्त होते हैं। इन में अभिव्यक्त सत्य व्यष्टिगत होते हुए भी सामान्य है। जो जीवन दर्शन और मूल्य इन से संप्रेषित होता है वह मानव मात्र के लिए है। यहाँ त्रिलोचन व्यक्ति का नाम, पता आदि खोकर आम जनता के प्रतिनिधि होकर सामने आते हैं। प्रस्तुत संकलन की जान हैं ये कविताएँ। कवि की प्रगतिशीलता भी इन काव्यान्तर्गत झलकती है।

'क्या तुम को यह याद रहेगा', 'गतिमयी हो तुम', 'गीत तुम्हारा गाता हूँ', 'प्राणाधिके वसंत आया है', 'हंसी तुम्हारे मुख पर', 'तुमको अपना कहूँ', 'बिदा किया तब कहा', 'गहा तुम्हारा हाथ' आदि इस संकलन की कुछ प्रेम परक कविताएँ हैं। इन में प्रेम का यथार्थ, सूक्ष्म एवं सुन्दर चित्रण हुआ है। मुख्यतः इन काव्यान्तर्गत दाम्पत्य प्रेम ही चित्रित है। कवि दाम्पत्य जीवन की वास्तविकताओं के प्रति भी सजग है। अपनी पत्नी के लिए संदेश के रूप में अपनी नौकरी और रोजमर्रा के जीवन के बारे में

लिखना कितना स्वाभाविक बन पाया है। इस प्रणय चित्रण में व्यक्त प्रगतिशीलता अत्यंत श्लाघनीय है और अन्यत्र अप्राप्त है। प्रणय के विरह पक्ष को भी यथार्थ से जोड़कर कवि ने पेश किया है। संयोग पक्ष भी इस संकलन में प्रभावपूर्ण एवं कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। प्रेम के प्रगतिशील स्वरूप अभिव्यक्तिकरण में त्रिलोचन अनुपम रहे है। 'उस जनपद का कवि हूँ' के प्रेम चित्रण अपनी भावप्रवणता एवं प्रभावात्मकता दोनों दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

प्रकृति विषयक और इतर विषयक कविताएँ भी इस संग्रह में कम नहीं । प्रकृति-प्रेम त्रिलोचन शास्त्री के प्रमुख भावों में से एक है। 'हरियाली के माथे पर', 'यह शिरीष का फूल', 'सूनी सडक गयी पीछे', 'फूलों की चाँदनी', 'वही हवा आयी थी', 'खिली दृश्यता आज', 'मुझ को हरियाली पसंद है', 'बादल घिरे हुए है', 'दुपहर थी जेठ की', 'चलते चलते रुका' आदि कविताएँ प्रकृति के विविध पक्षों के मनोरम चित्रण प्रस्तुत करती हैं। प्रकृति-चित्रण में कभी कभी कवि परंपरा के निकट लगता है तो कभी बिलकुल मौलिक होने लगता है। उषा, दुपहरिया, सन्ध्या, रात, चाँदनी आदि के मनोरम चित्र कवि ने अपने काव्यान्तर्गत खींचे हैं। इन सभी काव्य के अन्तर्गत प्रकृति प्रतीक न बन करके प्रकृति ही रह जाते हैं। इन में लाक्षणिकता भर कर अपनी प्रगतिशील यथार्थवाद विश्लेषित करने के लिए प्रकृति की बिलकुल अतिसामान्य चीज़ों को भी उन्होंने माध्यम बनाया हैं। इससंकलन में उपर्युक्त प्रकार की कविताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य भी हैं जो किसी व्यक्ति विशेष पर लिखी गयी हो या संस्मरण रूप में लिखी गई हों। 'उस जनपद का कवि हूँ' संग्रह इस दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण संग्रह है कि इसमें त्रिलोचन की अपनी कविता के स्वभाव के बारे में कई कविताएँ हैं जिनसे उनकी धारणाओं और कविता की उनकी प्रक्रिया को ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

3.2.6 **अरधान** (1984) :-

सन् 1984 में यात्री प्रकाशन, दिल्ली द्वारा त्रिलोचन शास्त्री का सातवाँ कविता संग्रह, 'अरधान' प्रकाश में आया। कोई दस वर्ष पहले श्री. विष्णुचन्द्र शर्मा द्वारा संपादित यह संग्रह काफी परिवर्तन के साथ सन् 1984 में हमारे सामने आया। यह संग्रह साहित्यिक आघ्राण-शक्ति की कसौटी के रूप में पेश हुआ है। शायद इसीलिए ही कई प्रकाशक अपनी नाक सिकोड़ कर हार मान बैठ गये। इस संकलन में विभिन्न प्रकार की कविताएँ मिलेंगी। कविताओं के आकार में भी भिन्नता है।

'सौंदर्य', 'प्रतीक्षा', 'प्रेम', 'प्रकृति', आदि कविताएँ तीन पंक्तियाँ वाली हैं। कई बड़ी कविताएँ भी हैं, पर 'लंबी कविताओं' की श्रेणी में आने से कई हिचकती हैं। 'क्या क्या नहीं चाहिए' नामक कविता को तो कविता कहना ही कठिन है, उसे हम गद्य कविता कहें। इस संग्रह में भी सॉनेटों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस में कुल उनतीस सॉनेट हैं, जिनमें से पच्चीस तो 1953 के प्रयाग वाले महाकुंभ के संदर्भ के हैं।

यह संग्रह सिर्फ काल-सीमा के हिसाब से ही नहीं, बल्कि कविताओं के स्वभाव के ख्याल से भी कवि के पूरे काव्य-व्यक्तित्व का नमूना है। इनके काव्यान्तर्गत सघन ऐन्द्रिकता है और एक गीति-तत्व भी, जो स्वयं त्रिलोचन में भी कम मिलता है। इस संकलन में यदि एक ओर प्रकृति तथा मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के अंतरंग चित्र है, तो दूसरी ओर गहन सामाजिकता वाले महाकुंभ संबंधी सॉनेट 'अरघान' की शुरू में दी गयी कविताएँ अधिकांशतः प्रकृति के विभिन्न रूपों और अवस्थाओं का चित्रण करती हैं। कई बार तो स्थितियाँ बिलकुल पारंपरिक सी लगती है, जैसे 'उपहार' कविता में 'कत्थई महुआ' का चित्र। लेकिन एक स्पर्श इसे बिलकुल नया बना देता है 'डालियों के बढ़े हुए कूचों में यहाँ 'डाली' और 'कूचा' का संयोग पूरी कविता को नया बना देता है।

इस संकलन में कुछ काव्यान्तर्गत यदि पारंपरिक शब्दावली है तो इस में कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं, जिन में कवि ठेठ आँचलिक शब्दों का प्रयोग करता है, जनपदीय मुहावरों का ठाठ बाँधते हैं। त्रिलोचन का सहज मानव-प्रेम 'सब्जीवाली बुढिया' में नज़र आता है। एक सब्जीवाली बूढ़ी औरत से उसका सारा बचा खुचा सामान खरीदकर वे उसे मुक्त करते हैं। एक मार्मिक प्रसंग है यह। 'महाकुंभ के सॉनेट' भारतीय जीवन की उस संगठित संहारक शक्ति की ज़बरदस्त भर्त्सना है, जो धर्म, शासन और संपत्ति के मेल से लगातार बढती जा रही है। ये सॉनेट त्रिलोचन के पूरे काव्य व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग हैं। पौराणिक प्रसंगों का बहुत ही कुशल उपयोग कवि ने किया है। सॉनेट संख्या 19 में जब राक्षसों ने मुनियों की हड्डी का एक पहाड़ बना लिया, तो राम ने दक्षिण हाथ उठाकर प्रण किया राक्षस वध का। कवि ने पच्चीस सॉनेटों के माध्यम से भारतीय जीवन की यथार्थ दशा व्यक्त की है।

प्रकृति-चित्रण में त्रिलोचन जी की क्षमता 'अरधान' में प्रकट है। 'नीला आकाश कह सकता है', 'अरण्यानी' आदि काव्यान्तर्गत प्रकृति का मानवीकरण हुआ है। प्रकृति-चित्रण में कवि का प्रगतिवादी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए :-

"चिडिया बोली –
(सुनो सुनो !)
ठाकुर जी
उठो, जल्दी उठो
महुए बीन लो।"[46]

उनके काव्यान्तर्गत प्रकृति मानव को प्रेरणा देनेवाले दोस्त के समान दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ 'आशी', 'आत्मालाप', 'साथ है सेमल पुराना' आदि कविताएँ। प्रेम भावना की अभिव्यक्ति की दृष्टि में भी इस संग्रह की कविताएँ श्रेष्ठ हैं। अन्य संकलनों की तरह इस में भी उदात्त प्रेम का स्पष्टीकरण हुआ है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कवि त्रिलोचन मानवीय संवेदनाओं के सफल चितेरे हैं। वैयक्तिक अनुभूतियों को भी यथार्थवादी ढंग से चित्रण करने में कवि की क्षमता अनुपम है। इस के अनेक उदाहरण इस संकलन में मिलते हैं। कवि के यथार्थवादी एवं प्रगतिवादी चिंतन को स्पष्ट करने वाली कुछ कविताएँ हैं- 'ईश्वर की मृत्यु', 'इलाहाबादी', 'अथाह जीवन', 'परेशान क्यों हो' आदि। 'ईश्वर की मृत्यु' नामक कविता में कवि बताते हैं कि ईश्वर का नाश हो चुका है और उसे पूँजीवादियों ने मार डाला है। कवि के शब्दों में -

"मृत्यु हो चुकी है ईश्वर की, नया आदमी
अब इच्छानुसार करता काम। क्या रहा
जो उसने न किया हो। कोई भी कभी
नहीं रही है...।"[47]

इस संकलन के अन्त में चार बडी कविताएँ और उनके मध्य एक गद्य कविता है। गद्य कविता का नाम है 'क्या क्या नहीं चाहिए। 'अनुकथन' साहित्यकारों पर व्यंग्य करते हुए लिखि गयी कविता है। इस में जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति भी है। 'परदेशी के नाम पत्र' नामक कविता में ग्राम्य मानवीय यथार्थ का चित्र प्रस्तुत किया है। 'अरधान' इस बात के लिए एक प्रमाण है कि कवि त्रिलोचन मानवीय संवेदनाओं का भी समर्थ चित्रकार है। अन्य संग्रहों की अपेक्षा 'अरधान' की एक विशेषता यह कि इस में कवि के बहुत ही बूँद कविताएँ भी संकलित हैं। पाठकों के मन में नई रुचि पैदा करनेवाली हैं ये कविताएँ।

3.2.7 तुम्हें सौंपता हूँ (1985) :-

त्रिलोचन की कविताओं का आठवाँ संकलन है 'तुम्हें सौंपता हूँ'। राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वारा इस संग्रह का प्रकाशन सन् 1985 में हुआ। इसे श्री. दिनेश शर्मा ने तैयार किया है। उन्होंने संकलित कविताओं को अनुक्रमित और व्यवस्थित करने का कार्य जगत शंखधर को सौंपा। इस में संकलित रचनाएँ 1935 से 1983 के बीच की हैं। इतने लंबे कालक्रम में बिखरी इन काव्यान्तर्गत कवि के रचनात्मक विकास की अनेक मंजिलों को समझ सकते हैं। वास्तव में त्रिलोचन की कविताएँ दु:खों और विपदाओं के अपार सागर में मानवीय सौन्दर्य, प्रेम, आशा और स्वप्न का एक ऐसा घनीभूत पुंज है जो हमारे भीतर जीवन के प्रति अगाध विश्वास जगाता हैं।

कुछ कविताओं को छोड़कर इस संकलन की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इसमें छोटी बडी कुल उन्यासी कविताएँ हैं। अन्त में शाँति पर्व वाली कुछ कविताएँ दूसरे महायुद्ध के प्रभाव को व्यक्त करती हैं। इस पुस्तक में रचना के विषय और स्वभाव की दृष्टि से अन्य कविताओं से काफी अन्तर मिलता है और यह अलगाव ही किसी कविता की पहचान बनता है।

छोटी बड़ी कविताओं का यह संग्रह त्रिलोचन के व्यक्तित्व के कुछ ऐसे आयामों को भी सामने लायेगा जिन से हिन्दी जगत प्रायः अपरिचित ही रहा है। जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली शक्तियों के विरुद्ध त्रिलोचन जी की कविताएँ किसी सैनिक की भाँति हमारे अंदर घुस आती हैं। इस संग्रह के बारे में स्वयं त्रिलोचन का कथन है इस संकलन में मेरी -"कविताएँ अनेक रंगों में मिल जाएँगी अर्थात यह मेरी रचनाओं का ऐसा प्रतिनिधि संग्रह है जिस में मेरे पूर्व संकलनों की कोई कविता भरसक नहीं आने पाई है।"[48] कवि त्रिलोचन का हृदय प्रेम से लबालब भरा हुआ है, वे प्रकृति और मानव समुदाय से अगाध प्रेम करते हैं। उनके इस प्रेम को सीमित अर्थ में नहीं लिया जा सकता है। उनके प्रेम की अवधारणा बडी व्यापक है। उदाहरणार्थ ये कवितायें देखिए -

"यों ही कुछ मुसकाकर तुमने
परिचय की यह गाँठ लगा दी
था पथ पर मैं भूला भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन

तुमने अपनी याद जगा दी।"[49]

त्रिलोचन की कविताओं का चरित्र साथ ही कवि का अपना चरित्र अर्थात आत्म व्यक्तित्व - विविध स्तरों पर जीवन्त उपस्थिति का प्रमाण देते हैं। इस संग्रह में संकलित 'फेरु' नामक कविता में वर्णित 'फेरु अमरेथु' इसका उदाहरण है।

"फेरु अमेरथू रहता है
वह कहार है
ठकुराइन तो बरस बिताकर
वापस आयी
कहा उन्होंने मैं ने काशीवास किया है
काशी बडी भली नगरी है
वहाँ पवित्र लोग रहते हैं
फेरु भी सुनता रहता है।"[50]

अन्य संकलनों के समान इस संग्रह के काव्यान्तर्गत भी प्रकृति विषयक, प्रेमसंबंधी, व्यक्ति परक, सामाजिक यथार्थवाद से संबंधित और इतर विषयक कविताएँ हैं।

3.2.8 **फूल नाम है एक** (1985) :-

'फूल नाम है एक' नामक त्रिलोचन शास्त्री की कविताओं का यह संग्रह सन् 1985 में राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ। इस में 1953 से 1977 तक लिखी गयी 91 सॉनेट संकलित हैं। इस में संकलित कविताओं के अनुक्रम की संख्या के बारे में कवि त्रिलोचन का कथन है- 'फूल नाम है एक' नाम के इस संकलन में अनुक्रम की संख्या के अनुसार 1 से 8 तक 1953, 9 से 66 तक 1954, 67 वीं 1957, 68 से 82 तक 1962, 83-84 वीं 1971, 85 बीं 1973, 86 बीं 1997 की कविताएँ हैं, 87 से 91 तक पाँच कविताएँ दिनेश शर्मा ने खोज कर मुझे दीं। ये कविताएँ उन्हें पत्रिकाओं के पन्नों में मिलीं। पत्रिकाओं का प्रकाशन काल देना मुझे उचित नहीं लगा क्यों कि लिखने और छपने के काल में अंतर हो सकता है। अनुमान से ये कविताएँ 1977 की हो सकती हैं। मूल प्रति के अभाव में मैं ने काल कोई नहीं दिया।"[51] त्रिलोचन का मूल्यांकन हाल ही के

कुछ वर्षों में प्रारंभ हुआ है। इन अतिसीमित प्रयत्नों में ही उनका अप्रतिम, विराट काव्य-व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है जिससे दो बातें व्यक्त हो गयी हैं एक तो समीप भविष्य में-त्रिलोचन का महत्व लगातार बढ़ता ही जायेगा। दूसरा उन्हें केवल हिन्दी की प्रगतिशील कविता के संदर्भ में ही रखकर नहीं जाना जा सकता, इसकेलिए हमें समूचे भारतीय काव्य की प्रगतिशील रचना-धारा का अवलोकन करना होगा, जिसकी माँग त्रिलोचन का क्लासिक काव्य-कर्म करता है। 'फूल नाम है एक' यह संकलन कवि की इसी गरिमा की अत्यंत ठोस अभिव्यक्ति रही है।

संघर्ष, श्रम, अन्याय और शोषण के अतिरिक्त त्रिलोचन के रचना संसार में सब से अधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं प्रेम तथा सौन्दर्य। क्राँति, विद्रोह, क्षोभ, आक्रोश या उत्तेजना के कवि न होकर मूलतः राग के कवि त्रिलोचन रहे हैं। एक उदाहरण देखें -

"रात अंधेरे में यो ही कुछ सोच रहा था
सहसा सुना, "इधर भी हो कवि, कृपा तुम्हारी"
पूछा, 'कौन' / 'प्रेम' /उत्तर था। मुझ पर भारी मौन छा गया।"[52]

त्रिलोचन के यहाँ बादलों के इतने रूप हैं कि लगता है जैसे बादल कोई साज़ है और रागों के बदलने पर दह अलग अलग रूप धारण करता है। ऋतुओं को देखकर एक वस्त्र उतारकर दूसरे रंग का पहन लेता है। बादलों को विविध रंगों तथा आकारों में उकेरा गया है। प्रस्तुत संकलन की ये पंक्तियों देखिए -

"निझरे झीने-झीने बादल सरक रहे हैं,
जैसे हल्का धुआँ हो जरा इन से ऊपर
काले-काले स्थिर बादल है जैसे तट पर
धारा की छोड़ी मिट्टी।"[53]

उनकी कविता में सब राहों को मिलाकर एक अमूर्त राह बना दी गयी हो, ऐसा नहीं है। वह कहाँ जिस मार्ग से जा रहा है, उसे पहचाना जा सकता है।

"इस रास्ते से नहीं, उधर, उस रास्ते हो लें
उधर मेड ऊँची है और खेत में पानी
नीचे है।"[54]

साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का बोध आधुनिकता के आड़े नहीं आता। जहाँ परंपरा प्रगतिशील नहीं है वहाँ वह रूढिवाद का पर्याय बन जाती है। प्रस्तुत संग्रह में नागार्जुन के प्रति लिखा गया सॉनेट इसका नमूना है।

"नागार्जुन का स्वर प्रबुद्ध जनता का स्वर है।
नये पुराने कवियों की प्रतिभा कल्याणी
कवि के मुख से बोली है।"[55]

त्रिलोचन आलेख्य प्रख्य अर्थों के कवि हैं (आलेख्य पेंटिंग)। पुरानी उक्ति वे उठाते हैं, पर कवि के संस्कार में वह नया रूप भी लेती है। उसमें और बहुत कुछ आ जुडता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत संकलन में मिलता है। देखिए :-

"मृग अर्घावलीढ कुश भय से
गिरा गिरा कर भाग रहे हैं। तबियत खट्टी
आज अहिंसा की है और शान्ति की सट्टी
मद पड़ी है लक्ष्य वेध कर, बढ चल नय से।"[56]

'फूल नाम है एक' संग्रह में सॉनेट 52 से लेकर 56 तक के सॉनेट कवि नागार्जुन पर लिखे गये हैं। इनके माध्यम से कवि ने नागार्जुन का नख-शिख वर्णन किया हैं। उनके स्वभाव, रहन-सहन, सामाजिक चिन्ता पर ये सॉनेट केन्द्रित हैं। नागार्जुन त्रिलोचन के प्रिय कवि भी हैं और 'मीता' भी। कविता और जिन्दगी दोनो क्षेत्रों में उनकी 'मिताई' चल रही है। उदाहरणार्थ -

"कहा एक महिला ने, नागार्जुन तो कवि से
नहीं जान पड़ते आए तो ज्यों ही आए
त्यों ही धुल-मिल गए। ढंग ऐसे कब पाए
थे हम ने कवियों के।"[57]

इस संग्रह में अधिकांश कविताएँ कई वर्ष पहले की लिखी गयी हैं। लेकिन ये कविताएँ हमारी समकालीन लगती हैं। कुल मिलाकर इस संग्रह की कविताएँ त्रिलोचन के काव्य-यात्रा को जानने में महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

3.2.9 **अनकहनी भी कुछ कहनी है** (1985) :-

राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित इस संग्रह में त्रिलोचन की 96 छोटी कविताएँ संकलित हैं। इसका पहला संस्करण 1985 में हुआ। 1993 में दूसरा संस्करण हुआ था। इस में सन् 1951 में लिखी गयी कविताएँ संकलित हैं। इस संग्रह की सारी कविताएँ चार पंक्तियों की चतुष्पदियाँ हैं।

चिरानिपट्टी कवि त्रिलोचन की जन्म भूमि है। पर उनकी कर्म भूमि और रंग भूमि तो काशी ही है। वह काशी जो बहुत सी बातों में गाँव ही है। कवि ने चिरानिपट्टी के बारे में बहुत सी कविताएं लिखी हैं। उसी प्रकार उन्होंने काशी पर लिखी गयी कविताएँ मिलती हैं। सन् 51 की लिखी एक कविता है -

"काशी मुझे गाँव सी लगती है, सहराती
हवा यहाँ कम से कम है। सब आस पास से
घुले मिले रहते हैं।..."[58]

यह काशी आज का सच भले न हो, लेकिन त्रिलोचन की 'काशी' यही है और वे इसी काशी की सृष्टि है। काशी कवि के लिए वैसे ही थी जैसे भारत का गाँव गाँधीजी के लिए। कवि के स्वप्न के गाँव का वर्णन काव्यान्तर्गत मिलता है। यह सपनों का गाँव अक्सर वास्तविक गाँव में घुल मिल जाता था। यही गाँव गाँधीजी की ताकत थी। अंग्रेजी राज से लड़ने की शक्ति। पश्चिमी संस्कृति के दूषित प्रभाव से बचने की शक्ति। कविता की दुनिया में त्रिलोचन के लिए काशी का बहुत कुछ यही महत्व है। चिरानिपट्टी पर लिखी गयी कविताएँ भी इस संग्रह में है। उदाहरणार्थ -

"हारे खीझे मन से मैं ने कभी कहा था,
अगर जन्म लेने से मैं लाचार न होता
मुझे चिरानिपट्टी से कुछ प्यार न होता।"[59]

बात सिर्फ काशी या चिरानिपट्टी की नहीं है। बात अपनी जमीन और अपनी परंपरा की है। इन दोनों से अपनी संबंध की, लगाव की त्रिलोचन के लिए अपनी ज़मीन और परंपरा दो नहीं, एक है। इसके साथ उनका 'प्रणय- कलह' है और इस 'प्रणय- कलह' में ही उनके काव्य का बीज है।

3.2.10 **सबका अपना अपना आकाश** (1987) :-

त्रिलोचन का ग्यारहवाँ कविता संग्रह है 'सबका अपना आकाश'। इसका प्रकाशन सन् 1987 में राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वारा हुआ था। इस में 1948 से 1963 के बीच लिखे गये 52 गीत संकलित हैं। कवि का पहला काव्य संग्रह था 'धरती'। इस में संकलित अनेवी गीतों से हिन्दी जगत भली-भाँति परिचित हैं। कुछ गीत बाद के संग्रहों में भी रहे, लेकिन 'सबका अपना आकाश' उनके गीतों को ही सामने रखता है जोकि 1948 से 1963 के बीच में रचे गये हैं।

प्रकृति में इस कवि ने चेतना का आरोप किया है और एक सजीव सत्ता के रूप में प्रकृति को देखा है। प्रकृति के उत्कृष्ट चित्रों के अतिरिक्त कवि ने ऋतु गीतों की भी सर्जना की है। उनके ये ऋतुगीत वसंत और पावस वर्णनों के क्रम में बतलाए गये हैं। प्रकृतिक सौंदर्य के प्रेमी त्रिलोचन को नीला आकाश अत्यंत प्रिय है। उसे वे 'सबका अपना आकाश' कहना चाहते हैं। शरद के बहाने यह कवि अपनी अनुभूति का विस्तार करता है। ऐसे प्रकृति चित्रों में इस कवि की व्यापकता दृष्टिगत होती है। प्रस्तुत संकलन की ये पंक्तियों देखिए :-

"भरी है पारिजात की डाल
नयी कनियों से मालामाल
कर रही बेला को संकेत
जगत में जीवन हास हुलास
चोंच से चोंच ग्रीव से ग्रीव
मिला कर, होकर सुखी अतीव
छोड़कर छाया युगल कपोत
उड़ चले लिए हुए विश्वास।"[60]

छायावाद के उपरांत हिन्दी कविता के कवि त्रिलोचन की कविता में हिन्दी का जातीय एवं सांस्कृतिक मानस शायद सर्वाधिक अभिव्यक्त हुआ है और विविध काव्यानुभवों से समृद्ध उनकी रचनाशीलता को सुदृढ आधार देते हुए उनके गीतों ने भी इस में एक अहं भूमिका अदा की है। प्रकृति के अनेकानेक चित्र, मनुष्य की स्वाभाविक संघर्षमयता और देश-काल-परिप्रेक्ष्य की विभिन्न अनुगूँजें इन गीतों में सुनाई पड़ती है और ये ही चीजें कवि के काव्य-व्यक्तित्व की बुनियाद है, एक ऐसे काव्य

व्यक्तित्व की, जिसकी आँखों में मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य के सपने बसे हुए हैं और जो उत्सव और आह-दोनों ही में जीवन-सत्य को चीन्ह लेने में समर्थ है। गीत के लिए अनिवार्य रागात्मकता का त्रिलोचन के यहाँ एक विशेष अर्थ है। वे आत्मपरकता का तो एक हद तक निर्वाह करते हैं, आत्मग्रस्तता का नहीं।

अवधी का ठेठ भाषिक सौन्दर्य उनके इन गीतों में ठौर-ठौर बिखरा हुआ है। इन गीतों पर छायावादी काव्य भाषा का प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। कुछ गीतों को छोड़कर अधिकाँश की जमीन में छायावादी अनुभव की जमीन हैं। वस्तुतः इस गीत विहीन समय में त्रिलोचन का यह गीत-संग्रह हमें एक नये काव्यास्वाद से भर जाता है।

3.2.11 चैती (1987) :-

'चैती' सन् 1987 में प्रकाशित त्रिलोचन का काव्य-संग्रह है। त्रिलोचन की अधिकतर कविताओं की प्रकृति बातचीत करने समान है। जैसे हम स्वयं से संवाद कर रहे हो। इस संवाद में ऐसी लय है मानो कवि किसी धुन में अपने ही से बातें कर रहा हो। गीत हो या कविताएँ या सॉनेट, संलाप की लय कहीं भी देखी जा सकती है। कवि तो अखबारों की सुर्खियों तक में छंद और लय का संधान कर लेते हैं। उदा :-

"देखो शांत खडे उन आमों को
हिलाए दे रहा है
उस नीम को
झकझोर रहा है।"[61]

इसमें संवाद की प्रकृति प्रत्यक्ष संवाद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। त्रिलोचन के व्यक्तित्व और जीवन दोनों में एक चट्टानी दृढ़ता और अक्खड़ता है, जो कविता को हमेशा बिखराव से बचाती हैं। कवि की इस जीवन-दृष्टि का विकास 'चैती' में प्रकाशित काव्यान्तर्गत भी परिलक्षित होता है। इसकी पहली ही कविता का शीर्षक है 'कर्म की भाषा जिस में यह स्पष्ट रूप में व्यंजित है कि मनुष्य को 'कर्म क्या किया इस प्रश्न का उत्तर अपनी कर्मशीलता के द्वारा ही देना चाहिए। कवि का कथन हैं -

"रात ढली. दुलका बिछौने पर

प्रश्न किसी ने किया,
तुमने काम क्या किया
नींद पास आ गयी थी
देखा कोई और है
लौट गयी।"[62]

कवि ने सॉनेट के अलावा दूसरे काव्य रूपों में भी लिखा है। 'गुलाब और बुलबुल' ग़ज़लों का संग्रह है। यहाँ मुक्त छंद के अलावा गद्य कविता भी है। इस संकलन में ऋचाओं की शैली में कुछ अत्यंत छोटी कविताएँ हैं। इसमें उनकी अपेक्षाकृत नयी कविताओं के साथ छोटी छोटी कविताएँ संकलित हैं। इसकी कविताओं को देखने के बाद यह स्पष्ट दिखाई देता है कि त्रिलोचन ने आधुनिक कविता के समानान्तर एक लोकरंग जीवित कविता का विकास किया है। उनकी कविताओं के अनेक स्तर हैं। ये जीवन के विविध पक्षों को लेकर लिखी गयी कविताएँ हैं। किसानी जीवन के अनेक चित्र इन काव्यान्तर्गत मिलते हैं। कवि की कविता में बच्चे भविष्य के प्रतीक बन कर आये हैं। इस संग्रह की एक महत्वपूर्ण कविता 'नन्हें' के एक अंश में यह स्पष्ट है -

"नन्हे ने सिर पर हवाई जहाज़ देखा
तो हठ पकड़ा
पापा पापा
हवाई जहाज़ मुझे भी ला दो
मैं भी उड़ाऊँगा।"[65]

इस कविता में 'नन्हे' मात्र 'नन्हे' नहीं है, कवि ने नन्हे के माध्यम से कविता को बृहत्तर अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है। उनके काव्यान्तर्गत कृषक जीवन के विलक्षण चित्र है। उन्होंने फसलों पर अनेक कविताएँ लिखी हैं। इस संग्रह की 'सारनाथ' नामक कविता इसका प्रमाण है। कवि ने चैत के मौसम का दृश्य उजागर किया है। 'सारानाथ" कविता का यह दृश्य जीवन्त है, कविता 'सारनाथ' पर लिखी गयी है लेकिन कवि प्रकृति को नहीं भूल पाता है, पूरी कविता एक छोटी फिल्म के दृश्य-गुण से संपन्न है। प्राकृतिक सौंदर्य त्रिलोचन की कविता में सामर्थ्य बनकर सामने आती है। मौसम संबंधी चित्र उनके काव्यान्तर्गत भरे पड़े हैं। इस संग्रह की 'झापस' कविता द्रष्टव्य है।

प्रकृति और संघर्षशील मनुष्य, त्रिलोचन की कविता का प्रमुख विषय है। 'चैती' संग्रह में 'क्षण की खिड़की' कविता पर ध्यान दें जो रूपाकर्षण की जीवन्त अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण है। सौन्दर्य के साक्षात् की इस निष्कपट सीधी बेलौस अभिव्यक्ति में जीवन का जीवन मूर्तिमान हो उठा है -

"मैं ने अगहन के दिन
देखी है मूरत वह
युवती की
जिसमें वह जीवन था
जो जीवन का जीवन होता है।"[66]

इस रूपाकर्षण में प्रकृति अनायास आती है - रागात्मक अनुभूति को प्रगाढता देने के लिए, जो और किसी तरह संभव नहीं। एक अकुण्ठ कवि ही प्रेम सौन्दर्य के आकलन में इस जीवन स्वीकृति का प्रमाण दे पाता है।

इस संग्रह में ज्यादातर नयी कविताएँ संकलित हैं। इस की कर्म की भाषा', 'कह नहीं सकता', 'ऐसा ही था', 'मैं कृतज्ञ हूँ', जैसी कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इस संग्रह में कुछ छोटी, कम महत्वपूर्ण कविताएँ भी संकलित हुई हैं। कुल मिलाकर इस काव्य संग्रह की कविताएँ उनके काव्य विकास को समझने में महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

3.2.12 **अमोला** (1980) :-

सन् 1990 में त्रिलोचन जी का एक काव्य संग्रह अमोला' नाम से प्रकाश आया। इस में बरवै छंद में लिखे गये काव्य संकलित हैं। घर और बाहर, पृथ्वी और आकाश का एक दूसरे से भी सहयोगी रिश्ता रहा है त्रिलोचन की मानसिकता का। यह मानसिकता देश की आज़ादी के समय खेत में स्त्री-पुरुष का मिलकर सहयोगी भाव था। 'धरती' की कविता में स्त्री और पुरुष उसी सहयोग पद्धति से बँधे हुए मनुष्य हैं। 'दिगंत' की कविता में स्त्री-पुरुष, प्रकृति और देश, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय संस्कार की कई स्तरीय सहयोग की पद्धतियाँ कवि ने विकसित की हैं। 'अमोला' उस सहयोगी परंपरा का मानवीय निकष रहा है।

'अमोला' के काव्यान्तर्गत कवि ने सरकारों पर व्यंग्य किया है। कवि स्पष्ट करते हैं कि कम्यूनिस्ट सरकार का नौकरशाह हो या पूँजीवादी सरकार का हो, वह मनुष्य के हित से अधिक, मनुष्य का अनहित करता है। वाम सरकार, उनके अनमेल व्यवहार के नाते जनता की छाती को फाडती या दबाने में सफल हुई है। त्रिलोचन का कवि इसलिए मानव संबंधों के जनवादी सरकार पर जोर देता है।

पृथ्वी त्रिलोचन का विराट घर है। बाहरी जीवन उसका कर्मक्षेत्र है। प्रकृति के साथ जितना उसका पाठक रमता जाता है, उतना ही वह प्रकृति का अनूठा अनुभव अपने आप करता चलता है। जीवन यात्रा जैसी विविध या विचित्र होगी, कवि के अनुभव का संसार भी वैसे भी अभिव्यक्ति पाएगा। 'अमोला' का कवि और उसकी जीवन-यात्रा के साथ चोट खाए हुए लोग हैं।

'अमोला' संग्रह का वरबै छंद 'दाऊद महमद तुलसी' की परंपरा में आते हैं। आवरण लेख में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है "अमोला' त्रिलोचन की सबसे सहज कृति है। सहज यह कृति उनके लिए है जो 19 मात्राओं के इस छंद और 12 और 7 मात्राओं के यति को जानते है। विशाल हिन्दी में आज भाषा उच्चारण और बर्तनी में जो अराजकता पाई जा रही है, वह 'ए' और 'ओ' का हिन्दी में ह्रस्व उच्चारण या ह्रस्व 'ए' अथवा 'ओ' का ह्रस्व व्यवहार जाननेवाले कितने पाठक है? 'रड़', 'सड़' का कितने अध्यापक आज भी कर सकते हैं? तुलसीदास की कविता के भी आज गिने-चुने अच्छे सुधी पाठक हैं। यहाँ त्रिलोचन की कविता के परिधान या बरवै छंद में रुचि रखनेवाले कितने पाठक आज है, यह मैं जानना चाहता हूँ।"[67] अमोला के कवि ने सिर्फ कविता के बनाव का ध्यान रखा है। इस संग्रह की कविताएँ लोककंठ के अनुभव का ताल भी है, खजाना भी। कहीं लोक-पक्ष के कवि त्रिलोचन ने अपनी निजी अनुभूति की खोज की है। कहीं 'अमोला' में लोकजीवन का व्यापक संसार रचा है। इसके काव्यान्तर्गत कवि ने हरिजनों की बुरी हालत का वर्णन प्रस्तुत किया है। जहाँ जमींदारों के घर पक्के हो गए हैं वहीं हरिजनों, केवटों, कहारों की कुरिया, छान मडइया वैसी ही है -

"पीपर जापई, दूसरे पेडे जाई
ओकर बाढि बियास ऐंच के खाई।"[68]

'धंधोर तपता' जलानेवाले फजूल खर्च लोग अन्त में ऐसे ही दुर्दिन में फँस जाते हैं कि उनकी ओर कोई देखनेवाला नहीं बचता। 'धंधोर तपता' समाज के गैर जिम्मेदार लोगों की कुआदत से जुडे

जो अर्थ छवि रचता है वही त्रिलोचन का पौरुष है। 'धंधोर तपता' ताजमहल भी नहीं है जिससे हमारी सौन्दर्यानुभूति सुख पाए। यह तो जर्जर नुनछाई दीवार पर सुनहली पच्चीकारी करने के निरर्थक कोशिश है। कवि के मन में इस देश की सरकारें 'धंधोर तपता' ताप रही है। लोक जीवन की महागाथा है, 'अमोला'। कवि पूछते हैं कि एक फ्लैट का दूसरे फ्लैट के आदमी से यहाँ सरोकार न रखे तो काम कैसे चले। सबको अपनी छान उठानी है इसलिए बिना दूसरे की उठाए कौन अपनी उठाने आएगा।

प्रस्तुत अध्याय में त्रिलोचन के कृतित्व की यात्रा का सामान्य परिचय देते हुए उनकी काव्यान्तर्गत उजागर होनेवाली अन्तर्धाराओं की पहचान-परख करने का प्रयत्न किया है। 1945 में प्रकाशित 'धरती' शीर्षक संकलन की कविताओं से शुरू होकर 1990 में प्रकाशित 'अमोला' तक की इस लंबी विकास-यात्रा में कवि जिन भावभूमियों से गुज़रा है तथा जिस सारस्वत मंज़िल पर पहुँचा है, उसका सिंहावलोकन तथा पहचान इस अध्याय का प्रमुख अभिष्ट रहा है।

3.3 त्रिलोचन जी का अन्य साहित्य :-

3.3.1 कहानी संग्रह :-

त्रिलोचन शास्त्री का कवि व्यक्तित्व इतना विराट है कि उनकी अन्य विधा का लेखन स्वयं उनका अवरोध उपस्थित करता है। त्रिलोचन का कहानी संग्रह देशकाल की संवेदना को इतने गहरे स्तर पर अभिव्यंजित करता है कि यह त्रिलोचन शास्त्री को एक सर्वोत्तम कवि के रूप में प्रमाणित करता है।

जनवादी तथा प्रगतिशील काव्यधारा में शास्त्री जी की पहचान मुख्य रूप से एक समर्थ कवि के रूप में ही हुई है। किन्तु त्रिलोचन शास्त्री ने गद्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा हैं। इनके संदर्भ में रेवती रमण जी लिखते हैं कि- "वैसे तो त्रिलोचन मूलतः कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु कवि के साथ ही साथ उनमें गद्य लेखन की प्रखर दृष्टि भी मौजूद थी। उनका गद्य एक कवि का गद्य नहीं है, वह एक विधिवत गद्य है, जिसे निराला जीवन संग्राम की भाषा कहते हैं, कुछ वैसा ही।"[69] बात सही भी है त्रिलोचन शास्त्री जी के काव्य रचनाओं का जो रचनात्मक स्वरूप निर्मित हुआ है, इससे त्रिलोचन के व्यक्तित्व तथा कृतित्व की पहचान एक समर्थ कवि के रूप में तो होती ही है। साथ ही उनके

गद्यात्मक संरचनाओं में भी उनका व्यक्तित्व अपने मुखर स्वरूप में उभर कर सामने आया है, जिसे उनके कहानियों में भी देखा जा सकता है।

त्रिलोचन शास्त्री का जन्म एक गरीब कृषक परिवार में हुआ था। उन्होंने कृषक जीवन की मार्मिक कथा को नज़दीक से देखा और भोगा है। इस देखे और भोगे हुए को त्रिलोचन जब अपने काव्यान्तर्गत नहीं समेट पाते हैं तो उसे अपनी कहानियों में चित्रांकित करते हैं। यह त्रिलोचन की विशेषता है।

त्रिलोचन शास्त्री की कहानियों का संकलन 'देशकाल' नाम से सन् 1986 ई. में राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में कवि ने 'बीस' कहानियों को संकलित किया है। इन कहानियों में न सिर्फ कल्पनात्मकता, कथात्मकता के गुण ही सन्निहित हैं, अपितु इन कहानियों में कवि के जीवन का यथार्थ उसके देखे एवं भोगे हुए जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति हुई है।

नयी कविता के अनेक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने कहानियाँ भी लिखी हैं और उनकी कहानियों पर समीक्षकों का ध्यान विशेष रूप से गया भी है। किन्तु त्रिलोचन की कहानियों की चर्चा कम ही हुई है। इसकी वजह भी है जैसे कि त्रिलोचन की काव्य रचनाओं का संसार काव्य के प्रचलित बाह्य प्रतिमानकों में फिट नहीं बैठता है। इसका मूल कारण यह है कि उनके काव्य रचनाओं का मर्म बाहर नहीं अपितु उसी के भीतर है। उसी तरह त्रिलोचन की कहानियों के मर्म उनकी कहानियों के भीतर ही देखे जा सकते हैं। जिस प्रकार से त्रिलोचन ने अपनी कविताओं के वर्ण विषय का स्वरूप सामान्य जनता के जीवन के बीच से ही प्रस्तुत किया है। उसी तरह से उनकी कहानियों में भी सामान्य जन-जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। इस विषय पर डॉ. रेवती रमण लिखते हैं - 'महावीर अग्रवाल' के संवाद के सिलसिले में त्रिलोचन शास्त्री ने कहा है कि "ग्राम्य जीवन मुझे प्रारम्भ से ही प्रभावित करता रहा है। कविता मैं बचपन से लिख रहा हूँ कभी-कभी कोई चरित्र कविता में पूरी तरह नहीं समा पाता। जब बात कविता में पूरी तरह नहीं कही जा सकती तब वह धीरे-धीरे कहानी का रूप ग्रहण कर लेती है।"[70]

त्रिलोचन शास्त्री का उपर्युक्त कथन उनके गद्यात्मक रचनाओं का मूलतत्व है। क्योंकि बात सही भी है, कविता में व्यक्ति स्वतंत्र भाव-लोक में तो विचरण करता है पर लेखन के समय उसकी कलम काव्य के अनुशासनों में बंधी होती है। उसे अपने भावों एवं विचारों को एक निश्चित शब्दों एवं

शिल्पगत अनुशासन की विशिष्टताओं में आबद्ध होकर ही हृदयगत भावों को व्यक्त करना होता है, जबकि गद्य में रचनाकार स्वतन्त्र होकर अपने भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति करता है। इस परिपेक्ष्य से त्रिलोचन अपनी कहानियों में अपने जीवन के विस्तृत अनुभवों की अभिव्यंक्ति करने में सफल हुए हैं। त्रिलोचन अपनी कहानियों में जैसे- 'देशकाल', 'अपनी इन्जत आप करो', 'नदी के किनारे', 'जिउधन', 'संबंध', 'सोलह आने', 'बाड़ा सियार' तथा 'बरसा लागी मोरी गुइयाँ' आदि कहानियों में उनकी जन प्रतिबद्धता व जन संवेदनात्मक अभिव्यक्ति को देखा जा सकता हैं। इनके कहानियों के संदर्भ में डॉ. अजीत प्रियदर्शी लिखते हैं - "इस संग्रह की कहानियाँ आज़ादी के पूर्व के गाँव की विड़म्बनाओं और बदले हुए मानवीय नाते-रिश्ते व क्षीण होती हुई मानवीय संवेदना का जितना यर्थात चित्र त्रिलोचन शास्त्री की कहानियाँ करती हैं, उतना कम ही लेखकों में इतना यथार्थपरक चित्र दिखाई देता है। त्रिलोचन शास्त्री की कहानियों में समाज में व्याप्त शोषण एवं अत्याचार की बढ़ती समस्या का चित्रण हुआ है, जिसमें रोजी-रोटी के साथ ही रोटी और बेटी की दारूण व्यथा-कथा का जो परिवेश सुनाती है।"[71]

त्रिलोचन जी की कहानियाँ सामान्य जनता के जीवन का जो परिवेश निर्मित करती हैं, उतना इनके समकालीन अन्य रचनाकारों में वैसी सपाट बयानी शायद ही कहीं दिखायी देती है। "त्रिलोचन अपनी कहानियों में जो भी प्रसंग उठाते हैं उसे बहुत ही सरल सहज और स्वाभाविक प्रवाहमयता के साथ अभिव्यक्त कर देते हैं। इस संदर्भ में डॉ. अजीत प्रियदर्शी जी लिखते हैं कि "इन कहानियों में कवि का जनपद अपनी तमाम खूबियों एवं खामियों के साथ उपस्थित है।"[72] इन कहानियों में आये पात्रों एवं चरित्रों को त्रिलोचन जी ने सामान्य जनता के जीवन के बीच से उठाया है, जिसके कारण इन कहानियों में जीवन्तता अपने पूर्ण स्वरूप में उपस्थित है। नगई महरा, शूरी चमार, परसादू बाब, लालता सिंह, उदयराज सिंह, झिंगुरी केवट, सिउपाल, दुल्ली लाल, जिउधन, पंडाइन शिवहरख शुकुल और रामनाथ तथा वरुण, देवल और कमल जैसे पात्र सामान्य जन जीवन के बीच से ही लिए गये। कवि ने इन कहानियों में अपने गाँव के परिवेश का ही चरित्र उठाया, जो सिर्फ इन्हीं के गाँव का न होकर पूरे भारत के ग्राम्य क्षेत्र का नेतृत्व करता है। उदाहरणार्थ, 'देशकाल' नामक कहानी का यह अंश देखा जा सकता है। जिसका उल्लेख डॉ. ध्रुव शुक्ल जी ने 'त्रिलोचन संचयिता' में इस प्रकार करते हैं- "परसादू बाबा ने पूछा करे बसदेउवा तहु छटनी ओढ़नी मराव बदे कुछ कर्तधर्त हये कि नौ?

बासुदेव बोले- करब काहे न बाबा, करब। झिंगुरी बोला- "एनकई त एक खेत न होय जवन बा से जलिआइ न ग होइ।"[73] रामकरन सिंह जिनका पुकारने वाला नाम 'ताली' है। त्रिलोचन ने बासुदेव के जोहार को स्वीकार करते हुए कहा- "घोड़े की तंग और खेती, अपने हाथ न कसो न करो तो नहीं बनती।"[74] गँवई मिठास से भरी हुई ठेठ अवधी बोली भाषा की सहज प्रवाहमयता से परिपूर्ण त्रिलोचन की कहानियाँ अपने समय की सच्चाई को अभिव्यक्त करती हैं। जहाँ एक ऐसा शोषक वर्ग है, जो शोषित पीड़ित जनता के खून को जोंक की तरह चूस लेता है। दीन-हीन जनता पशुओं से भी बदतर जीवन जीने के लिए विवश है। इनकी इसी कहानी का निम्नलिखित अंश देखा जा सकता है। जिसमें लेखक ने मानवता की कामना की सुन्दर अभिव्यंजना को अभिव्यक्ति प्रदान किया है।

"नगई महरा बोले- 'हम तो इन मानव कि रामायन में कुछु नाँइ न।' बासदेव की ओर देखकर नगई ने पूछा "क भइया तू काठ कहथ्या? रामायन फजूल भाटइ ?"[75]

बासुदेव कुछ कहने जा रहा था कि बीच में सिउपाल बोल पड़ा- "काउ वा रामायन में? ओ से अच्छा त कबीर साहेब कहि ग बाटेंन। रामायन पढ़ि के हिन्नू आपन हिनुअई चेत थइ। मुसुरमान कँ मलिच्छ समझइ लाग थइ। ई कवनिउ धरम आ। जबने से मनई मनई में फरक परै उहठ कवन धरम आ।"[76]

इन कहानियों के माध्यम से त्रिलोचन ने अपने समय के समाज में फैले जाति-धर्म, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे के फर्क की कड़वी सच्चाईयों का पर्दाफाश करते हैं। 'जिउधन' के माध्यम से कवि स्वयं अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। एक तरफ इन कहानियों के माध्यम से कवि मानवता का जयघोष करता हुआ दिखाई पड़ता है, तो दूसरी तरफ ये कहानियाँ समाज में व्याप्त धनवान-गरीब, जाति तथा धर्म के नाम पर व्याप्त अन्याय एवं अत्याचार के कारण समाज में फैली असमानता पर कठोर प्रहार करती हुई ये कहानियाँ दिखाई देती हैं। बानगी के फलस्वरूप 'अपनी इज्जत आप करो' नामक कहानी का यह अंश देखा जा सकता है, जिसमें शोषकों की भूमिका का निर्वहन करने वाले ठाकुर साहब तथा शोषित समाज का प्रतिनिधि झुरी व उसका परिवार व रिश्तेदार करते हैं।

"बाबू साहब बोले- हमारे बहनोई आए हैं, इन्हें शाहगंज जाना है। पालकी से जायेंगे आदमी बुला कर चल जल्दी ? झुरिया डर गया। हिम्मत करके बोला- आदमी कहाँ मिलेंगे मेरे बसाये तो हैं नहीं। और मैं रात से भूखा हूँ दस कोस तक मुझसे बोझा नहीं ढोया जायेगा। मैं नहीं जा सकता।"[77]

ठाकुर गरजे- इज्जत का सवाल है साले। आज वे न जा सके तो समझेंगे इनकों आदमियों का अकाल रहता है। जाना होगा नहीं तो हड्डी हड्डी तोड़ कर रख दूंगा?

"आदमी..............

उनकी निगाह मेरे पाहुनो पर पड़ी।

ये कौन साले हैं काठ जैसे पड़े हुए हैं

उठा इन्हें पालकी ढोवें,

नहीं तो एक-एक की खाल उतरवा लूँगा।

मैंने कहा- ये मेरे पाहुने हैं। रात के भूखे हैं नही जा सकते"

नहीं जा सकते? ठाकुर गरजे

मैंने कहा- हाँ

गरजे -इज्जत न रहे

मैंने कहा - मेरी इज्जत न रहे

ठाकुर तड़प उठे- तेरी इज्जत ? तू कब से इज़्ज़तदार हुआ साले? उस दिन मैं पीटा गया जैसे सन। मेरे पाहुने तक मेरे कारण पीटे गए।"[75]

उपर्युक्त कहानी को पढ़ने पर पता चलता है कि लेखक ने आज़ादी के पहले देश में व्याप्त जमींदारी प्रथा की दारुण दशा का कितना मार्मिक किन्तु यथार्थ परक चित्रण किया है, जो हृदय को कस कर झकझोर देती है और सोचने के लिए विवश कर देती है कि हमारे भारतीय समाज की यह क्रूर, अमानवीय प्रवृत्तियाँ कितनी घिनौनी थीं कि जहाँ आदमी को आदमी न समझ कर जानवर से भी बदतर समझा जाता था। यहाँ पर त्रिलोचन ने समाज के एक ऐसे जमींदार वर्ग की संवेदनशून्यता का दृश्य सामने रखा है, जो मानवीय संवेदना को ताख पर रख कर अपनी (शान) तथा बड़प्पन में ही अंधा बना हुआ है। दूसरी तरफ एक वर्ग ऐसा भी है जो दो जून की रोटी के लिए हाड़-तोड़ मेहनत करता है।

फिर भी वह भूखा ही सोता है। उसे उसके श्रम का पूरा प्रतिफल तक नहीं प्राप्त होता है और न ही उसे जीवन में क्षणभर विश्राम करने का अवसर ही मिलता है। तब तक जमींदार का कहर बरप पड़ता है।

समाज की इस व्यवस्था को देख कर त्रिलोचन का हृदय व्यथित हो उठता है। इस व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाकर त्रिलोचन इस असहाय जनता के जीवन में विद्रोह का स्वर मुखरित करते हुए दिखाई देते हैं। त्रिलोचन जनता के कवि हैं जनता की पीड़ा उसके दु:ख-दर्द को कवि कैसे सह सकता है। इसी दीन-दुखी जनता की वाणी को कवि अपनी कहानियों में आवाज देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

त्रिलोचन सहृदय कवि के साथ एक विवेकशील पाठक व सजग आलोचक एवं काव्य मर्मज्ञ के साथ ही साथ एक सहृदय कथा लेखक के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। अपनी कहानियों में कवि अधिकतर गाँव से ही चरित्र उठाया है। जैसे "रामवृक्ष बेनी पुरी की कहानी "माटी की मूरते" में गाँव से ही चरित्र उठाये गये हैं। उसी तरह से त्रिलोचन की कहानियों में भी देखा जा सकता है। इन कहानियों में लेखक अपने गाँव 'जवार' की परिस्थितियों में जीवनयापन करने वाले चरित्र को बड़ी संजीदगी से उठाते हैं, जहाँ ऊँच-नीच, जाति-धर्म, की दारूण दशा का चित्रण कितनी बेबाकी के साथ करते हैं, जो इनकी कहानी में देखा जा सकता है। रेवती रमन के मतानुसार "जिसमें एक विधवा स्त्री के शोषण की दारूण दशा का चित्रण हुआ हैं। इस कहानी में शिवहरख शुकुल और रामनाथ सिंह दो बड़े शोषक हैं। जिनको शोषण में महारत हासिल है। इन दोनों में कौन बड़ा शोषक है यह कहना कठिन है। दोनों ने मिलकर पंडिताइन का धन और धर्म दोनों लूटा उनकी सारी जायदाद, रामनाथ सिंह पंडिताइन की सहायता के नाम पर हड़प लेते हैं और शुकुल शिवहरख पंडिताइन और उनकी बेटी दोनों को अपने यहाँ ले जाते हैं। पंडिताइन को शिवहरख रखैल के रूप में रख लेते हैं। किन्तु बेटी को दो हजार रुपये में वेश्यावृत्ति के धन्धे में बेच देते हैं।"[76]

प्रस्तुत कहानी के माध्यम से त्रिलोचन शास्त्री यह बताना चाहते हैं कि समाज का एक उच्च वर्ग जो शोषण की प्रवृत्ति से आवृत्त है; जिनकी मानवीय संवेदना मर चुकी है। उसे बस धन, दौलत, भोग विलास के साधन की आवश्यकता होती है। ऐसे अत्याचारी वर्ग के लोगों के माध्यम से लेखक सोई हुई जनता को जगाने का प्रशंसनीय कार्य अपनी इन कहानियों के माध्यम से करते हैं।

'जिउधन' कहानी में कवि जिउधन की पत्नी विपत्ता और लड़की फुल्ली की मनोदशा उसकी आकांक्षा तथा जिउधन का परदेश में रहने से सीखे हुए बात-चीत, वेश-भूषा, रहन-सहन के तौर तरीके का यथार्थ चित्रण किया है।

'सोलह आने' कहानी में 'देवल' के अन्दर आदर्श और मर्यादा का जो स्वरूप निर्मित किया है उस पर गाँधीवादी विचारों का जोर दिखाई देता है। इस कहानी में वरुण, कमल और देवल अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताओं को अभिव्यक्ति करते हैं।

'बांडा सियार' कहानी को कवि अपने गाँव चिरानी पट्टी कटपरा पट्टी से उठाया है। इस कहानी की कथा वाचिका आकाशी बुआ है, जो कहानी सुनाती हैं। पात्र के रूप में 'होरिल' है। उसकी माँ तथा बहन हैं, तो 'बांडा सियार' भी है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि कभी-कभी दुर्भाग्य ही सौभाग्य का हेतु बन जाता है।

'बरसा लागलि मोरी गुइयाँ' त्रिलोचन जी की ऐसी कहानी है, जिसका परिवेश (बनारस शहर) का है, जिसमें एक रिक्शा चालक की मनोदशा का यथार्थपरक चित्रण हुआ है। महीना लगने में छः दिन शेष है। पहली तारीख को उस रिक्शे वाले का गवना है। जिसकी खुशी में वह रिक्शा चालक मन ही मन प्रेम की कोमल मनोदशाओं को याद कर मधुर स्वर में कहने लगता है - 'बरसा लागसि मोरी गुइयाँ' अर्थात मेरे भी जीवन में प्रेम की मधुर वर्षा होने वाली है। अब मेरा भी अपनी घर वाली से मिलने का समय नज़दीक आ गया है। अब हमारे जीवन में प्रियतम से वियोग की घड़ी समाप्त होने वाली है। अब अपनी प्रियतमा से मिलने का समय नज़दीक आ गया है। अब हमारे भी जीवन में प्रेम की वर्षा होगी।

कहना न होगा त्रिलोचन शास्त्री प्रेम सौन्दर्य के कवि के साथ ही साथ प्रेम सौन्दर्य के कथाकार भी हैं। त्रिलोचन शास्त्री की प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति एक मर्यादित रचनाकार की अभिव्यक्ति है जो मर्यादा के भीतर ही अपनी प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति अपने पात्रों से करवाते हैं। जिनकी प्रेम संवेदना प्रेम के अथाह सागर में गोते लगाती है। उसमें कहीं पर भी मर्यादा के विपरीत चित्रण नहीं हुआ है। कवि इन कहानियों में आम जनता के जीवन में कठिन जीवन संघर्ष के बीच भी दाम्पत्य प्रेम का सहज स्वाभाविक स्वरूप सृजित कर देता है। त्रिलोचन शास्त्री प्रेम सौन्दर्य के ऐसे

चितेरे हैं, जिन्होंने अपने जीवन में स्वयं प्रेम को अन्तर्मन से गहा है और इस गहे हुए यथार्थ को वे अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

इनकी कहानियों के संदर्भ में 'रेवती रमण' जी का यह कथन कितना सार्थक प्रतीत होता है कि "कहानीकार त्रिलोचन प्रगतिशील है, यथार्थवादी है यह उनकी संवेदनशीलता ही है, जो कथा दृष्टि को मानवीय बना देती है।"[89]

निष्कर्ष:-

त्रिलोचन की कहानियों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उन्होंने अपनी कहानियों का जो स्वरूप निर्मित किया है। वह सामान्य जनता के जीवन के बीच के परिवेश से ही रची बुनी गयी हैं। जनता के अभावमय जीवन का इतना यथार्थपरक चित्रण वही रचनाकार कर सकता है जो स्वयं अपने जीवन में इसे सहा हो। त्रिलोचन स्वयं अपने जीवन मे इस अभाव एवं शोषण को देखा और उसका अनुभव लिया है। इसलिए इनकी कहानियों को भाव व्यंजकता की धार बहुत ही पैनी बन पड़ी है। रचनाकार ने अपनी कहानियों में सामान्य जन-जीवन के बीच की जमीनी सच्चाई को उठाया है और उसे अपनी अभिव्यंजनात्मक क्षमता की कुशलता से तीक्ष्णधार प्रदान करने की भरपूर कोशिश की हैं, जो त्रिलोचन को गद्य विधा के क्षेत्र में भी मजबूत पकड़ होने की स्वतः प्रमाण सिद्ध करती है।

इस प्रकार त्रिलोचन की कहानियाँ उनके रचनात्मक व्यक्तित्व की पहचान कराने के साथ ही साथ कथा साहित्य में भी अपना विशिष्टतम स्थान रखती हैं, जिससे त्रिलोचन के गद्य विधा के क्षेत्र में उनकी संवेदनात्मक एवं संरचनात्मक व्यक्तित्व क्षमता को भी देखने-परखने का अवसर प्रदान करती हुई दिखाई पड़ती है। इनकी कहानियों में पायी जाने वाली जो सबसे मूल विशेषता दृष्टिगत होती है वह यह कि त्रिलोचन जी शोषित, पीड़ित, वंचित जनता के अभावमय जीवन को सभी तरह के शोषणों से मुक्ति दिलाकर उनके जीवन में समतावादी, समाजवादी, जनवादी विचारधारा को स्थापित कर, उनके जीवन में मानवीय प्रेम सौन्दर्य का विकास करना चाहते हैं, जिससे सबके साथ समानता का व्यवहार हो सके और सब को अपना जीवन अपने ढंग से जीने का पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त हो सके। यही त्रिलोचन की कहानियों की प्रमुख विशेषताएं हैं।

3.3.2 गीत:-

त्रिलोचन शास्त्री भारतीय लोक साहित्य के बड़े सर्जक रहे हैं। लगभग छ: दशक की लम्बी काव्ययात्रा की जीवन साधना में सृजन कर्म उनके लिए जीवन तपस्या से कम नहीं है। "अपनी साधारण लगने वाले काव्यान्तर्गत उन्होंने जिस काव्य-मूल्य की सृष्टि की, वह आज के काव्य संदर्भ में एक विलक्षण घटना मानी जा रही है।"[78] केदारनाथ सिंह बड़ी आसानी से यह कह कर निकल जाते है कि त्रिलोचन 'चतुर्दश पदी' में लिखते हैं। संदेह होने लगता है कि कही यह एक बड़े रचनाकार को ख़ारिज करने के लिए तो नहीं कह दिया गया क्योंकि त्रिलोचन की पहचान 'सॉनेट' लिखने वाले के रूप में की जाती है। नामवर सिंह ने बार-बार यही कहा कि त्रिलोचन सॉनेट अच्छा लिखते हैं। यह किसी स्थापित समीक्षक के सोचे-समझे शब्द हो सकते है। जबकी त्रिलोचन के गीतों की तरलता से कहीं न कहीं सभी प्रभावित रहे हैं। सॉनेट की जमीन भारतीय नहीं है, जबकि त्रिलोचन की काव्य भूमि में चिरानी पट्टी से लेकर काशी की पाँच हजार साल पुरानी सभ्यता, संस्कृति की गंगा तरंगायित है। त्रिलोचन के प्रथम गीत संग्रह धरती के प्रकाशन के बाद शिवप्रसाद सिंह, त्रिभुवन सिंह, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, शुकदेव सिंह के भी गीत संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जिन्होंने समय के साथ अपने कलम की दिशा कथा साहित्य, निबंध और आलोचना की ओर मोड़ दिया। जैसे -

"आँसू बाँधे हैं मैं ने गठरिया में
अपने भी हैं और पराए भी हैं ये
अपने भी है और पराए भी है ये
उपराए हैं तो तराए भी हैं ये
आप आ गए हैं बराए भी है ये
साधे हैं मैं ने कन कन डगरिया में।"[79]

गीतकार त्रिलोचन के जीवन गठरी में गाँव से काशी तक आसुंओं का शैलाव था। जिसे शास्त्री जी संजोकर रख रहे थे, शायद अपनों को इन्हीं आंसुओं में पाकर कवि अपनेपन का अनुभव करता रहा हो। त्रिलोचन की रचना प्रक्रिया का रास्ता कहीं न कहीं इसी के आसपास से होकर गुजरता है। त्रिलोचन के गीत की पंक्तियाँ तरलता, सरलता, भावाभिव्यक्ति, प्रभावान्विति गीति की सभी विशेषताओं को समेटे हैं-

"देखा ये पत्थर के ऊपर चुए हैं
चुपके से चू चूकर चुप हुए हैं
सूने में अटके अभी अनछुए हैं
काँधे हैं मैं ने बढ़ के नगरिया में।"[80]

यहाँ तक की रामविलास शर्मा, मैनेजर पाण्डेय जैसे समीक्षकों की दृष्टि भी त्रिलोचन की तरफ नहीं उठी। त्रिलोचन शास्त्री चिरानी पट्टी, काशी और मित्र मंडली के साथ काव्य साधना में सतत अग्रसर रहे। सानेट का कर्ता अपने गीतों को चतुर्दश पंक्तियों में बाँध कर नया प्रयोग कर रहा था। निराला का मुक्त छंद संभवतः त्रिलोचन के यहाँ सानेट में गवई, गंध, गुलाब में ढल रहा था। जिसका अच्छी तरह से पहचाना जाना बचा है, जो हिंदी काव्यात्मक आलोचना परंपरा के लिये एक चुनौती है। त्रिलोचन के काव्य-संसार का अब तक न तो समग्र मूल्यांकन हो पाया, न उनकी वह आदर ही हिंदी साहित्य में हो पाया, जिसके वे सही मानो में स्वामी थे। त्रिलोचन गाँव के कृषक-संस्कार के काफ़ी करीब थे, जो उन्हें चिरानीपट्टी गाँव और काशी में मिला था। उनका लोक जिन तत्वों से बना है, उसमें बड़ी-बड़ी बातों के लिये जगह नहीं। त्रिलोचन शास्त्री बिना लागलपेट के सीधे बनारसी अंदाज में अपनी बात कहने में विश्वास करते थे, इसलिये कविता के बाहर भी निकल आना चाहते थे अर्थात् कला के बंधन में नहीं फँसते थे। वे वस्तु के निकटतम स्थानापन्न, बल्कि वही हो जाना चाहते थे। जैसे जहाँ जिस रूप में देखा, हू-ब-हू वैसा ही रच दिया। अपनी ओर से जोड़-तोड़ से परहेज बरतते थे। यही लोक का स्वभाव भी है, यानि खरा, पवित्र। यहाँ रचना भावना प्रधान होती है, न कि कला। जैसे-

"मुझे वह रूप नहीं मिला है जिससे कोई
सुंदर कहलाता है, हृदय मिला है
जिससे मनुष्यता का निर्मल कमल खिला है।"[81]

त्रिलोचन कृषक जन के अधिक करीब हैं, जिसमें भारत का हृदय बसता है। इसलिये जीवन के प्रति निष्कवच खुलापन त्रिलोचन को आधुनिकता और लोकधर्मिता के बृहत्तर दायरे में लेकर चलती है। जीवन से गहरा लगाव, जन के साथ तादात्म्यता और संघर्ष में तपकर निखरते जीवन के प्रति विराट निष्ठाबोध ही सच्चे अर्थों में त्रिलोचन को आधुनिक बनाता है। रामदरश मिश्र त्रिलोचन

को गीतकार को रेखांकित करते हुए लिखते है - "त्रिलोचन लोकधर्मी गीतकार है जिन्हें खाद-पानी संस्कारों से मिलाता रहा है।"[82]

मिश्र जी की दृष्टि में त्रिलोचन का गीतकार अन्य पक्षों के साथ मुखर है। त्रिलोचन के गीत भारतीय गीत परम्परा की धरोहर है। एक उदात्त नैतिक एवं सामाजिक चेतना उन्हें दायित्व बोधों के प्रति सचेत करती रहती है। गीतिकाव्य में संगीत के तीन स्वरों की उपस्थिति मानी जाती है-शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव या विचार संगीत। संवेगों की तीव्रता और उद्वेलन की सामान्य परिस्थितियों में भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का रूप लिया है। ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति, यही गीतिकाव्य है। "छन्दबद्धता, गीतिमयता, संक्षिप्त भावना की अभिव्यक्ति तथा घटना प्रवाह की त्वरा उनका प्रमुख घटक है। अर्थात् गीतिवाद्यों के साथ गाया जाने वाला छन्द काव्य गीतिकाव्य होगा।"[83] गीति की प्राथमिक आवश्यकता है संवेगात्मक एकता और भाव संकलन की सुरक्षा। बगैर कोई भूमिका बनाए सहज उद्रेक और सद्यः स्फूर्ति के रूप में गीति प्रारम्भ होता है, जिसकी मूल प्रेरणा से उद्दीप्त भाव अत्यन्त सुनियोजित ढंग से व्यक्त होता है। गीति के भाव-विकास की चरम स्थिति आते ही, उसका अवसान हो जाता है। कई बार तो श्रेष्ठ कोटि की गीति भावोत्तेजना के चरम आने से पूर्व ही समाप्त हो जाती है और पाठकों पर अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़ जाती है-

"खिल उठे है फूल, हँसते उपवन
जीवन ही जीवन भरा भुवन
अनिवार्य निरंतर आवाहन
सुनता रहता हूँ कुछ निःस्वन
द्यावा पृथिवी के कण-कण का
अग-जग का प्रेरक संजीवन ॥"[84]

गीति की भावमूलक एकता के लिए उसके आकार की लघुता, उसका विशेष गुण दर्शाता है। अनुभूतिमूलक संवेगात्मक एकता की स्थिति सामान्यतया देर तक बनी नहीं रहती। गीति के आकार की लघुता का इस अल्पजीविता के साथ सम्भवतः अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "गतिकाव्य व्यक्ति के संवेदनशील चित्त में रूपायित भावनाओं का आवेगमय लयात्मक

सहज प्रकाशन है। भावनाओं की तीव्र आत्मानुभूति गीतकाव्य में कवि के व्यक्ति चित्त और लोकचित्त का एकात्म्य जरूरी होता है।"[85]

"गीत बन जाते हृदय के भाव
गबन जाते
तोड़ बंधन और बाधा
गीत से फिर-फिर उमड़ते
उड़ स्वरों के पंख फिर वर्ण भास्वर गगन जाते
जब वन में रूप आता. रंग आता
तब तरंगित
हंस मानस छोड़ उड़ते
नील नभ को पार करते॥"[86]

त्रिलोचन नाउम्मीदी के के नहीं, उम्मीदी के सर्जक है। यदि किसी परंपरा से वे जुड़ते दिखाई देते हैं तो एक सीमा तक निराला और कुछ-कुछ नागार्जुन से। मिट्टी, मनुष्यता, सच्चाई एवं एकता के साथ हमेशा खड़े दिखाई पड़ते हैं। त्रिलोचन का व्यक्तित्व हमें अपनी ओर आकर्षित करता है, उनके जैसा बनने के लिए प्रोत्साहित करता है। त्रिलोचन अपने अंतर्गत की अनुभूति को बिना किसी लाग-लपेट के अपनी आत्मा की गहराई में स्थित भाव को अभिव्यक्त करते हैं। "उनका गीतकार साधना प्रदत्त औदात्य का नहीं, अमूमन सरल सहज का अभ्यस्त है। उनके गीतों में आस्था की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन उसका संदर्भ लौकिक है, जीवन की गहमा-गहमी चहल-पहल है। त्रिलोचन के भाव विचार मनोवैज्ञानिक दाँव-पेंच से मुक्त भाव विचार हैं।"[87] त्रिलोचन व्यथा, स्वप्न और आत्मविश्वास सभी हमें अपना महसूस होने लगता है। कवि की प्रेमानुभूति की सरस अभिव्यक्ति गीतों में फूट पड़ती है -

"आज सुन स्वर में तुम्हारें गीत अपने याद आए
याद आए भूल में जिनको चुका था
मधुर सपने
देख-देख भरे नयन के भाव
भाव वे जिनमें

न रंच दुराव या बिलगाव ॥"[88]

यहाँ गीत की रचना प्रक्रिया और त्रिलोचन की गीत रचना प्रक्रिया को समझा जा सकता है। "गीत का भावपरकता से स्वाभाविक संबंध है। कवि पर गीतिमत्त का दबाव जितना अधिक होता है, उतना ही उसका जीवनानुभव, चिंतन और लक्ष्य आवेग से आच्छन्न हो जाता है। भावबोध के साथ मूल्यबोध की दुय्यम चेतना, जो कारण की जटिलता का अन्वेषण करती है, गीत की अभिवृति नहीं है। इसीलिए गीतकार आकर्षण, लालसा, मनस्ताप, करुणा आदि की काल्पनिक अनुभूति से ग्रस्त रहता है। गीत के रूप तंत्र से मुक्त हुए बिना, किसी कवि के लिए काल्पनिक अनुभूतियों के दबाव से मुक्त होना प्रायः संभव नहीं होता।"[89]

"नदी किनारे संध्या बेला
खोया सा मैं कहीं अकेला
रहता हूँ तब हवा साँझ की,
दें-दें कुछ अवसाद जाती
मुझे तुम्हारी याद आती॥"[90]

गीतकाव्य में काव्यानुभूति के साथ गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता सम्भव होती है। गीतकाव्य वैयक्तिक अनुभूति की व्यंजना है, किन्तु उसमें लोक-हृदय का स्पन्दन भी होता है, यही कारण है कि वैयक्तिक गीत समूहगीत बन जाते हैं-

"हरा भरा संसार है आँखों के आगे
ताल हरे हैं
खेत भरे हैं
नई-नई बाले बालें लहराएँ
झूम रहे हैं
धान हरे हैं
झरती हैं भीनी मंजरियाँ
खेल रही है लोल लहरियाँ
जीवन का विस्तार है

आँखों के आगे ॥"[91]

त्रिलोचन के गीतों की रवानी और प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम वर्णन गजब का है। मन के भावों का आवेग विचारों से आप्लावित है। त्रिलोचन के गीतों को पढ़ते समय लगता है जैसे कोई दार्शनिक, चित्रकार तुलिका से, संगीत के रिदम पर दृश्यों को टांक रहा हो। गति और यति द्रष्टव्य है-

"चाँदनी चर्चित
परम प्रार्थित
समर्पित
स्नेह सी यह रात
स्तब्ध नीरव रात
क्षितिज है संकीर्ण
कुहरे में
सघन अवरुद्ध
दिन जैसा नहीं विस्तीर्ण
वस्तुओं का
रूप अब तो और कुछ है॥"[92]

त्रिलोचन मात्र शब्दों से चित्रकारी ही नहीं करते बल्कि गीत के भीतर वर्ण्य वास्तु पर व्यापक चर्चा-परिचर्चा भी करते हैं। त्रिलोचन के पास दृश्यांकन के लिए गजब का सामर्थ्य है। प्रकृति का वस्तु के रूप में भरपूर उपयोग करते हैं।

"राका आई
शारदा उत्तर आई
स्मिति की ज्योत्स्ना
छाई
चन्द्रमा व्योम में मुस्काया
सागर में इधर
ज्वार आया

तारे हैं इधर-उधर पर्वत
चाँदनी खेलती है भू पर॥"[93]

त्रिलोचन के काव्यान्तर्गत आकर्षण का एक और कारण है, उनके काव्यान्तर्गत प्रचूर मात्रा में लोकचित्रों और प्रकृति का दिखाई देना है। वे अपने नज़दीकी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर, बारीक गतिविधियों को सरल भाषा में लाकर गीतों की सुन्दर माला रचना कर देते हैं। जैसे -

"चल रही हवा धीरे-धीरे।
सीरी-सीरी
उड़ रहे गगन में झीने-झीने
कजरारे चंचल बादल
छिपते-छिपते जब तक तारे उज्ज्वलझलमल
चाँदनी चमकती है।
गंगा बहती जाती है।"[94]

त्रिलोचन के प्रकृत्ति चित्र दृष्टि सीमा तक विशद् और फैले हुए हैं। प्रकृति उनके गीतों में आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में आयी है। सांध्य-काल में नौका-विहार करते हुए गंगा में शत-शत कम्पमान ज्योति-लताएँ, हरित- फौव्वारों सरीखे धान, प्रभातकाल के लघुवृत्त दीपालोक, नदी के पार के पेड़ों पर उगे हुए मृगशिरा नक्षत्र, पारदर्शी नील जल में सिंहरते शैवाल, स्वर-ताग में पल्लव-सरीखे पंछियों का सुभग बन्दनवार सूचीभेद्य घन के द्वार, शाम के सादे बदरफट घाम, रात के भीतर उभरती रात-सी परिचित-अपरिचित, जिसके तनों की फांक के उस पार चमकता है। प्रकृति से तादात्म्य, मौसम का ज्ञान, पुरवा हवा के साथ गर्मी का जाना बादलों का उमडना घुमणना जल भरे घने बादलों के साथ हवा की संगति शास्त्रीय संगीत से सुर साधना की मनोरम भावभूमि दिखाई पड़ने लगाती है।

3.3.3 ग़ज़ल :-

हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को जोड़ने की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में हम ग़ज़ल विधा को देख सकते हैं। ग़ज़ल अरबी फारसी से होती हुई उर्दू में आई और इसने उर्दू में आकर लोकप्रियता की बुलंदियों के शिखर को छुआ है। इसी लोकप्रियता के प्रभाव स्वरूप, हिंदी आधुनिक साहित्य के

निर्माता भारतेंदु ने हिंदी में ग़ज़ल विधा का प्रारंभ किया। भारतेंदु कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली को उस रूप में स्थापित करने में सफल न हो पाए हों परंतु ग़ज़ल लेखन के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली का सफल प्रयोग किया।

उर्दू में ग़ज़ल की लोकप्रियता से प्रभावित होकर और पद्य में खड़ी बोली के प्रयोग स्वरूप, भारतेंदु ने हिंदी भाषा में ग़ज़लें लिखीं। साथ ही यह हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को करीब लाने का एक माध्यम भी थी। भारतेंदु और उनके मंडल के साहित्यकारों ने अपने को इस संकीर्णता से बचाया कि वे उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग न करें तथा इन भाषाओं के बीच दूरी बरकरार रखें अपितु इन्होंने ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रचार-प्रसार किया जो आम जन की दैनिक बोलचाल की भाषा थी। जैसे -

"दिल मेरा ले गया दगा करके।
बेवफा हो गया वफा करके।
हिज्र की शब घटा दी हमने।
दास्तां जुल्फ़ की बढ़ा करके।
वक्ते रहलत जो आए बाली पर।
खूब रोए गले लगा करके।
दोस्तों, कौन मेरी तुरबत पर।
रो रहा है रसा-रसा करके।"[95]

भारतेंदु ने गज़ल विधा को हिंदी में लाकर दोनों भाषाओं को अलगाने वाले संकीर्ण विचारों पर चोट कर, इन्हें नजदीक लाने का प्रयत्न किया। भारतेंदु ने उर्दू, फारसी की चली आ रही ग़ज़ल परंपरा के अनुसार ही ग़ज़लें लिखीं। उनकी गज़लों पर उर्दू की परंपरागत ग़ज़लों का ही प्रभाव दिखता है। परंतु इन्होंने कुछ ग़ज़लें हिंदी भाषा के अनुरूप उसकी अपनी ज़मीन पर खड़े होकर लिखीं, जिनमें भाषागत रूप से लेकर शिल्पगत रूप तक हिंदी की अपनी छटा दिखाई पड़ती है। इन गजलों को हम हिंदी ग़ज़ल के आधार के रूप में देख सकते हैं।

भारतेंदु के ग़ज़ल विधा को अपनाने तथा उसे हिंदी में लाने के प्रयत्नस्वरूप हम देखते हैं कि न केवल उनके समकालीन कवियों का रुझान इस विधा की ओर बनता है बल्कि उनके बाद हम

ग़ज़ल लेखन की एक सुदीर्घ परंपरा भी पनपते हुए देखते हैं। द्विवेदी युग में श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', छायावादी युग में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और बाद में शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, दुष्यंत कुमार आदि से लेकर आज के हिंदी ग़ज़लकारों तक हिंदी ग़ज़ल लेखन का एक विकास क्रम दिखाई देता है। भारतेंदु से लेकर दुष्यंत कुमार से पहले हिंदी के कवियों द्वारा जो गजलें लिखी गई उनमें से अधिकतर उर्दू-फारसी की परंपरा के अनुसार ही लिखी गई। हालांकि कुछ ग़ज़लकारों ने प्रयोगस्वरूप अलग तरह की ग़ज़लें भी लिखीं, जिनमें प्रसाद की संस्कृतनिष्ठ शैली की गजलें तथा त्रिलोचन की हिंदी की जमीन से जुड़ी ग़ज़लें उल्लेखनीय हैं।

दुष्यंत से पहले ग़ज़ल विधा हिंदी में उस रूप में ख्याति हासिल नहीं कर पाई जिस रूप में दुष्यंत के आगमन के पश्चात हिंदी ग़ज़ल ने प्राप्त की थी। दरअसल दुष्यंत से पूर्व हिंदी कवियों ने केवल इस विधा में अपना कौशल दिखाने के लिए ही ग़ज़ल लेखन किया था। उनका ग़ज़ल लेखन से उस रूप में कोई बुनियादी सरोकार नहीं रहा। उन्होंने इस विधा को अपनी मुख्य विधा के रूप में नहीं अपनाया था। वे मुख्य रूप से कवि के रूप में ही जाने जाते रहे। परंतु दुष्यंत ने ग़ज़ल विधा को अपने बुनियादी या मूल लेखन की विधा के रूप में अपनाया, जिसके कारण वह कवि से अधिक ग़ज़ल कार के व्यक्तित्व को जीते हैं। इसलिए वह ग़ज़ल विधा को उस मुकाम तक पहुँचाने में सफल हुए जहाँ तक अन्य कवि उसे नहीं ले जा पाए। उदाहरण देखिए -

"कहां तो तय था चिराग हरेक घर के लिए।
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।
यहां दरख्तों के साए में धूप लगती है।
चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए।"[96]

दुष्यंत कुमार हिंदी ग़ज़ल लेखन के परंपरा पुरुष के रूप में उभर कर सामने आते हैं। उन्होंने हिंदी ग़ज़ल को उर्दू-फारसी की चली आ रही परंपरागत परिपाटी से मुक्त कराकर सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ से जुड़े मुद्दों तथा आधुनिक चेतना के संदर्भों से जोड़ा हैं। उन्होंने हिंदी ग़ज़ल लेखन के लिए जनमानस की भाषा का प्रयोग कर ग़ज़ल को हिंदी भाषा में भी लोकप्रियता की बुलंदियों पर पहुँचा दिया, जिसके चलते हिंदी में ग़ज़ल लेखन एक गंभीर कार्य के रूप में अपनी जगह बना पाया तथा हिंदी के कवि इस विधा को साधने को अग्रसर हुए।

इस आधुनिक हिंदी ग़ज़ल के लिए अनुकूल ऊपजाऊ भूमि तैयार करने में शमशेर बहादुर सिंह और त्रिलोचन शास्त्री का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनसे प्रभावित होकर अनेक कवियों ने हिंदी ग़ज़लें लिखीं। दुष्यंत स्वयं अपने को शमशेर की गज़लों से प्रभावित मानते हैं। वह स्वीकारते हैं कि उन पर शमशेर की गजलों का प्रभाव पड़ा।

शमशेर और त्रिलोचन दोनों समकालीन कवि है। दोनों ने ही हिंदी में ग़ज़लें लिखीं परंतु दोनों ही कवियों की संवदेना का धरातल एकदम अलग-अलग है। शमशेर ने उर्दू-फारसी की परंपरागत ग़ज़लों से ही अपनी संवदेना ग्रहण की है। उनकी ग़ज़लों में परंपरागत उर्दू शायरी की भांति आशिक-माशूक के प्रेम प्रधान विषय हैं। उनकी ग़ज़लों में वही शोखी, नज़ाकत, नफ़ासत और ग़ज़ल का यही लहजा दिखाई देता है, जो उर्दू की परंपरागत ग़ज़लों का है। शमशेर का लहज़ा वैसा ही दिखाई देता है, जो उर्दू की परंपरागत ग़ज़लों का है। शमशेर की ग़ज़लों में रूमानियत है, इस रूमानियत की विभिन्न मंगिमाएं हैं, जो उर्दू की क्लासिक ग़ज़ल से ली गई है। उनकी ग़ज़ले पारंपरिक ग़ज़लों का सांचा लिए हुए है-

"ये शोख़ चारी काफिराना मस्ताना।
किसी का ख़ाबो-ख़याले शबाना मस्ताना।
जो ख़ुद ही महका हुआ हो, तो उस पे क्यों डाले।
भला कोई निगाहे आशिकाना मस्ताना।"[97]

शमशेर की गजलों में हमें उर्दू के शायर मीर सौदा और गालिब आदि का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वह गालिब से तो इतना प्रभावित है कि वह स्वयं इसे स्वीकारते हैं कि गालिब उनकी ग़ज़लों में कभी भी चले आते हैं। उनकी ग़ज़लों में अधिकतर प्रेमपरक ग़ज़लें ही हैं। उनका मूल स्वर रूमानी ही रहा है। उनकी ग़ज़लें उर्दू की प्रकृति की ग़ज़ले हैं। अगर उनकी लिपि बदल दी जाए तो वे उर्दू की ग़ज़ले ही कही जाएंगी।

इसके विपरीत त्रिलोचन ने जो ग़ज़ले लिखी हैं, वह हिंदी की प्रकृति की ग़ज़लें हैं। उनकी ग़ज़लों की संवेदना का धरातल उर्दू-फारसी की ग़ज़लों का नहीं है अपितु यह हिंदी में ग़ज़ल की नई भूमि तलाशने का प्रयत्न है। ये ग़ज़ले हिंदी की जातीय परंपरा की ग़ज़लें है। त्रिलोचन ग़ज़लों के लिए एक नई भावभूमि तलाश कर उसे तैयार करने का कार्य करते हैं। उनकी ग़ज़लों में दुख, अवसाद और अभाव का स्वर ज्यादा मुखर है। उनकी ग़ज़लों में सामाजिक विसंगतियों और उसे यथार्थ की

विभिन्न भंगिमाएँ देखने को मिलती हैं। उनकी ग़ज़लों में प्रेम का भाव है। उनकी ग़ज़लों में प्रेम में न्योछावर या मिट जाने का भाव ज्यादा है। उनमें उर्दू ग़ज़ल की जो शोखी एवं नज़ाकत है, वह दिखाई नहीं पड़ती। त्रिलोचन का जो रंग है वह एकदम निराला है। वह निराला है, इसलिए प्रचलित भी नहीं है। वह हिंदी ग़ज़ल का सांचा तैयार करते हैं। जैसे -

"नाम मत लो हमारा भाई है।
आदमी जी रहा है मरने को।
सब के ऊपर यही सच्चाई है।"[98]

त्रिलोचन के यहाँ सामाजिक यथार्थ से जुड़े विषय अधिक देखने को मिलते हैं। इन्होंने अपनी ग़ज़लों से सामाजिक असंगतियों पर आघात किया है। इन ग़ज़लों में अभाव से उत्पन्न पीड़ा है, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों पर व्यंग्य है। यह ग़ज़लें उर्दू की परंपरागत ग़ज़लों की भांति नज़ाकत, नफ़ासत एवं शोख़ी से भरी हुई नहीं है, इनमें तो समाज की तल्ख सच्चाइयों व्यक्त हुई हैं। इस प्रकार त्रिलोचन की ग़ज़लों में हमें कई तरह के रंग दिखाई पड़ते हैं। उनकी ग़ज़लों में भी प्रेम व रूमानियत दिखाई देती है. परंतु उसमें भी मार्थ के परात को नहीं छोड़ते। उनकी गुल में प्रकृतिगांव से जुड़कर, किसानी जीवन से जुड़कर जीवंत हुई है और कई रंगों में सामने आई है। उन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन किया है। बसंत ऋतु का तो विशेषकर बहुत ही सुंदर ढंग से उनकी ग़ज़लों में आगमन हुआ है। त्रिलोचन की ग़ज़लों में भी आत्मालाप दिखाई देता है, वह आत्मालाप दुख और अवसाद की स्थिति से उपजा है। उनकी ग़ज़लों में यहाँ मृत्यु का भय दिखाई नहीं देता। वहाँ सिर्फ जीवन ही जीवन और उसकी सच्चाईयों उसके संघर्ष दिखाई देते हैं। उनकी ग़ज़लों की भावभूमि भी विविध रंग लिए हुए है, परंतु वहाँ ताप के ताए हुए दिन ही अधिक मिलते हैं।

त्रिलोचन ने ग़ज़ल विद्या के शिल्प उसके तत्वों और उसके अनुशासन का पालन किया है। त्रिलोचन के ग़ज़लों में शिल्पगत प्रयोग दिखाई देते हैं, जिसके कारण उनकी ग़ज़लों में एक अनोखा सौंदर्य देखने को मिलता है। त्रिलोचन ने हिंदी के मुहावरों का भी प्रयोग किया है। उनकी ग़ज़लों में संस्कृत के बहुत से क्लिष्ट शब्द देखने को मिलते हैं। त्रिलोचन की ग़ज़लें भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक और भाषागत संस्कार को जानने-पहचानने की ग़ज़लें हैं।

उनकी ग़ज़लें हिंदी के सांचे में ढली हुई हिंदी की अपनी ज़मीन की तलाश की ग़ज़लें हैं। अपनी ग़ज़लों के विषय में वह कहते हैं, "जो काम मैं कर रहा हूँ वह औरों के ध्यान में नहीं है।... मैं गज़ल को भारतीय स्वभाव देना चाहता हूँ। उर्दू के टेस्ट से देखने वाले मुझे नाकामयाब कहेंगे, मैं नहीं।"[99] त्रिलोचन की गजलें हिंदी के स्वभाव की गजलें हैं। यह ग़ज़लें हिंदी की गज़लों के लिए आधार तैयार करने के लिए लिखी गई हैं। इस तरह हम देखते हैं कि ग़ज़लों भिन्न प्रकृति के कारण की त्रिलोचन ने ग़ज़ल के क्षेत्र में एक अपनी अलग पहचान बनाकर, उन्हें अपने मकसद में कामयाब भी बनाया है।

3.3.4 आलोचक :-

यह कहा जाता है कि 'आलोचना भी रचना है' दोनों का अपना अंत: संबंध है, जिससे जीवन और साहित्य का निर्माण होता है। हमें यह बात गहराई से समझ लेनी चाहिए कि किसी रचना की प्रशंसा करना या भर्त्सना मात्र करना आलोचना का एक बहुत छोटा और संकुचित कर्म है। आलोचना का मुख्य काम साहित्य के उन समस्याओं को चिह्नित करना है, जो किसी रचना में उभरती दिखाई पड़ती है। साथ ही, जीवन और संसार को बोधगम्य बनाने के क्रम में ही साहित्यिक आलोचना का सृजन होता है। त्रिलोचन की आलोचना-दृष्टि इसी साहित्यिक आलोचना को बोधगम्य बनाकर, साहित्यिक भाव से पाठकों के समक्ष रखने की पक्षपाती है। निबंध 'रचना-आलोचना' शीर्षकान्तर्गत में उन्होंने यह तथ्य बतलाने का प्रयत्न किया कि "रचना और आलोचना में तत्वतः अंतर नहीं है। दोनों की समृद्धि जीवन के व्यापक अनुभव से होती है।"[100] अपने उस अनुभव को रचना में लाना और फिर उसी अनुभव से रचना की परीक्षा करना यही आलोचना का दायित्व होना चाहिए। हमारा यह भी दायित्व बनता है कि त्रिलोचन के सौ वर्ष पूरे करने पर हम उनकी कविताओं के साथ उनकी आलोचना-दृष्टि पर विचार करें।

"जिस आलोचक की भाषा समझ में नहीं आती हो, वह आलोचना किसी काम की नहीं हैं। रामविलास शर्मा को छोड़कर (रामचंद्र शुक्ल के बाद) ऐसा कोई आलोचक नहीं हुआ, जिसकी शब्दावली सहज हो। नामवर सिंह नए-नए शब्दों को ले आते हैं किंतु जैसे शुक्ल जी अपने शब्दों का अर्थ भी खोलते हैं, वह विशेषता किसी में नहीं है। शुक्ल जी बात कहते हैं और उसमें नया शब्द भी

कह जाते हैं किंतु साथ ही उस नए शब्द की व्याख्या करके तब आगे बढ़ते हैं। इससे पाठकों में शब्दों का संस्कार होता है। इस तरह शुक्ल जी संस्कारक भी है। यही बात उन्हें उच्चकोटि का बना देती है।"[101]

त्रिलोचन के बिखरे पड़े निबंधों को एकत्रित कर, उसे 'काव्य और अर्थबोध पुस्तक के रूप में 1995 में प्रकाशित करवाया। उसकी लंबी भूमिका लिखी जो आलोचक त्रिलोचन को जानने-समझने में हमारी सहायता प्रदान करती है। अवधेश प्रधान ने बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट शब्दों में लिखा है "त्रिलोचन, रामचंद्र शुक्ल की लोकदृष्टि के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।"[102] बेशक, त्रिलोचन के लिए रचना-आलोचना काव्यशास्त्र की जड़ता से बहुत आगे निकलकर लोकचेतना के विकास का बौद्धिक संवाहक बन जाती है। गौरतलब है कि हिंदी आलोचना को 'लोकदृष्टि' के मानक पर इतने व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रामचंद्र शुक्ल को ही प्राप्त है। उनकी लोकदृष्टि जड़ और स्थिर नहीं है बल्कि वह सत्य एवं विकास की रास्ते में गतिशील है।

वस्तुतः त्रिलोचन का ध्येय आलोचना को रचना से भिन्न न मानते हुए उसे पाठकों की रुचि के अनुरूप ढालने का प्रयत्न है और सही मायने में यही आलोचना की लोकदृष्टि है। त्रिलोचन कहते भी हैं - "आलोचना के नाम पर ऐसी सैकड़ों पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है, जिसमें छात्रों का हित ध्यान में स्थित है, पुस्तकों के ग्राहक प्रायः छात्र होते हैं। छात्र अपने पाठ्यक्रम में आए नामों आदि को देखकर इस प्रकार की पुस्तकों को खरीद लेते हैं... इस प्रकार की समीक्षाएँ रचनाकारों के काम की हो जाएँ। किंतु ऐसा कम होता है, पर होता है। रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाएँ संपूर्ण रचनात्मक संभावना को प्रकट करने का काम भी करती है। इनसे छात्र भी लाभ उठा सकते हैं और रचनाकार भी उनके बाद यह काम नंददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया। इसके बाद यह कार्य रामविलास शर्मा ने किया। इन नामों से यह भ्रम न होना चाहिए कि ये आलोचना के विकास में एक मात्र सहायक है। सहस्रनाम जप का महत्व तो है, पर उससे बच कर निकलना भी कम उपयोगी नहीं। इनके बाद नामवर सिंह का नाम लिया जा सकता है।...जैसे, रचना का ह्रास नहीं, विकास माना जाता है वही हाल आलोचना का भी है।"[103]

त्रिलोचन आलोचना-दृष्टि ही नहीं बल्कि आलोचक-दृष्टि को भी अपने आलोचना-दृष्टि में रखते हैं और उनके अनुसार यही आलोचक या आलोचना का दायित्व होना चाहिए। इसमें वे जहाँ

कहीं भी फिसलन देखते हैं उनकी लोक पाठकग्राही-दृष्टि आलोचक की भूमिका में कुछ यूँ आ जाती है-

"हल्दी लगे न फिटकरी, कहाँ हो सकता है।
अमुक-अमुक कवि ने जमकर जलपान कराया,
आलोचक दल कीर्तिगान में कब थकता है।
दूध दुहेगा, जिसने अच्छी तरह चराया।
आलोचक है नया पुरोहित उसे खिलाओं
सकल कवि-यशः प्रार्थी देकर मिलो मिलाओ।"[104]

उपरोक्त कविता अंश त्रिलोचन की 'आलोचक' कविता से लिया गया है, जिसमें वे आलोचना के क्षय पर व्यंग्य ही नहीं करते बल्कि कड़ी आलोचना भी करते हैं। यह आलोचना का क्षय दरअसल आलोचक को 'मध्यस्थ' की भूमिका में आ जाने के कारण हुआ है, जिसमें आलोचक-संपादक-लेखक तीनों जुड़े हुए हैं। ये किसी विशेष साहित्यिक कृति या प्रवृत्ति के तटस्थ मूल्यांकन को छोड़ उसे 'प्रमोट' करने के अभियान में चलते दिखाई देते हैं। लेकिन त्रिलोचन इस आलोचना को एक सिरे से खारिज करते हैं। उनके लिए आलोचना-रचना का दायित्व पाठक की चेतना का विकास करना है न कि एक गलत मानस पटल का निर्माण।

'गद्य कविनां निकषम् वदंति'

यह लिखते हुए वामन ने क्या पता क्या सोचा होगा। उसने यह तो नहीं सोचा होगा कि कवियों गद्य के सपाट विन्यास में कविता लिखकर बताओ तब मानें! त्रिलोचन की 'तीसरी आँख' वामन के इस कथन को पकड़ती ही नहीं बल्कि हमारे लिए उदाहरण भी प्रस्तुत करती है। त्रिलोचन अपने एक सॉनेट में व्यंग्य के लहजे में ही लिखते हैं, जो उनकी रचना-आलोचना की इस चुनौती को अंगीकार करती हुई मालूम पड़ती है-

"गद्य-पद्य कुछ लिखा करो। कविता में क्या है?
आलोचना जमेगी। आलोचक का दर्जा
मानो शेर जंगली सन्नाटे में गर्जा
ऐसा कुछ है। लोग सहमते हैं। पाया है
इतना रुतबा कहाँ किसी ने कभी इसलिए

आलोचना लिखो। शर्मा ने स्वयं अकेले
बड़े-बड़े दिग्गज ही नहीं हिमालय ठेले,
शक्ति और कौशल के कई प्रमाण दे दिए,
उद्यम करके कोलतार ले लेकर पोता,
बड़े-बड़े कवियों की मुखश्री लुप्त हो गई,
गली-गली में उनके स्वर की गूंज खो गई,
लोग भुनभुनाए घर में, इससे क्या होता।
रुख देखकर समीक्षा का अब में हूँ हामी:
कोई लिखा करे कुछ, जल्दी होगा नामी।"[105]

यहाँ आलोचना के हृदय पर व्यंग्य है पर कविता के हृदय और उसके महत्व पर गंभीरता भरी दृष्टि पहली ही पंक्ति में "गद्य-पद्य कुछ लिखा करो" में आ गई है। यहाँ त्रिलोचन की दृष्टि गद्यात्मकता कविता से है, जिसकी जरूरत पर वे बल देते हैं परंतु आलोचना के हृदय को "शर्मा ने अकेले दिग्गज ही नहीं हिमालय ठेले अपितु डॉ. रामविलास शर्मा की हृदय की तरह होने को रचना-आलोचना मानते हैं। उनके गद्य की जय को भावावेग से आंदोलित नहीं पाते हैं बल्कि उसमें बौद्धिक संयम से अनुशासित एक सर्वग्राही लय फलित होते हुए देखते हैं, जिसका निर्माण विवेक संगत निर्णय देकर होता है। इसी प्रकार त्रिलोचन भी अपनी आलोचना में किसी रचनाकार के प्रति रियायत बरतते हुए नहीं दिखाई पड़ते।

गद्य-पद्य की भूमिका पर पहले भी बात हो की जा चुकी है कि त्रिलोचन कविता की गद्यात्मकता को लेकर बहुत सचेत दृष्टि रखते थे। हंस के सितंबर, 1945 के अंक में एक लंबा लेख लिखा 'निराला की नई कविता', जिसमें उन्होंने गद्यात्मक कविता को रेखांकित किया है। त्रिलोचन लिखते हैं, "निराला जी की नई कविताएँ उनकी पुरानी कविताओं से अनेक बातों में भिन्न है, पुराने काव्यान्तर्गत भाव, भाषा और छंद का जैसा निर्वाचन है, नए काव्यान्तर्गत नहीं है। विषय को भी इधर उन्होंने व्यापक बनाया है। भाषा भी सामान्य बोलचाल की रखी है।"[106] भाव, भाषा और छंद भले पहले जैसा नहीं है, विषय व्यापक हुई है और भाषा सामान्य बोलचाल की यानी गद्यात्मक हो चली है। आगे इसकी गुणवत्ता पर बात करते हुए वे लिखते हैं, "39 के पहले की रचनाओं में भी निराला जी

की दृष्टि-बिंदु निश्चित और स्वच्छंद पाया जाता है। उनकी उनकी तत्कालीन रचनाओं में एक प्रकार की तटस्थ वृत्ति पाई जाती है। इसी तटस्य वृत्ति के कारण निरालाजी की रचनाओं में समाज के लिए कोई उद्वोधन नहीं पाया जाता। इसके विपरीत नए काव्यान्तर्गत वे बहुत स्पष्ट और लक्ष्योन्मुख दिखायी देते हैं।"[107] निश्चित ही हृदय जीवन संग्राम की भाषा है। पद्म जहाँ परम केंद्रण की भाषा है, वहाँ गद्य तर्क-वितर्क की त्रिलोचन को निरालाजी की नई कविताएँ समाज के लिए उद्वोधन के कारण प्रतीत होते हैं। इसलिए उनका यह कहना कि 'गद्य पद्य कुछ लिखा करो'- यानी समाज के उद्बोधन में साथ चलो।

गद्य पद्य के इस आग्रह को वे निराला के अलावा भी तत्कालीन कवियों में देखते और भाषा की इस सरलता के प्रति जो निश्चित ही लोकचेतना, जीवन और उद्बोधन के भाव पैदा कर रहे थे, उनके प्रति उनका यह शब्द: "भाषा की सरलता का आरंभ लगभग 39 से हुआ। हिंदी में 39 के पहले अधिकतर दुर्बोध्य रचनाएँ की जाती थी। लेकिन 39 से कवियों और लेखकों की दृष्टि सरलता की ओर गई। लेखकों ने अपने को जनता और राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी समझा। फलतः भाषा और साहित्य लोक जीवन के निकट आए। यद्यपि अभी साहित्य जीवन के समानांतर नहीं चल रहा है फिर भी चेष्टाशीलता स्पष्ट है। सभी बड़े कवियों ने सिंहासन छोड़कर जनपथ पर विचरण प्रारंभ किया। इसका भविष्य अधिक आशाप्रद है। जब जीवन और साहित्य एक-दूसरे के पूरक हो जाएँगे तब राष्ट्र की शक्ति का विकास होगा। निराला, पंत, दिनकर, नरेंद्र शर्मा, सुमन, बच्चन और केदारनाथ अग्रवाल जैसे युगता आवयोगी कवि अपनी संपूर्ण प्राणशक्ति से देश की मन शक्ति का उद्बोधन कर रहे हैं।"[108]

गद्य तथा पद्य संबंधी अपने दृष्टिकोण को त्रिलोचन ने बहुत ही दृढ़ता से रखा, समझा और उसका प्रयोग भी किया। वे जब पचहत्तर के हुए थे तो कवि मंगलेश डबराल ने उनसे बातचीत की थी। उस बातचीत में मंगलेश जी का प्रश्न था : "मुझे लगता है आपकी कविता में गद्य की एक बड़ी भूमिका है, उनका आपस में गहरा रिश्ता है। बल्कि आपने कुछ ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जिन्हें आपने चाहे न कहा हो, दूसरों ने गदय कविता कहा है।"[109] त्रिलोचन का जवाब जिसमें गद्य-पद्य का लंबा विश्लेषण है, यहाँ उद्धृत करना जरूरी जान पड़ता है। इस तरह से त्रिलोचन के आलोचक व्यक्तित्व की उपस्थिति उनके साक्षात्कारों में बड़ी सहजता से होती है और हमें नए-नए 'उपचार'

बताकर चली जाती है। निश्चित ही आलोचक भी साहित्य का वैद्य होता है, जो जड़ित रोगों की तलाश कर उसका स्थायी निदान निकालने की कोशिश करता है। त्रिलोचन साहित्य के वैसे ही वैद्य हैं, जो हमारे समय के नाना प्रकार के रोगों की तलाश करते हुए उसके 'उपचार' की क्रिया भी बतलाते हैं।

कविता में सहजता, भाषा और शिल्प के धरातल पर अनेक रूपों में मिलते हैं किंतु उसका सर्वोत्तम निदर्शन भी उसके 'उपचार' के बाद ही पाठकों के सामने आता है। यही 'उपचार' तटस्थ आलोचना-दृष्टि का उन्नत कौशल है, जिसमें त्रिलोचन कहीं पर समझौता करते हुए नहीं दिखाई देते। वे वही करते जो सत्य है और संप्रेषणीय हैं। कहीं पर वे बड़े नाम के 'लेबल' पर नहीं जाते। एक बार कवि केदारनाथ सिंह द्वारा पूछे गए 'भाषा के तथ्य-बहुलता' और 'उनकी कविताओं पर मैथिलीशरण गुप्त के प्रभाव संबंधी प्रश्न को एक सिरे से खारिज करते हुए बोलते हैं: "मैथिलीशरण गुप्त में संरक्षणशीलता अधिक थी, जो मुझे बिल्कुल पसंद नहीं। इसलिए उनका प्रभाव मुझ पर पड़ ही नहीं सकता था। ...मैं इस संदर्भ में गुप्तजी की अपेक्षा कौशलेंद्र प्रताप सिंह का जिक्र करना चाहूँगा, जिनके काव्यान्तर्गत मुझे खड़ी बोली का ठाट अधिक मिलता था।"[110] स्वभावतः केदार जी कौशलेंद्र प्रताप सिंह की नाम को सुन हक्के-बक्के रह जाते हैं, फिर त्रिलोचन उन्हें बतलाते हैं, "ये इटारसी के रहने वाले थे और उस काल की पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ देखी जा सकती हैं। मुझे वे अच्छी लगती थीं। इससे अधिक कुछ नहीं।"[111] यह कम बड़ी बात नहीं कि त्रिलोचन का आलोचक कौशल मैथिलीशरण गुप्त जैसे बड़े 'लेबल' को अपनी प्रेरणा शक्ति न मानकर एक अचर्चित नाम कौशलेंद्र प्रताप सिंह को 'खड़ी बोली का ठाट' बतलाता है। ध्यातव्य है कि यहाँ उनकी चिंता कौशलेंद्र प्रताप सिंह को 'प्रमोट' करने की शक्ल में नहीं बल्कि 'रचना की प्रेषणीयता' को पहचानने को लेकर है। असल में किसी भी रचना के लिए प्रत्यक्ष प्रेरणा का स्रोत कुछ और ही होता है और इस प्रेरणा के स्रोत की खोज एक दुष्कर कार्य है, जिससे अच्छे आलोचक बचना भी चाहते हैं।

क्योंकि इसे ही कामचलाऊ आलोचना कहा जाता है। त्रिलोचन इस कामचलाऊ आलोचना को नज़र अंदाज कर देना ही उचित समझते हैं। देखिए-

"सब कुछ सब कुछ सब कुछ सब कुछ भाषा
भाषाओं में अगम समुद्र का अवगाहन

मैंने किया...
शब्दों में देखा सब कुछ ध्वनिरूप हो गया
मेघों में आकाश परे कर जी भर गाया
मुद्रा, चेष्टा, भाव, वेग, तत्काल खो गया
सब कुछ सब कुछ सब कुछ सब कुछ भाषा।"[112]

त्रिलोचन आलोचना या रचना के लिए 'भाषा' को सबसे अहम वस्तु मानते हैं। मंगलेश डबराल को दिए साक्षात्कार में ही वे कविता में भाषा की शक्ति पर बात करते हुए कहते हैं "कविता तभी आएगी जब भाषा का पूरा विकास हो जाएगा। वाल्मीकि को देखिए तो मालूम हो जाएगा कि क्या वहीं आदि कवि हैं और वही श्रेष्ठतम कवि है। कालिदास आदि उनकी बगल में बच्चे जैसे लगते हैं। दूसरी बात कविता की कोई पॉलिश नहीं है। बाद में तो भाषा की पॉलिश, ख्यालात की पॉलिश यह कविता से जुड़ती है। यहाँ तक कि लोकगीत भी हो जाएगा, वह जो जनपदीय भाषा होगा, वह जब विकसित होगा, तब आएगा।"[113] प्राचीन भारत में बुद्ध ने 'जनभाषा' का प्रयोग किया था। हमारे समय में हिंदी ही नहीं बल्कि समग्र संसार में सर्जनात्मकता का स्रोत जनभाषाओं का सशक्तिकरण है। त्रिलोचन का एक बहुत प्रसिद्ध निबंध है 'जनभाषा और काव्यभाषा', जो 1986 में 'पूर्वग्रह 75' में प्रकाशित हुआ था। यही वह निष्ठा है जिससे श्रेष्ठ कविता का जन्म होता है और यही वह चीज है जो अच्छे आलोचक की प्रतिष्ठा कायम करती है। कविता और कुछ नहीं, मनुष्य की सबसे पूर्ण भाषा है और इसी में वह सत्य के सबसे समीप पहुँचती है। इसलिए यहाँ कवि की परीक्षा के लिए बहुत-कुछ की जरूरत है और इसी प्रसंग में निर्णय लेना सबसे कठिन काम है। कविता के संबंध में झटपट कोई भी निर्णय दे देना खतरनाक है।

त्रिलोचन का आलोचक यह भलीभाँति जानता है। वह अपना निर्णय बहुत ठोंक कर सुनाता है। एक लय में पूरे आधुनिक हिंदी कविता की समीक्षा कहीं देखनी हो तो त्रिलोचन के इस वाक्यांश को पढ़ लिया जाए। इसमें आलोचकीय निष्ठा पर कोई सवाल नहीं उठाया जा सकता। त्रिलोचन का यह कथन किसी भी रचना की मौलिकता और भाषाई गरिमा प्रदान करने के लिए आवश्यक शर्त की तरह है। क्योंकि आलोचक का अंतिम निर्णय 'लोक' पर ही पहुँचता है। यह आधुनिक कविता को भी

लोकगीतों से ही भाषाई ऊर्जा प्राप्त करता हुआ पाते हैं। यही आलोचना की चिर-स्थायी लोकबद्धता है। त्रिलोचन दूसरों का ऋण भी बेहिचक स्वीकार करते हुए दिखाई देते हैं।

हम आधुनिक आलोचकों में एफ.आर.लिविस और आई.ए.रिचर्डस के आलोचना मूल्यों का परीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि वे शब्द पर अधिक बल देते हैं। कविता शब्दों के द्वारा ही अभिव्यक्ति पाती है ना कि भावनाओं से। त्रिलोचन इन्हीं शब्दों की गतिशील क्रिया से अभिव्यक्ति में बल यानी उसकी निखार देखते हैं। ठीक लिविस की उस धारणा की तरह कि जिस कवि में अनुभूति की जितनी अधिक व्यापकता होगी, जो जीवन के जितने अधिक क्षेत्र को अधिकृत करेगा वह उतना ही महान समझा जाएगा। त्रिलोचन अनुभूति के इसी व्यापक आवाजाही में भाषा की लहरों में जीवन की हलचल पाते हैं, जो अत्यंत वैज्ञानिक और व्यावहारिक है।

यह आलोचना की शैली है, जो बिना दोष की कोई भी कला दुय्यम दर्जे की मानी जाती है। गलतियों और कमियों से कला बिगड़ने की अपेक्षा और भी अच्छी बन जाती है। इसलिए इस कला पद्धति के लिए कहा गया- 'दोषरहित दूषणसहित।' आलोचना की यह पद्धति बेशक सबसे पहले लौजाइनस ने दिया था, तुलसी ने वाल्मीकि की वंदना के क्रम में उनकी रामायण को दोषरहित, दूषणसहित कहा था। त्रिलोचन हिंदी में 'संवर्त' की समीक्षा के बहाने इस पद्धति का नवसृजन करते हैं।

3.3.5 डायरी :-

डायरी लेखन व्यक्ति के द्वारा लिखा गया व्यक्तिगत अनुभवों, सोच और भावनाओं को लेखित रूप में अंकित करके बनाया गया एक संग्रह है। विश्व में हुए महान व्यक्ति डायरी लेखन करते थे और उनके अनुभवों से उनके निधन के बाद भी कई लोगों को प्रेरणा मिलती रही है। डायरी गत साहित्य की एक प्रमुख विधा है, जिसमें लेखक आत्म-साक्षात्कार करता है। वह अपने आपसे सम्प्रेषण की स्थिति में होता है।

मानव के समस्त भावों मानसिक उद्वेगों,अनुभूति विचारों को अभिव्यक्त करने में साहित्य का सर्वोच्च स्थान है। समीक्षकों ने डायरी को साहित्य की कोटि में इसलिये रखा है क्योंकि वह किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व का उद्घाटन करती है या मानव समाज के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म और

जीवंत चित्र उपस्थित करती है। डायरी लेखक अपनी रूचि आवश्यकतानुसार राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक,धार्मिक साहित्यिक अधिक विभिन्न पक्षों के साथ निजी अनुभूतियों का चित्रण कर सकता है। प्राचीन काल में राजा महाराजाओं के समय भी एक रोजनामचा तैयार किया जाता था, जो रोजाना के कार्य और घटनाओं का विवरण देता था। व्यापारियों दुकानदारों द्वारा भी हिसाब किताब और लेनदेन का ही विवरण सुरक्षित रखने हेतु बही खाते का प्रयोग किया जाता है-, यह भी डायरी लेखन माना जाता है। अतः डायरी लेखन अतिथि मित्रों को और जीवन की भरी हुई घटनाओं को याद करने का एक माध्यम है।

त्रिलोचन जी डायरी में का सबसे नजदीकी कोई है तो नामवर सिंह हैं। 21 अप्रैल 1950 की टीप है, "डाकिया नामवर का कार्ड दे गया। पढ़कर मनःस्फूर्ति हुई और रोमांच हो गया।" 1 जनवरी 1951 की टीप है, "नामवर के यहाँ गया। गाढाश्लेष। मन मुदित हुआ। पिछली बातें दुहराईं। आगमिष्यत् की अभिनव रूपकल्पना। नामवर के घर का मिष्ठान्न खाया। स्वादिष्ट-, स्नेहपरिप्लुत।" 9 जनवरी 1951 को उन्होंने नामवर जी के साथ 'अरक्षणीया' फिल्म देखी और उस दिन की टीप में नामवर की प्रशंसा करते हुए लिखा, “हृदय के आवेश के साथ इस आदमी में सावधानता का अद्भुत योग है।" उनकी रसिकता के बारे में 22 फरवरी 1951 की टीप है, "नामवर स्त्रियों से खुलकर शिष्टतापूर्ण परिहास करने में पटु हैं।" त्रिलोचन जी नामवर जी के साथ मँझले भाई राम जी सिंह के गौने में रैपुरा की गए। वहाँ छोटे भाई काशीनाथ सिंह (सकलडीहा)‘बौद्धिक तीव्रता’ की प्रशंसा करते हुए नामवर जी ने त्रिलोचन जी से कहा इसने गणित के बिना भी अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त-किया है। रात को महमूद नाई ने गा-गा कर कहानी सुनाई -"महमूद की कहानी के स्वरों की छाँह में सोया" 25 फरवरी, 1951की टीप। बनारस की ट्रेन पकड़ने के लिए त्रिलोचन और नामवर को एक मील तक दौड़ लगानी पड़ी। शिवप्रसाद सिंह के पिता बाबू चंद्रिका प्रसाद सिंह ने नामवर को बताया कि आपके पिता मेरे सहपाठी थे। 26 जनवरी 1953 की टीप।

त्रिलोचन जी का नामवर के यहाँ या नामवर का त्रिलोचन जी के यहाँ लगभग रोज का आना जाना था। जब न तब दोनों का खाना-पीना भी एक साथ होता। किसी गोष्ठी में एक साथ जाते या मजाक भी साथ-साथ करते थे। इस अनौपचारिक मैत्री में हँसी-फिल्म देखने साथ, बहसा-बहसी, नोंक-झोंक, रीझ अक्सर आने को कहकर भी खीझ के भी मौंके आते रहते थे। नामवर सिंह आते, तो

वे देर से आते। घर पर रास्ते में उनकी प्रतीक्षा करते-करते त्रिलोचन खीझ उठते। परीक्षा छोड़ने पर उनको या तो उनकी पत्नी खुलकर फटकारती थीं या फिर नामवर जी। जब भी त्रिलोचन जी कहीं नौकरी करने की सोचते, नामवर जी उन्हें केवल पढ़ाई में लगे रहने को उत्साहित करते। अक्सर उनकी आर्थिक सहायता भी करते। 1952 में जब त्रिलोचन परीक्षा में बैठने-न-बैठने को लेकर दुविधा में थे; कभी सोचते, नहीं बैठूँगा, फिर पत्नी बिगड़कर बोलतीं तो सोचते, बैठ ही जाता हूँतब नामवर - -ने कहा"यह क्या कि झूला झूल रहे हैं। कोई एक बात तय कीजिए। इस साल परीक्षा मत दीजिए।" (3 मार्च 1952) जब 1953 में भी परीक्षा छोड़ने की बात कही तो नामवर जी ने उन्हें राय दी कि नागपुर से हिंदी में एम.ए. कीजिए। लेकिन त्रिलोचन जी का निश्चय थाबी - एच.यू. से करूँगा। (22 फरवरी, 1953) 1951 में जब पढ़ाई छोड़कर नौकरी करने की सोच रहे थे, तो नामवर सिंह ने उन्हें पढ़ाई जारी रखने की राय दी और कहाआपके भोज-न और फीस का खर्च मैं उठा लूँगा। (22 मई 1951) हँसी में नामवर जी कई बार शिष्टता की मर्यादा भी लाँघ जाते। 22 नवम्बर 1950 की टीप में एक प्रसंग है। गंगा तट पर नहाते समय रामप्रताप सिंह ने किसी के विषय में कहा कि मातृहीन हैं। नामवर ने सहास्य कहा, मातृहीन लोग उन्नति कर जाते हैं। हम भी मातृहीन होते तो ऐसे ही उन्नत होते। इस पर तुलसी नारायण सिंह ने हँसते हुए "भाई, ऐसा मत कहिए, नहीं त्रिलोचन गाँव जाकर माँ को मारकर मातृहीन होने का प्रयत्न करेंगे। इसके पक्ष विपक्ष में मैंने कुछ न कहा। हँसता रहा पर यह तो परिहास नहीं, आत्यंतिक अशिष्टतापूर्ण उद्गार थे। नामवर ने कहा, हाँ, वे सब कुछ कर सकते हैं।" त्रिलोचन ने दुखी मन से लिखा, "वे लोग भी शिष्ट और बुद्धिमान बनते हैं।" शिष्ट हास्य नोद का एक प्रसंगवि-30 अक्टूबर, 1950 की टीप में है, "स्नान के समय आज एक अनोखी बात हुई। नामवर से, जो जल में स्थित थे, मैंने कहा, अफेंदी होता तो आप के चित्र बना देता। इस पर नामवर ने कहा, तूलिका लिए तो आप लोग भी बैठे हैं। प्रोफेसर तु.ना. और मैं दोनों दातून कर रहे थे। उन्होंने और कहा, "उनके चित्र अपने मुँह में बना रहे हैं। मैंने कहा, हाँ, और इसमें भी तुम्हें विचित्र देखकर हम बार-बार थूक देते हैं। नामवर ने जवाब ढूँढ़ा, बोले, एक बात है। मैंने कहा, अब कोई बात नहीं है।" शांतिप्रिय द्विवेदी और जानकी वल्लभ शास्त्री में कौन बड़ाइस पर नामवर जी शांतिप्रिय द्विवेदी का नाम ऊपर करते और - प्रसाद और रवीन्द्र में -त्रिलोचन जी जानकी वल्लभ शास्त्री का। एक बार विवाद का विषय निकला -कौन बड़ा। त्रिलोचन जी ने कहा‘‘वाजपेयी के कंधों पर खड़े होकर प्रसाद रवीन्द्र से बड़े नहीं हो

सकते। (16 नवंबर, 1950) इस डायरी से पता चलता है कि नामवर सिंह के भी विचारों का क्रमशः विकास हुआ है। 20 नवंबर 1950 की टीप है, "अध्ययन के अभाव में कोई कितना हीन हो जाता है - सुनाई बातों के आधार पर उन्होंने -आज नामवर की बातों से सिद्ध हुआ। रूस और राजनीति की सुनी रूस की डिक्टेटरशिप को फॉर्म में एक कहा। अंधहु बधिर न कहहिं अस। जर्मनी औरधिर न कहहिं अस।" पारिवारिक आयोजन के प्रसंग में नामवर जी पर 26 फरवरी 1951 की टीप है, "विवाह में यह आदमी आज इतना असावधान था कि उसने रामकृष्ण, दयानंद आदि को पहला ब्राह्मण व्यवस्था द्ध आदि का कोई नाम नहीं।विरोधी बताया। बु" फिर 27 फरवरी की टीप है, "नामवर ने आज फिर क्लासिसिज्म को रीतिवाद कहा। इस आदमी का हठ जैनेन्द्र के समान अबुद्धि को भी बुद्धि मान सकता है।" तब नामवर जी, शिवमंगल सिंह सुमन को मुक्तिबोध से बड़ा कवि मानते थे। 16 मार्च 1951 की टीप है, "नामवर ने सावेश आज सुमन की प्रशंसा और मुक्तिबोध की निंदा की। मैंने मुक्तिबोध को सुमन से बड़ा कवि कहा। बात व्यक्ति के मनोविश्लेषण और शैली पर चली गई। नामवर डिरेक्टनेस के पक्ष में थे। मैंने कहा था, आज तक के काव्य विकास को झुठलाया नहीं जा सकता।" मुक्तिबोध का महत्व जो आज हिंदी मानस में स्थापित है, उसका भी एक इतिहास है, यह याद रखना चाहिए। मुक्तिबोध को केन्द्र में रखकर 'कविता के नए प्रतिमान' गढ़ने वाले नामवर जी 1951 में सुमन को उनसे बड़ा कवि मानते थे। इसी प्रकार 22 फरवरी 1952 की टीप में उल्लेख है कि तब नामवर जी उर्दू को 'मूल में सांप्रदायिक' मानते थे और आत्मनिर्णय और सांस्कृतिक संरक्षण की बात को हवा में उड़ा देते थे। कहना न होगा कि भाषा और साहित्य की अनेक मान्यताएँ लंबे संघर्ष के बाद ही निर्मित, परिवर्तित, विकसित और स्थापित होती हैं। नामवर त्रिलोचन जी से दस साल छोटे हैं फिर भी दोनों एक दूसरे से मैत्री के धरातल पर मिलते हैं। दोनों को दोनों के स्वभाव को लेकर शिकायतें हैं। दोनों के संबंध में इतना खुलापन है कि दोनों हँसी मजाक भी कर-लेते हैं और वक्त जरूरत एक दूसरे को डाँट फटकार भी देते हैं।-"यू.पी. कॉलेज में नामवर ने पूछा, 'संगम आपने देखा है? ' 'जब से तुम्हारा साथ छूटा, संगम का सुख कहाँ मिला?' उन्होंने कहा, हाँ यमुना। मैंने जोड़ा, हाँ बहन गंगा।"

उन दिनों नामवर जी 'बकलम खुद' वाले व्यंग्य निबंध लिख रहे थे। जब उनका संग्रह छप गया, तब उन्होंने बड़े भैया त्रिलोचन को, 'प्रणिपातपूर्वक' पुस्तक भेंट की। 'बकलम खुद' की विज्ञप्ति

त्रिलोचन जी ने लिखी थी।(6 जनवरी 1951) वे अपने सवैये और निबंध सबसे पहले त्रिलोचन को सुनाते। त्रिलोचन भी उन्हें भरपूर स्नेह करते। लेकिन नामवर की अशिष्टता उनको अक्सर खटकती। 29 मई 1951 की टीप है, "क्या अशिष्टता और नामवर का नित्य संबंध है। क्या बिना झापड़ का भय दिखाए बात का प्रभाव नहीं पड़ सकता।" 4 जून 1951 को "मजाक मजाक में नामवर ने ढकेल दिया। असावधान था। किवाड़ के कोर से माथा टकरा गया। कड़ी चोट आई। पीलापन और फिर एक स्याही सी निगाहों में तैर गई। नामवर ने हल्दी लाकर लगा दी।" दर्द के कारण त्रिलोचन ने रात का खाना नहीं बनाया। नामवर रात को 11 बजे आए। दोनों बिना खाए सो रहे। 25 अगस्त 1950 को जयप्रकाश नारायण के भाषण में त्रिलोचन जी नहीं पहुँच सके, इस पर नामवर जी ने उन्हें "भरपेट कोसा। कुवचन भी कहे। स्वभावानुसार विरोध नहीं किया। हाँ, मैंने कहा, तुम्हारी राय हो तो त्यागपत्र दे दूँ। इस पर नामवर ने कहा, आप और कर ही क्या सकते हैं। न अपने लिए कुछ किया, न घर के लिए, न लड़के के लिए। भूमि भार बने हैं। सब सुना। शांत रहा। अंत को और भी प्रशांत चित्त लौटा।" 26 अगस्त 1950 की टीप है, जिसमें जय प्रकाश का भाषण नव-संस्कृति संघ में था। राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर गणेश प्रसाद उनियाल की पुस्तक का काम त्रिलोचन जी कर रहे थे। जब उन्हें पढ़ाई के साथ-साथ यह काम एक बोझ जैसा लगने लगा तो उन्होंने नामवर जी से कहा, डॉ. गणेश के पंजे से मुझे मुक्त कीजिए। नामवर जी ने जो कुछ कहा, उसकी प्रतिक्रिया 25 मार्च 1951 की टीप में इस प्रकार दर्ज है, "नामवर असंयत और अशिष्ट हैं। बेवकूफ, मूर्ख आदि शब्द उनकी रसना के अग्रभाग पर नाचते रहते हैं।"

18 जून 1951 की टीप में नामवर से एक वाक्य का जिक्र है। 17 जून को त्रिलोचन कमरे की चाभी अपने पड़ोसी ओझा को देकर चले गए थे। ओझा लौटे रात दस बजे। इस बीच नामवर जी आए। उनका खाना कमरे में बंद। कहाँ खायँ? कुछ रोटियाँ हरिवंश राय के यहाँ खाई, कुछ रोटियाँ बलराम राय के यहाँ। 18 जून को सबेरे नामवर ने त्रिलोचन को उलाहना दिया, "कल मैंने अपने आप को उस कुत्ते के समान अनुभव किया जिसका मालिक ताला बंद कर कहीं निकल गया हो और जिसे करुणापूर्वक कोई एक कौर कोई दो कौर दे रहा हो।" त्रिलोचन ने कहा, ओझा जी को आपने ही कुंजी दे जाने को कहा। यहाँ-वहाँ खाने की बात पर बोले, "मैं होता तो देने पर भी किसी के यहाँ नहीं खाता।" नामवर ने कहा, "आप को क्या? आप तो दस दिन बिना खाए रह सकते हैं।" (10 अगस्त

1950) को नामवर सिंह के यहाँ पहुँचे तो उनसे मक्का खिलाने को कहा। "उन्होंने पैसे देकर मँगाया। सोचता हूँ, आदत बिगड़ रही है, जो जी में आ जाय वही चीज माँगने की बात प्रकृति की न दिखानी चाहिए। सब की परिस्थितियों में कुछ न कुछ कठिनाई अवश्य रहती है।" (13 सितंबर)1950) को त्रिलोचन ने नामवर से 'मिलन यामिनी' माँगी। "उन्होंने देने से इनकार किया। नामवर या तो दूसरों की मनोवृत्ति का ख्याल नहीं करना चाहते अथवा बेकार समझते हैं।"

बहुत निकट के संबंधों में स्वभाव अलग अलग-होने पर ऐसी हूँ-टूँ लगी रहती है लेकिन संबंध बने रहते हैं। अगले दिन त्रिलोचन का चांद्रमास के अनुसार जन्मदिन भाद्रपद शुक्ल) था। उस दिन (तृतीया'नामवर से दो आना लेकर गुड़ लाए और उसी से सबने रोटियाँ खाईं। (14 सितंबर 1953) 1953 में साहित्यिक संघ के अध्यक्ष पद से त्रिलोचन ने जो भाषण किया, देवेन्द्र सत्यार्थी और उदय नारायण तिवारी ने उसकी प्रशंसा की लेकिन नामवर ने उसका मजाक उड़ाया। (14 फरवरी 1953) की डायरी में त्रिलोचन ने लिखा, "बात नहीं आती तो नामवर में छोटापन आ जाता है।" नामवर ने कहा कि "अपने भाषण द्वारा आप ने स्वयं को टीचर सिद्ध कर दिया। 'समझे' और 'असल बात यह है' की भरमार थी।" स्वभावतः इस पर लोग हँसे। फिर उन्होंने दूसरा अस्त्र चलाया, " 'माया' में इधर अज्ञेय की कुछ कहानियाँ निकली हैं। शास्त्री जी प्रशंसा करते नहीं थकते। अभी इलाहाबाद गया था, वहाँ मालूम हुआ कि मुस्तफी के माँगने पर अज्ञेय ने लिखना मंजूर न किया तो उसने बदला लेने के विचार से कहानियाँ लिखकर अज्ञेय के नाम से छापनी शुरू कर दी हैं। क्यों शास्त्री जी?" त्रिलोचन ने स्पष्ट किया, "उनमें से कोई कहानी मैं पढ़ नहीं पाया। केदारनाथ सिंह कैसा समझते हैं, यही मैंने कहा था। मैं नाम नहीं, रचना देखता हूँ। अच्छी चीज को बुरा कहना मेरा स्वभाव नहीं।" इस पर लोग हँसे। नामवर ने कहा, "घबराइए मत। यह तो मैंने यों ही कहा था। रचनाएँ अज्ञेय की ही हैं। अब आप प्रशंसा कर सकते हैं।" लोग फिर हँसे। त्रिलोचन ने गंभीरता से कहा, "बिना देखे रचना को मैं उत्तम मध्यम नहीं कहा करता पर एक बातअज्ञेय की बराबरी करने वाला हिंदी में आज - कोई"त्रिलोचन को नामवर में ओछापन दिखाई दिया तो नामवर को त्रिलोचन में 'सेन्स ऑफ ह्यूमर' की कमी। केदारनाथ ने त्रिलोचन को बताया कि इससे नामवर जी नाराज हैं क्योंकि यह बात उन्होंने कही ही नहीं।

त्रिलोचन ने नामवर से संबंध तोड़ने का निश्चय किया। उन्हें केदारनाथ सिंह, सूर्यप्रताप और पत्नी ने ऐसा करने से मना किया।(5 मार्च 1953) छह दिनों बाद कुछ पश्चात्ताप हुआ, आत्म समीक्षा की करनी चाहिए। दोषों की तुलना में गुण अधिक हैं। लोगों से नामवर के गुणों की ही चर्चा - अप्रैल को शिरीष का फूल लेकर नामवर से मिले। संबंध फिर मधुर हो गए। मैत्री के तंतु इतने मजबूत थे कि कभी टूटे नहीं तो इसमें दोनों का प्रीतियोगं परस्परम्योग था।

नामवर ने ही त्रिलोचन को बताया था कि आचार्य केशवप्रसाद मिश्र "बीर" का अर्थ बड़ी अवस्था वाली सखी बताते हैं और 'भटू' का छोटी अवस्था वाली सखी। हजारी प्रसाद द्विवेदी से त्रिलोचन को जोड़ने वाला सूत्र भी नामवर सिंह से होकर गुजरता था। द्विवेदी जी की कई बातें उनको नामवर के ही जरिए मालूम होती थीं। 15 मई 1951 की टिप्पणी से पता चलता है कि द्विवेदी जी ने नामवर को नौकरी की चिंता छोड़कर रिसर्च करने की राय दी। वे उन्हें कमच्छा नहीं, सीधे विश्वविद्यालय में लाना चाहते हैं। द्विवेदी जी ने त्रिलोचन को एक ट्यूशन दिलाया था। नामवर के साथ वे द्विवेदी जी से मिलने जाते थे। 5 जून 1951 को त्रिलोचन उनके साथ संकटमोचन गए। द्विवेदी जी ने अपने आरंभिक दिनों के संस्मरण सुनाए। त्रिलोचन ने उनके आगरे और दिल्ली के भाषणों का जिक्र किया। नामवर जी नव संस्कृति संघ के साथ साथ साहित्यिक संघ के भी मंत्री बनाए गए थे।-9 अप्रैल 1953 को राहुल जी पर आयोजित सरस्वती प्रेस की गोष्ठी के सभापति पद से द्विवेदी जी ने भाषण दिया। त्रिलोचन ने उसकी प्रशंसा की है। 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग'- नामवर जी ने इस पुस्तक में बहुतइस तरह की बातें उड़ाई जा रही -सी सामग्री रामसिंह तोमर की थीसिस से ली है- ने त्रिलोचन को बताया कि थीं। केदारनाथ सिंह"शिवप्रसाद सिंह ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास और नामवर के 'अपभ्रंश का योग' में हूबहू अनेक वाक्य ढूँढ़ निकाले हैं। द्विवेदी ने शिव प्रसाद से कहा कि लोग नामवर पर अपहरण का दोष व्यर्थ लगाते हैं। उन्हें मालूम नहीं कि तोमर राम सिंह और नामवर सिंह दोनों का उद्गम स्रोत मैं हूँ।" (8 मार्च 1953)

3.3.6 सॉनेट :-

सॉनेट हिन्दी साहित्य में कविता की परम्परा में नहीं रहा है। इसका मूलस्थान इटली माना गया है। १३ शताब्दी में मनिट का प्रयोग इटली के महान कवि 'पेट्रार्क' ने अपनी प्रेमिका के लिए किया था।

कुछ विद्वान इसका प्रथम प्रयोक्ता 'दति' को स्वीकार करते हैं। सॉनेट का शब्दार्थ है-शोकगीत। भारत के पहले सॉनेट कवि माइकल मधुसूदन दत हैं। इनके पश्चात् सत्येन्द्रनाथ दत्त नाम का कवि हुआ है। यह नाम हिन्दी वालों को कम मालूम है। दत्त सॉनेट राइटिंग में बहुत ही अच्छा है। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सॉनेट भी हैं-'एक मानुषी' में नारी पर उन्होंने लिखा है-

"शुभ विधतर सृष्टि नां तुमि नारी
पुरुष गोडेछे तोमाय सौंदय-संचारी।"[114]

सॉनेट का सम्बन्ध उसके आकार-प्रकार से अधिक उसकी मनःस्थिति पर निर्भर करता है। निकल्स महोदय ने अपनी पुस्तक 'द स्पीकिंग ऑफ पोएट्री' में इसे कवि का स्वगत संभाषण कहा है। सॉनेट में चिन्तन-मनन तथा नियन्त्रण की प्रवृत्ति होती है। १४ पंक्तियों में कसी-सधी तथा अनुशासन में बंधी यह 'लिरिक' के समान है। सॉनेटकार अपनी प्रत्येक पंक्ति को निश्चित मात्रा एवं छन्दों के अनुसार रचता है। पाश्चात्य विद्वान 'बेनसन' ने भी सॉनेट की विस्तार से चर्चा की है। सॉनेट हीरे के समान साफ होना चाहिए ताकि उसमें से रूप का दिल और दिमाग दिखे एवं दिक्कत का कोई भी दाग न दिखे। कथ्य-कथन दोनों ऐसे हों जिनका अहसास हो। अतः स्पष्ट है- "सॉनेट को साफ हीरे-सा होना होता है, ताकि उसमें रूप का दिल दिखे, दिमाग़ दिखे, दिक्क़त का कोई दाग न दिखे-कथ्य-कथन (कंटेंट-क्राफ्ट) दोनों दृष्टियों से जो ऐसा हो इसका अहसास हो।"[115]

त्रिलोचन सॉनेट के कवि माने जाते हैं। सॉनेट से उन्हें ख्याति मिली है और आलोचना भी कई लोग चकित है कि एक विजातीय छन्द में जातीय मन या भारतीय मन की कविता कैसे सम्भव हुई है? "आश्चर्य तो यह है कि जो लोग सॉनेट की अभारतीयता पर अँगुली उठाते हैं वे उपन्यास और कहानी के बारे में ऐसे सवाल नहीं करते, जबकि ये विधाएँ भी आधुनिक रूप में पश्चिम की देन हैं। अगर आज कोई सिनेमा को विदेशी कहकर उसकी आलोचना करें तो लोग क्या कहेंगे? लेकिन इन सबके साथ हो त्रिलोचन के सॉनेट की शक्ति और सौन्दर्य को सराहने वाले भी हैं। रेणु को सॉनेट के कवि त्रिलोचन 'शब्द योगी' लगते हैं और केदारनाथ अग्रवाल को 'शब्द साधक' शमशेर उनकी सहजता पर फिदा है।"[116]

आधुनिक काल में सॉनेट जैसे छन्द की रचना करके त्रिलोचन ने विश्व साहित्य के अपने ज्ञान का परिचय दिया। सॉनेट पर उनका अदभुत एकाधिकार दिखाई देता है। इसीलिए सॉनेट और

त्रिलोचन एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं एवं सॉनेट त्रिलोचन का परिचय बन गया है। हिन्दी साहित्य में सॉनेट के प्रथम समर्थ कवि के रूप में अब उनको विशिष्ट पहचान बन चुकी है। हालांकि त्रिलोचन जी के अतिरिक्त कई अन्य कवियों ने भी इस क्षेत्र में काफी प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, रामविलास शर्मा, बालकृष्ण राव, शंभुनाथ सिंह और प्रभाकर माचवे के नाम लिये जा सकते हैं। त्रिलोचन ने एक विदेशी विधा को बड़े ही अनूठे कौशल के साथ हिन्दी में लाकर प्रगतिशील कविता को ऐतिहासिक महत्व प्रदान कराया। अतः सॉनेट त्रिलोचन का एक अभिनव प्रयोग कहा जा सकता है। उनके सॉनेट अपनी बनावट में पहले के सॉनेटों से भिन्न नहीं है। ये चौदह पंक्तियों में हो लिखे गये हैं।

त्रिलोचन से कवि दिविक रमेश ने एक प्रश्न किया था-"सॉनेट क्षेत्रान्तर्गत आपका विशेष योगदान माना जाता है। कहा भी गया है कि सॉनेट और त्रिलोचन हिन्दी में पर्याय मन गए हैं। मेरा इस सन्दर्भ में पहला सवाल तो यही है कि ठेठ देशी कवि को इस पश्चिमी छंद ने कैसे इतना अधिक मोहित किया ?"[117] इसके उत्तर में त्रिलोचन कहते हैं- "सॉनेट मैने ख़ास पढ़ा, और भी रूप पढ़े। रवीन्द्रनाथ ने भी लिखे हैं। मधुसूदन दत्त में नवीनताबोध पहले मिलता है। फैशन के तौर पर मैंने इसे नहीं अपनाया। अनुकूल जान पड़ा था। सॉनेट को मराठी में 'सुनीत' कहते हैं। 'सोन' माने ध्वनि होता है। यह छन्द का नहीं अनुशासन का नाम है। सॉनेट में आन्तरिक संघटन जरूरी है। सभी ने 14 पंक्तियों के सॉनेट लिखे हैं, केवल मिल्टन ने 18 पंक्तियों के भी एक सॉनेट लिखे हैं। इंग्लैण्ड में वायट् ने सबसे पहले सॉनेट लिखे। ये इंग्लिश के अनुकूल थे। इनका विभाजन 4 + 4 + 4 + 2 के रूप में था। वायट् की कविता ऊँची नहीं थी, इसलिए उनका नाम केवल इतिहास में रह गया। शेक्सपीयर छा गये थे। माचवे ने 15-20 छन्दों में सॉनेट लिखे हैं।"[118]

'दिगंत' कवि का प्रथम सॉनेट-संग्रह है, जो उसकी ही नहीं अपितु हिन्दी-साहित्य में वर्तमान हिन्दी कविता की भी एक बड़ी उपलब्धि है। साहित्य में प्रायः उपलब्धियों की इतनी अधिक बात की जाती है कि खरे और खोटे की पहचान भी मुश्किल हो जाती है। त्रिलोचन के सॉनेटों में जीवन को मार्मिक अनुभूति के साथ-साथ ऐसा क्लासिक निखार है, जो आधुनिक कवियों में कम ही मिलता है।

आधुनिक हिन्दी कविता के सशक्त हस्ताक्षर, लोक सौन्दर्य और संवेदना के तथा जनपद के समर्थ कवि, शब्द साधक, अनूठे सॉनेट शिल्पी त्रिलोचन अपने जीते जी ही किवंदति पुरुष बन गये

थे। त्रिलोचन के 17 कविता संग्रह प्रकाशित हुए, उन्होंने गीत, ग़ज़ल कुंडलियों, सॉनेट, मुक्त छंद एवं गद्य कविताएँ लिखीं, लेकिन त्रिलोचन को सॉनेट से अपार ख्याति मिली और वे सॉनेट के ही पर्याय बन गये। चौड़ी छाती और सादगी भरा लिबास छोटी किन्तु ज्ञान के तेज से दिपदिपाती आँखें, गाँव के एक कर्मठ जन या खेतिहर कृषक जैसा रंग-रूप। जीवन संघर्षो के ताप में तपकर उनका व्यक्तित्व निखरा है। त्रिलोचन जितने कोमल, उदार और संवेदनशील थे उतने ही फौलाद की तरह दृढ़ भी थे। अभाव, गरीबी, कष्ट और सांसारिक आघातों से वे हिले नहीं न ही इन विषम परिस्थितियों में उन्होंने समझौते किये। उन्होंने 'ताप के ताये हुए दिन' संग्रह की एक कविता अंतर्गत कहा है-

"हार नहीं मैं जीते जी मानूँगा
और लडूंगा उत्पातों में।"[119]

त्रिलोचन ने सीधे-सीधे प्रचलित अर्थ वाली राजनीतिक कविताएँ नहीं लिखी पर उनके काव्यान्तर्गत गहरी राजनीतिक समझ मिलती है। त्रिलोचन ने स्वयं कहा हैं कि मेरी काव्यान्तर्गत यदि राजनीति की पड़ताल करनी है, जो उन्हें क्रियाओं में खोजा जाना चाहिए संज्ञापदों में नहीं। उनकी कविता में अपने समय और समाज की विडम्बनापूर्ण स्थितियों के यथार्थ चित्र है। 1953 महाकुंभ की त्रासदी पर त्रिलोचन ने 25 सॉनेट लिखे हैं। इन सॉनेटों को आलोचकों ने महाकाव्य कहा है। त्रिलोचन ने अपने सॉनेट में व्यंग्य को भी स्थान दिया है-

"एक हजार आठ स्वामी जी ने डकार ली
हाथ पेट पर फेरा बोले,
अधिक खा गया,मर्यादा पुरषोत्तम प्रभु का ध्यान आ गया।"[120]

त्रिलोचन के सॉनेट शिल्प की बात करें तो त्रिलोचन ने 1950 के आसपास अपनी कविता के लिये सॉनेट को चुना। " 'सॉनेट' इटैलियन शब्द 'Sonetto' का लघु रूप है। सॉनेट का मूल जन्म स्थान इटली माना जाता है और इसके प्रथम प्रयोक्ता दाँते माने जाते हैं। हिन्दी में सॉनेट अंग्रेजी कविता के प्रभाव में आया है। चौदह पंक्तियों में कसा-सधा और अनुशासित काव्य रूप है। अंग्रेज़ी में सॉनेट के चार प्रकार है-पेट्रार्कियन, 'शेक्सपिरियन स्पेन्सेरियन' एवं 'मिल्टानिक'। त्रिलोचन ने इन सभी प्रकार की रचना पद्धतियों में सॉनेट लिखे हैं।"[121]

" 'दिगंत' में त्रिलोचन ने स्वयं लिखा है-

इधर त्रिलोचन सॉनेट के ही पथ पर दौड़ा,
सॉनेट, सॉनेट, सॉनेट, सॉनेट, क्या कर डाला
यह उसने भी अजब तमाशा मन की माला
गले डाल ली। इस सॉनेट का रास्ता चौड़ा
अधिक नहीं है, कसे कमाए भाव अनूठे
ऐसे आएें जैसे किला आगरा में जो
नग है दिखलाता है. पूरे ताजमहल को
गेय रहे, एकान्विति हो। उसने तो झूठे
ठाटबाट बाँधे है। चीज किराये की है।
स्पँसर, सिडनी, शेक्सपियर मिल्टन की वाणी
वर्डसवर्थ, कीट्स की अनवरत प्रिय कल्याणी
स्वर धारा है, उसने नई चीज क्या दी है।
सॉनेट से मजाक भी उसने खूब किया है,
जहाँ तहाँ कुछ रंग-व्यंग्य का छिड़का दिया है।"[122]

सॉनेट क्या है? इसका इतिहास क्या है और उसमें भावों का कैसा अनुशासन है यह त्रिलोचन ने स्वयं बता दिया है। दिगंत न केवल त्रिलोचन का वरन् हिन्दी का पहला सॉनेट संग्रह है। इस संग्रह के बीस सॉनेट 'पेट्राकी' पद्धति पर लिखे गये हैं। जिसमें आठ पंक्तियों के बाद छह पंक्तियों का तुक विधान तथा उनके बीच विभाजन व विराम मिलता है। उनके दूसरे सॉनेट संग्रह 'शब्द' में एक सौ सोलह सॉनेट पेट्राकी पद्धति पर रखे गये हैं। इनमें तीन चतुष्पदी और एक द्विपदी वाला रूप-विधान है जो 'शेक्सपीरियन सॉनेट' से भिन्न है। इस नवीन तुक-विधान को त्रिलोचन की विशिष्टता के रूप में देखा जाता है। 'उस जनपद का कवि हूँ' संग्रह के सॉनेट भी शेक्सपीरियन पद्धति के सानेट है। जैसे-

"सब की बोली-ठोली, लाग-लपेट, टेक,
भाषा, मुहावराभाव, आचरण, इंगित, विशेषता,
फिर भोली-भूली इच्छाए. इतिहास विश्व का बिखरा।"[123]

" 'शेक्सपीरियन सॉनेट' की रचना पद्धति का पूर्ण निर्वाह करने वाले इस सॉनेट में केवल तीन वाक्य है। तीसरा वाक्य दस पंक्तियों तक फैला है। पक्तियों के अंत में तुक है किन्तु वाक्य का प्रवाह नहीं रूकता। त्रिलोचन ने स्पेंसर के सॉनटों की भांति सॉनेट लिखे हैं। इनमें तुक योजना इस प्रकार है ग म गम ग म स-स र स र प प।"[124]

'दिगंत' के कुछ सॉनेट के बाद 'अरघान' में संकलित 'महाकुंभ' (1953) सम्बंधी पच्चीस सॉनेट में से अधिकांश स्पेंसरियन सॉनेट के जटिल तुक विधान पर आधारित है। 1953 के महाकुंभ की भीषण मानव-त्रासदी का बयान करने वाले इस सॉनेट मैं जटिल तक विधान है।

"बिजली के खंभे पर, आई बुद्धि, जा चढ़ा।
उस को देखो। भीड़ ठाँब पर झूम रही है।
बँधे हुए हाथ-सी, ऊँचे बाँध से बढ़ा
एक हुलुक्का, एक दरेरा, घूम रही है
भीड़-भीड़ पर दूसरी रूम रही है।
अस्फुट अगणित कंठों की उठ ध्वनि धारा
महाकाश में मँडराती है. बूम रही है।"[125]

ये पक्तियाँ 'सॉनेट के रूप-विधान' पर त्रिलोचन के असाधारण रूप विधान को प्रदर्शित करती है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा हैं - " 'भीड़' के वर्णन के लिये शायद ही अंग्रेजी के किसी कवि ने सॉनेट का उपयोग किया हो। त्रिलोचन के लिये सॉनेट एक ऐसा कुर्ता है, जो हर मौसम में पहना जा सकता है। 'यति' का स्थान ऐसे बदलते हैं मानों 'मुक्त छंद' लिख रहे हो। त्रिलोचन ने सॉनेट के लिये प्रायः 'रोला छंद' का प्रयोग किया है। उनके अनुसार 'रोला' हमारे देश का नेशनल मीटर है। जैसे, अयैबिक मीटर है इंग्लैंड का, हेक्जा मीटर है फांस का और सेप्टा मीटर है इटली का। रोला में 24 मात्राएँ होती हैं। 11 एवं 13 मात्रा का विराम माना गया लेकिन मैंने 'यति' के इस नियम का पालन नहीं किया है यानी 24 मात्राएँ तो हैं, पर 'यति' का स्थान प्रायः अनिश्चित या अनियमित रहता है।"[126]

राजेश जोशी कहते हैं कि " 'रोला' एक जन-छंद रहा है। राज्याश्रय प्राप्त कवियों ने इसका प्रयोग तकरीबन नहीं किया है। अभिजात रुचियों वाले कवियों ने इसे जगह नहीं दी। रोला का चयन ही कहीं गहरे में त्रिलोचन की आमजन के प्रति पक्षधरता को उजागर करता है। रोला को भी उन्होंने

ज्यों का त्यों नहीं अपनाया है। रोला के ऊपर सॉनेट का अनुशासन कायम रखते हुए वे उसकी पारंपरिक सहज गेयता को एक तरह से भंग करते हैं। त्रिलोचन वाक्य बड़ा बनाते हैं जो सॉनेट की दूसरी पंक्ति या कभी तीसरी पंक्ति में जाकर समाप्त होता है।"[127] इस प्रकार छंद के अनुशासन में पंक्तियों तो रहती है लेकिन वाक्य नहीं रह पाते और रोला की सरल गेयता काफी हद तक गद्यात्मक लय के नजदीक पहुँचती है। त्रिलोचन रोला छंद को मॉनेट में डालकर वे अपनी अलग पहचान बनाते हैं। प्रो. कपिल मुनि तिवारी ने लिखा हैं कि "सॉनेट क्षेत्रान्तर्गत विदेशी कवियों ने जितने अलग-अलग प्रयोग किये उन सभी प्रयोगों को हिन्दी में त्रिलोचन शास्त्री ने अकेले किया। नये तुक-विधान की रचना करके उन्होंने अपनी सृजनात्मक बहुमुखी काव्य-प्रतिभा का पर्याप्त प्रमाण दिया है।"[128] "त्रिलोचन के सोनटों का धरातल विषयम है-ऊँचा-सनीचा उनमें सूक्तियाँ उपदेशात्मकता और सपाटबयानी भी है। पूरा वाक्य लिखने का हठ उनकी कविता को इतिवृत्तात्मक बना देता है।"[129] त्रिलोचन ने सॉनेट के अतिरिक्त ग़ज़ल और रूबाइयाँ भी लिखी हैं, जो उनके संग्रह 'गुलाब और बुलबुल' में संकलित हैं। 'अमोला' संग्रह में उन्होंने बरवै छंद का प्रयोग किया है। 19 मात्राओं वाले इस छंद में 12 एवं 7 मात्रा के बीच 'यति' होती है। इस छंद का प्रयोग तुलसी ने किया और त्रिलोचन ने किया। तुलसी बाबा से ही त्रिलोचन के लोक जीवन, लोकतत्व की पहचान करने का गुण सीखा। लोक में प्रचलित शब्द, पद और मुहावरों के प्रयोग की अनूठी क्षमता से युक्त जनपदीय भाषा विकसित की। त्रिलोचन ने लिखा हैं कि-"यह तो सदा कामना थी, इस तरह से लिखूँ। जिस पर लिखूँ वहीं यों अपने स्वर में बोले, इसलिये उनकी कविता 'चंपा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती' में स्वयं अपनी बोली-ठोली में अपने लहजे में बात करती है। उनका नगई महरा या परदेशी की नाम पत्र लिखने वाली पत्नी,अपनी भाषा में परदेशी मजदूर को पत्र लिखती है। पत्र का प्रारंभ सोसती सिरी सर्व उपमाजोग बाबूरामदास से होता है।"[130] 'बछिया कोराती है। यहाँ जो तुम होते देखो कब ब्याती है।' इस पूरी कविता में गाँव की बोली, भाषा, मुहावरें और इंगित का प्रयोग करके त्रिलोचन ने परदेशी की पत्नी के मनोभावों को स्पष्ट किया है। उनकी कविता में वे शब्द हैं जो लोक जीवन में धड़क रहे हैं। जीवन में जुड़े ताजे-टटके भाषा रूपों का प्रयोग किया है जैसे - 'हारे गाढ़े काम सरेगा', 'प्राप्त सुखों पर कोई दीठ गड़ा दे', 'कलकत्ते पर बजर गिरे', या 'बच्ची गोहन लगुई थी', 'मैंने इस घर में टुन्न-पुन्न नहीं देखी' इस तरह की शब्द प्रयोग त्रिलोचन ने हिन्दी को प्रचलित काव्य भाषा में अलग एकदम नई भाषा

प्रदान की है। त्रिलोचन की कविता में संस्कृतनिष्ठ शब्द भी आये हैं कहीं-कहीं उनकी भाषा वैदिक ऋषियों की भाँति हो जाती है और कभी काव्यभाषा निराला के करीब भी पहुँची है। त्रिलोचन शब्दों को नई चमक और नया जीवन देते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु ने उन्हें शब्द योगी और केदारनाथ अग्रवाल ने उन्हें शब्द साधक कहा है। चित्रात्मकता त्रिलोचन की भाषा की बड़ी खासियत है। रूप, रस-गंध-स्पर्श और ध्वनि के अपने तीव्र बोध के साथ जीवन और जगत् के नैसर्गिक सौन्दर्य के चित्र त्रिलोचन शास्त्री की कविता है। जन-जीवन के अंतरंग जीवन अनुभवों को वाणी देने वाले मानवीय प्रेम, संघर्ष और जीवन मूल्यों और हमारी जातीय चेतना के कवि त्रिलोचन सचमुच शब्द-साधक हैं और अनूठे सॉनेट शिल्पी है।

****

संदर्भ संकेत :-

1. डॉ. अनवकीर्ती तिवारी, समकालीन प्रतिनिधि कवि, पृ.91

2. शमशेर बहादुर सिंह, मेरे कुछ आधुनिक कवि, पृ. 88

3. वही, पृ. 89

4. वही, पृ. 89

5. त्रिलोचन, दिगंत-1957, पृ 29

6. वही, पृ. 29

7. शमशेर बहादुर सिंह, मेरे कुछ आधुनिक कवि, स्थापना 7, सितंबर 1970, पृ. 88

8. त्रिलोचन शास्त्री, डायरी के पृष्ठ, घरावल-5, सितंबर 1978, पृ. 51

9. त्रिलोचन शास्त्री, डायरी के पृष्ठ, घरावल-5, जून 1979, पृ.44

10. त्रिलोचन शास्त्री, उस जनपद का कवि हूँ- 1981, पृ. 42

11. स्मारिका, महत्व त्रिलोचन, 5-6 जून 1982, पृ.4

12. विश्वनाथ मुखरजी, शास्त्रीजी मेरी नजरों में, स्थापना-6 अगस्त 1970, पृ. 84

13. स्मारिका, महत्व त्रिलोचन, 5-6, जून 1982, पृ.7

14. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ. 88-89

15. शमशेर जी का मौखिक संस्मरण, 10 जनवरी 1983, पृ.4

16. लक्ष्मीशंकर श्रेष्ठ, त्रिलोचन-दृष्टिदोष के चश्मे से, स्थापना 6 अगस्त 1970, पृ. 72

17. शिवप्रसाद सिंह, पौधा निर्वाक खड़ा है, स्थापना-6 अगस्त 1970, पृ. 86

18. नंदकिशोर नवल, बनारस की डायरी, स्थापना 7, पृ. 42

19. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ- 1981, पृ. 11

20. वही, पृ. 11

21. विश्वनाथ मुखरजी, शास्त्रीजी मेरी नजरों में, स्थापना-6 अगस्त 1970, पृ. 82

22. शिवप्रसाद सिंह, पौधा निर्वाक खड़ा है, स्थापना-6 अगस्त 1970, पृ. 89

23. वही, पृ. 89

24. विवरणिका, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जून-1981, पृ. 4

25. शिवप्रसाद सिंह, पौधा निर्वाक खड़ा है, स्थापना-6 अगस्त 1970, पृ. 89

26. उमेशचन्द्र मिश्र, प्रगतिवादी काव्य-1966, पृ. 248

27. डॉ. रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, स्थापना-8, पृ. 85

28. फणीश्वरनाथ रेणु, अपने-अपने त्रिलोचन, स्थापना-7, पृ 26

29. डॉ. रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, स्थापना-8, पृ. 85

30. डॉ. कृष्णलाल हंस, प्रगतिवादी काव्य साहित्य-1971, पृ. 49

31. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ. 18

32. नेमीचन्द्र जैन द्वारा संपादित 'मुक्तिबोध रचनावली-भाग 5', पृ.375

33. ओम भारती, 'जीवनसंघर्ष एवं जीवन सौन्दर्य के कवि त्रिलोचन', पृ. 4

34. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ. 20

35. रामेश्वर शर्मा, राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य, पृ. 121

36. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ. 84

37. नेमीचन्द्र जैन द्वारा संपादित 'मुक्तिबोध रचनावली-भाग 5', पृ. 231

38. वही, पृ. 12

39. वही, पृ. 14

40. उमेश चन्द्र मिश्र, 'प्रगतिवादी काव्य-1966, पृ. 249

41. त्रिलोचन, दिगंत-1957, पृ. 25

42. त्रिलोचन, 'कुछ शब्द', 'ताप के ताये हुए दिन', पृ. 9

43. ओम भारती, 'प्रेम, प्रकृति और पीड़ा का कवि त्रिलोचन, पृ. 7

44. त्रिलोचन 'कुछ शब्द', ताप के ताये हुए दिन, पृ. 9

45. परमानंद श्रीवास्तव, 'ताप के ताये हुए दिन' (त्रिलोचन), पृ. 54

46. त्रिलोचन, अरधान-1984, पृ. 26

47. वही, पृ. 123

48. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 8

49. वही, पृ. 88

50. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 20-21
51. त्रिलोचन, फूल नाम है एक, पृ. 7
52. वही, पृ. 48
53. वही, पृ. 77
54. वही, पृ. 103
55. वही, पृ. 68
56. वही, पृ. 52
57. वही, पृ. 64
58. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, पृ. 71
59. वही, पृ. 77
60. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश, पृ. 15
61. त्रिलोचन, चैती-1987, पृ.13
62. वही, पृ. 27
63. वही, पृ. 33
64. वही, पृ. 35
65. विश्वनाथ त्रिपाठी, अमोला, आवरण लेख, पृ. 2
66. त्रिलोचन, अमोला-1990, पृ.27
67. भारतीय साहित्य के निर्माता 'त्रिलोचन' (रेवतीरमण) 'साहित्य अकादमी' (पुनर्मुद्रण 2014 एवं 16) पृ. 105
68. वही, पृ. 105
69. कवि त्रिलोचन, डॉ.अजीत प्रियदर्शी, प्रथम संस्करण-2012, पृ. 81
70. वही, पृ. 81
71. सं.ध्रुव शुक्ल, त्रिलोचन संचयिता, पृ. 124
72. वही, पृ. 126
73. वही, पृ. 129

74. वही, पृ. 132

75. वही, पृ. 134

76. वही, पृ. 137

77. भारतीय साहित्य के निर्माता त्रिलोचन (रेवतीरमण), पृ. 110

78. गोविन्द प्रसाद, त्रिलोचन के बारे में, पृ. 22

79. डॉ. प्रभाकर क्षत्रिय, कालत्रयी है कविता, पृ. 119

80. सं.ध्रुव शुक्ल, त्रिलोचन संचयिता,'आँसू बाँधे है मैंने गठरिया में'(सबका अपना आकाश-1962), पृ. 395

81. वही, पृ. 395

82. वही, पृ. 217

83. डॉ. प्रताप सिंह, त्रिलोचन का काव्यलोक, पृ. 32

84. वही, पृ. 35

85. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश(1948), पृ. 17

86. डॉ. प्रताप सिंह, त्रिलोचन का काव्यलोक, पृ. 76

87. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश(1948), पृ. 19

88. डॉ. प्रताप सिंह, त्रिलोचन का काव्यलोक, पृ. 76

89. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ. 39

90. डॉ. प्रभाकर श्रत्रिय, 'कालत्रयी है कविता', पृ.119

91. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ.118

92. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश (1948), पृ. 55

93. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ.87

94. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश (1948), पृ.-13

95. त्रिलोचन, धरती-1977, पृ.30

96. ओमप्रकाश सिंह (सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली - 3, पृ. 104-105

97. दुष्यंत कुमार, 'साये में धूप', पृ. 13

98. शमशेर बहादुर सिंह, रंजना अरगड़े (सं.) 'सुकून की तलाश', पृ. 43

99. त्रिलोचन, 'गुलाब और बुलबुल', पृ. 28-29

100. दिविक रमेश, नए कवियों के काव्य-शिल्प- सिद्धांत, पृ. 376

101. सं. अवधेश प्रधान, काव्य और अर्थबोध, पृ.50)

102. त्रिलोचन, सर्वनाम (1991), पृ. 21

103. वही, पृ.8

104. वही, पृ.53

105. सं. अवधेश प्रधान, काव्य और अर्थबोध, पृ.79

106. सॉनेट-त्रिलोचन शास्त्री, आवृत्ति-1985, पृ. 89

107. वही, पृ.102

108. वही, पृ. 108

109. वही, पृ.109

110. वही, पृ.123

111. आलोचना, अमन प्रकाशन, दिल्ली, जुलाई-सितंबर-1987, पृ. 7

112. वही, पृ.10

113. वही, पृ. 12

114. वही, 24

115. कमलाकान्त द्विवेदी, दिविक रमेश, साक्षात् त्रिलोचन, पृ.२७-२८

116. संस्थापक-जीवनप्रकाश जोशी, संधान-6, 1983, पृ.10

117. आलोचना, अंक 82, जुलाई-सितम्बर1987, पृ. 26

118. सं.केदारनाथ अग्रवाल, 'प्रतिनिधि कविताएँ', पृ. 42

119. कमलाकान्त द्विवेदी, दिविक रमेश, साक्षात् त्रिलोचन, पृ.149-50

120. सं.राजेश जोशी, 'ताप के ताए हुए दिन', पृ. 28

121. वही, पृ. 33

122. वही, पृ. 109

123. त्रिलोचन-'दिगन्त', पृ.8

124. सं. डॉ. मंजुल उपाध्याय, अथातो काव्य जिज्ञासा, पृ. 104-105

125. अजीत प्रियदर्शी, कवि त्रिलोचन, पृ. 197

126. त्रिलोचन, अरधान, पृ.66

127. अजीत प्रियदर्शी-कवि त्रिलोचन, पृ. 197

128. वही, पृ. 200

129. नंदकिशोर नवल, आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास, पृ. 377

130. अरुण कमल, कविता और समय, पृ. 111

****

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक हिंदी की प्रतिनिधिक कविता में जनवादी चेतना

4.1 भारतेन्दु युगीन काव्य :-

भारतेन्दु युग को हिन्दी कविता का 'पुनर्जागरण' काल तथा जनवादी चेतना काव्य भी कहा जाता है। यही वह काल खंड है, जिसमें प्रवेश करके नवीन जागृति का संदेश हिंदी साहित्य की प्रत्येक विधा में समन्वित हो गया था। प्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु युग को हिंदी काव्य के प्रथम उत्थान की संज्ञा दी है और उसका काल सन् 1850 से 1855 ई. तक स्वीकार किया। इस काल को शुक्ल जी और उनके मण्डल के अन्य कवियों द्वारा सम्पन्न मानते हैं। इस काल के सम्बन्ध में मतभेद भी दिखाई देता है। मिश्रबन्धों ने भारतेन्दु की काल-सीमा सं.1926 से 1945 विक्रम तक, डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने सं. 1925 से 1957 विक्रम तक, डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने सं.1922 से 1957 विक्रम तक और डॉ. रामविलास शर्मा ने सं. 1925 से 1957 विक्रम तक स्वीकार की है। एक विशेष बात ध्यान की है कि भारतेन्दु द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'कविवचन सुधा' का प्रारम्भ भारतेन्दु ने संवत् 1925 वि. में ही किया। अतः भारतेन्दु युग का सूत्रपात भी इसी वर्ष से मानना उचित होगा। भारतेन्दु युग की समाप्ति के लिए भारतेन्दु का निधन वर्ष किसी ने भी स्वीकार नहीं किया अपितु समकालीन कवियों द्वारा रचित कवियों के आधार पर ही इस युग की समाप्ति का वर्ष सं.1957 वि. निश्चित किया जा सकता है। इसके बाद में हिंदी-काव्य में नई प्रवृत्तियों के दर्शन भी होने लगे थे। किंतु यह भी विचारणीय है कि रीतिकाल की समाप्ति और भारतेन्दु युग के प्रारंभ के बीच के काल की रचनाओं को किस श्रेणी में रखा जाएगा? इतिहास का कोई काल सहसा समाप्त नहीं हो जाता। प्राय: अगले एक या दो दशकों तक पूर्व युग की प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में चलती रहती हैं। इसी प्रकार नए युग का प्रारम्भ भी किसी निश्चित तिथि, मास या वर्ष से नहीं हो जाता, वह दस-बीस वर्ष पहले से ही पूर्व में अपनी झलक दिखाने लग जाता है। इसीलिए संवत् 1900 से 1925 वि. तक का काव्य न तो पूर्णतः रीतिकाल के अंतर्गत आता है और न आधुनिक काल की पुनर्जागरण की

प्रवृत्तियों को ही ध्वनित करता है। अतः यह पच्चीस वर्षों का साहित्य भारतेन्दु युग की पृष्ठभूमि के रूप में लिया जा सकता है।

भारतेन्दुयुगीन साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "भारतेन्दु का पूर्ववर्ती साहित्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसी के दरबार में पहुँच गया था। जिन संतों और महात्माओं ने काव्य में मनुष्य को देवता बनाने की शक्ति संचारित की थी, उनके चेलों ने उनके नाम पर सम्प्रदाय स्थापित किए, काव्य को देवता बनाने की शक्ति लुप्त हो गई। उनकी सांप्रदायिक, अद्भुत व्याख्याएं शुरू हो गई और दूसरी और कवियों की दुनिया राजदरबारी की ओर खिंच गई। भारतेन्दु ने कविता को इन दोनों ही प्रकार की अधोगातियों के पंथ से उबारा। उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मंदाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोकजीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया। नाटकों में तो उन्होंने युगांतर उपस्थित कर दिया।"[1]

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रभूत साहित्य रचा एवं अनेक साहित्यकारों को अपनी प्रतिभा से प्रभावित एवं प्रेरित किया। इन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी एवं रायकृष्णदास प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। यही भारतेन्दु का समकालीन एवं सहयोगी साहित्यकार मण्डल 'भारतेन्दु मण्डल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी साहित्य में यह समय भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885), बाबा सुमेर सिंह , बदरी नारायण प्रेमघन (1855-1923), प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894), राधाकृष्ण दास (1865-1907), अम्बिका दत्त व्यास (1858-1900) और ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899) इस युग के प्रमुख कवि हैं। अन्य कवियों में रामकृष्ण वर्मा, श्री निवासदास, लाला सीताराम, राय देवी प्रसाद, बालमुकुन्द गुप्त, नवनीत चौबे आदि हैं।

"भारतेन्दु युग मुख्यतः दो संस्कृतियों की टकराहट का काल है, जिसमें "एक और मध्ययुगीन दरबारी संस्कृति विद्यमान थी तो दूसरी और आम जनता में सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिए वातावरण भी तैयार करना था। साहित्य में, देश में बढ़ते असंतोष को प्रकट करना भर न था अपितु सदियों से चले आते समाज की हड़ियों में बसे हुए सामंती विकारों से भी मोर्चा लेना था।"[2]

इसलिए अंग्रेजी राज्य के स्वरूप की पहचान एवं राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य के साथ-साथ भारतेन्दुयुगीन नवजागरण के मूलतत्व में सामंतवाद एवं सामाज्यवाद विरोधी दृष्टि, जनसंस्कृति से लगाव, राष्ट्रीयता की अवधारणा का सूत्रपात साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र समझना तथा अध्यात्म एवं रहस्य का विरोध विद्यमान है।

भारतेन्दुयुगीन कविता अंतर्विरोधी मूल्यों से ग्रस्त साहित्य की कविता है, जो सामाजिक संरचना के भीतर से आया है। तत्कालीन परिस्थितियों में भारत जहाँ परतंत्र था वहीं साहित्यिक स्तर पर ब्रजभाषा की काव्य-परंपरा अपने चरम पर विद्यमान थी। यद्यपि काव्य-रचना में भारतेन्दु युग परंपरा को स्थान देता है परन्तु धीरे-धीरे परंपरा का स्थान नवीनता ले लेता है। भारतेन्दु ने जहाँ 'चिर जीवो विक्टोरिया रानी' लिखी वहीं राधाचरण गोस्वामी ने 'हमारो उत्तम भारत देश' कविता लिखकर राष्ट्रीय गौरव को जाग्रत किया। यही अंतर्विरोध इस साहित्य में अनेक स्तरों पर फलीभूत हुआ है, जैसे- राजभक्ति-राष्ट्रभक्ति, परम्परा-नवीनता, भक्ति-श्रृंगार बनाम जन-समस्या, जनचेतना तथा बृजभाषा बनाम खड़ी बोली का अंतर्विरोध शामिल रहा हैं। उदा.

"'भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि हाँस के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन मैं अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहि अंग्रेज।"[3]

1878 ई. तक राष्ट्र-प्रेम संबंधी काव्य के प्रकाशन में वृद्धि देखकर अंग्रेज सरकार ने वर्नाकुलर प्रेस एक्ट पारित करके एक प्रकार से साहित्य प्रकाशन पर पाबंदी लगा दी थी। देश व्यापी विद्रोह होने के कारण 1882 में इस एक्ट को रद्द कर दिया गया। लेकिन 1878 ई. में ही भारतीय शस्त्र एक्ट बनाया गया, जिसके द्वारा भारतीयों को शस्त्र रखने की आजादी ख़त्म कर दी गई। इसलिए भारतेन्दु समेत लगभग सभी रचनाकारों ने इस भेदभाव पूर्ण नीति के विरुद्ध कविताएँ लिखी। स्वयं भारतेन्दु बार-बार प्रजा से अधिक टैक्स वसूलने, विदेशी वस्तुओं के आयात के कारण देश की बढ़ती निर्धनता पर जनवादी क्षोभ प्रकट करते हैं, यथा-

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
धन विदेश प्रति जात इहै अति ख्वारी।"[4]

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखे तो 1874-75 तक की रचनाओं में भारतेन्दु समेत सभी साहित्यकार अंग्रेजी सरकार को न्याय, धर्म तथा दया का अवतार बताते रहे परन्तु विक्टोरिया की

घोषणा के बाद भी जब देश की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ तो उनके मन में क्षोभ पैदा हुआ, उन्हें सहज ज्ञात हो गया कि कोरी राजभक्ति से अब काम नहीं चलेगा, इसलिए अंग्रेजी शासन की आलोचना अतीत पर गर्व वर्तमान पर क्षोभ के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीयता की अवधारणा का सूत्रपात किया। यही वह बिन्दु है जो आधुनिक काल को मध्यकाल से अलगाता है तथा अस्मिता की रक्षा के लिए प्रेरित भी करता है। इसी सन्दर्भ में भारत की कल्पना स्वप्न की काल्पनिक परिकल्पना को तोड़कर सुसुप्त भारतीय मानसिकता को जनवादी चेतना के माध्यम से जागृत करने के लिए किया गया है - "डूबत भारतनाथ जागी में जागी अब,

आलस दब पहि दहन हेतु चाहुँ दिनि सो लागो।"[5]

परम्परागत काव्य में जो 'राधानाथ' बनकर केवल नायिकाओं से छेड़छाड़ करते रहे, उन्हें भारतनाथ बनाने के प्रेरणा भारतेन्दु की पराधीनता के प्रति छटपटाहट एवं तीव्र आक्रोश को व्यक्त करता है। साथ ही मध्यकालीनता एवं आधुनिकता के अन्तर्द्वंद्व को भी 'जागो' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ईश्वरीय शक्ति में आस्था जहाँ मध्ययुगीन वृति है वहीं देश के प्रति आस्था आधुनिक भावबोध का सूचक है। रामविलास शर्मा लिखते हैं- "तुलसीदास ने भक्ति के रूप में भारतीय जनता में जो सहज आत्मसम्मान जगाया था वही नई परिस्थितियों में भारतेन्दु के राष्ट्रीय आत्मसम्मान के रूप में विकसित हुआ।"[6] भारतेन्दु युग के दूसरे बड़े लेखक बालकृष्ण भट्ट भी राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार को सबसे बड़ा धर्म मानते हुए लिखते हैं- "जिस काम को करने से नैशनलिटी हमारे में आये हमको अपनी स्वत्व रक्षा का ज्ञान हो वही मूल धर्म है।"[7]

भारतेन्दु युग की सामाजिक स्थिति एवं साहित्यिक मान्यताओं पर विचार करे तो देश में लेकर विचार तक विदेशी अर्थात् अंग्रेजी के प्रभाव में था। साहित्य बहुत हद तक मन बहलाव या पांडित्य प्रदर्शनका माध्यम भर था। इससे किसी प्रकार के परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती थी। इसलिए यह आवश्यक था कि लोगों के बीच स्वदेशी का भाव जगाया जाए जिसे प्रसारित करने का काम भारतेन्दु युगीन रचनाकारी ने किया इसलिए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा हैं कि "स्वदेशी की भावना और राष्ट्र की धर्म-निरपेक्ष परिकल्पना में भारतेन्दु का चिंतन अग्रगामी कहा जाएगा, वे इस प्रसंग में आधुनिक संविधान को बहुत पहले से पूर्वाशित करते दिखाई देते हैं।"[8]

भविष्य की उज्ज्वलता केवल अपने वर्तमान से मुठभेड़ करके ही अर्जित की जा सकती हैं। भारतेन्दु युगीन साहित्य में एक ओर अतीत के स्वर्णकाल के प्रति गहरा आकर्षण है तो दूसरी ओर वर्तमान से मुठभेड़ की ईमानदारी इस सन्दर्भ में इस युग के रचनाकारों का मूल उद्देश्य उस युग की विवशता का चित्रांकन है, जिससे आगे चलकर सत्याग्रह जैसे आंदोलनों की नींव पड़ी। साथ ही भारतीय काव्यधारा में जन्मभूमि की महता का प्रारंभ तो शुरू से ही मिलता है परन्तु अभी तक यह क्षेत्रीयता की मानसिकता से ऊपर नहीं उठ पाया था। इसलिए इस युग के रचनाकारों ने पहली बार भारतवासी का प्रयोग किया तथा वर्तमान विक्षोम के मूल में दास्ता की बेड़ियों को स्वीकार किया।

उदा.- "कहाँ जाकर करुणानिधि कैसव सोए ?
जागत नाहि कोटि जतन कर भारतवासी रोप।"[9]

भारतेन्दु युगीन पूर्व काव्यों में जिस समाज की अभिव्यक्ति मिलती है वहाँ वैभव और विलास को केन्द्रीयता प्राप्त था। किन्तु जैसे ही इस युग में साहित्यिक अंतर्वस्तु का केन्द्र जनसामान्य से जुड़ता है वह देश-दुर्दशा के कारणों के साथ-साथ मानवता विरोधी संस्थानों को भी प्रकट करता है। यथा-

"भयी है भारत में कैसी होली, सब अनीति गति हो ली,
पी प्रमाद मदिरा अधिकारी, आज शरम सब धो ली।"[10]

इतिहास के प्रति भारतेन्दु युगीन रचनाकारों का मोह रहा है। उनके समय की मूल समस्या यह थी कि आम आदमी के मन में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता का भाव भर गया था। बिना राष्ट्रीय स्वाभिमान के ये समस्याएँ दूर नहीं हो सकती थी इसीलिए इन्होंने अतीत का गुणगान कर ऐतिहासिक महानता एवं आत्मविश्वास के संचार को अभिव्यक्त किया है।उदा. -

"सबसे पहले जेहि ईश्वर धन बल दीनो
सबके पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
...कहाँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युद्धिष्ठिर
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर।"[11]

भारतेन्दु मंडल के सभी लेखक और पत्रकार न तो नास्तिक थे न धर्म को अफीम समझने वाले चिन्तक। कलकता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में लॉर्ड कर्जन ने कहा था कि एशिया का

इतना बड़ा देश अन्धकार में डूबा हुआ है। इनके पास न कोई सभ्यता-संस्कृति है न ही इतिहास और परंपरा यह भालुओं मदारियों और संन्यासियों का देश है। इसीलिए भारतेन्दु मंडल के लगभग रचनाकारों को सुसुप्त भारतीय मानसिकता की प्रतिकार भावना को न केवल जगाने का प्रयत्न किया अपितु रूढ़ि और धर्म के नाम पर गलत रिवाजों का विरोध कर भारतीय स्वत्व बोध, राष्ट्रीय संपदा एवं श्रम शक्ति के शोषण की पहचान तथा विदेशी हुकूमत द्वारा भारतीय जनता के उत्पीड़न तथा जनवादी चेतना को भी रेखांकित किया है। उदा. -

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई,
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।"[12]

चूंकि व्यवस्था का संचालन करनेवाली प्रभु शक्तियाँ अपने मूर्खतापूर्ण फैसलों से हमेशा ही जनसामान्य को छलती रही है। इसलिए इस युग में जनवादी सर्जकों की पैनी नज़र साम्राज्यवादी व्यवस्था की क्रूरता और अमानुषिकता को उद्घाटित कर, जनविरोधी अवरोधों के ध्वंस और परिवर्तनशील प्रक्रिया को दिग्दर्शित करने की है। इसके लिए उन्होंने न्याय व्यवस्था के बौद्धिक दिवालीएपन, राजनीतिक अव्यवस्था एवं बाजारवादी भोग संस्कृति के दुष्परिणामी के खिलाफ जन आकांक्षाओं की भविष्य कल्पना को ब्रिटिश शासन व्यवस्था की खोखली मानसिकता को सूली चढाने के उद्देश्य से शब्दबद्ध किया गया है। उदा. -

"बसिए ऐसे देस नहिं कनक वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइये, प्राण दीजिए रोय ॥"[13]

भारतेन्दु युग के साहित्य की मौलिकता इस बात में है कि वह जनता के लिए रचा जा रहा था सामंतों के मनोरंजन के लिए नहीं। इसलिए जनहित, समाज सुधार, मातृभाषा का उद्धार एवं आर्थिक उत्पीड़न जैसे विषयों की ओर कविता को मोड़ने का काम भारतेन्दु एवं उनके युगीन रचनाकारों ने किया। वे लिखते हैं- "भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गदय साहित्य को देशकाल के अनुसार नए विषयों की ओर लगाया उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नए रूप में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाजसुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए। ...विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भी

बदल चला।"[14] भारतेन्दु युग की जनवादी परंपरा उग्र होती साम्राज्य विरोधी चेतना का दर्पण है। तत्कालीन समाज में अकाल, भूखमरी एवं टैक्सों ने जनता को खुद उसके अनुभव से यह सबक सिखाना शुरु कर दिया था कि अंग्रेज राज का मतलब सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की तबाही है। बिना इस राज से छुटकारा पाए किसी भी तरह की उन्नति संभव नहीं है। उदा. -

"बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल भई कठिन विपत नर नारी को
चहुँ दिसि काल परयो भारत में भय उपज्यो महामारी को।"[15]

भारतेन्दु युग के कवियों ने सामाजिक कुरीतियों को व्यापक स्तर पर देखा था किन्तु उसकी अभिव्यक्ति शासन तंत्र के दवाब के कारण खुले रूप में नहीं की आ सकती थी। इसीलिए उन्होंने हास्य-व्यंग का सहारा लेकर विरोध एवं परिवर्तन की इच्छा को जनजीवन तथा जनचेतना से जोड़ा है।

"चूरन अमलै सब जो खावै, दूनी रिश्वत तुरन्त पचावै।
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।।"[16]

इस संक्रांति युग में कवियों ने इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों की स्मृति एवं अंग्रेजी की विचारधारा से यथेष्ट प्रेरणा भी ग्रहण की परन्तु देश दुर्दशा के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों को भी उन्होंने युग-जीवन से संपृक्त कर प्रस्तुत किया है और इसी सन्दर्भ में सामाजिक यथार्थ को बेबाकी से प्रस्तुत किया है। जैसे –

"तीन बुलावे तेरह आवै। निज निज विपदा रोए सुनावै॥
आँखो फूटे भरा न पेट। क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट॥"[17]

सामंती समाज में स्त्रियों को अधिकारहीन करके उन्हें शिक्षा और संस्कृति से वंचित किया जाता रहा है। लेकिन नवजागरण के परिणामस्वरूप ही इस काल में अनेक सामाजिक संस्थाओं जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, तदीयसमाज, प्रार्थना समाज आदि का निर्माण हुआ और इन्होंने स्त्री-सम्मान को भी क्रन्तिकारी स्वर में अभिव्यक्त किया है। विधवा विवाह के संबंध में प्रताप नारायण मिश्र लिखते हैं-

"विधवा विलपै नित धेनु को, कोऊ लागत हाथ गौहार नहीं।
पट भूषण बँचि भर कर को तबहूँ, लखिए अपार नहीं।"[18]

भाषा राष्ट्रीय-अस्मिता की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम होती है। जहाँ तक भारतेन्दु युगीनभाषिक संरचना का सवाल है तो हम देखते हैं कि इस युग का हृदय जहाँ खड़ी बोली में लिखा जा रहा था। वही पद्य ब्रजभाषा में रीतिकाल में यह मान्यता स्थापित हो गई थी कि ब्रजभाषा को छोड़ किसी अन्य भाषा में कविता हो ही नहीं सकती है। भारतेन्दु युगीन काव्य में खड़ी बोली के सृजनात्मक रूप की शुरुआत कर भारतेन्दु व रचनाकारों ने इस भ्रम को तोड़ा। हालांकि काव्य-संपदा का कम हिस्सा ही खड़ी बोली के रूप में दिखाई पड़ता है परन्तु भाव एवं विचारों के स्तर पर वहाँ नवजागरण के संदेश को मुखरित किया गया है। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' का आदर्श लेकर चलने वाले इस युग के प्रायः रचनाकारों ने बहुभाषा मान को महत्व तो दिया है परन्तु निज भाषा-विकास को ही उन्नति का मूल स्रोत स्वीकार किया है।

"अंग्रेजी पढिके यद्यपि, सब गुण होत परवीण।
पै निज भाषा ज्ञान बिन, रहत हीन के हीन।।"[19]

समग्रतः भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने इसे जनजागरण, जनचेतना तथा जनवाद से जोड़कर एक ओर जहाँ राष्ट्रीयता की अवधारणा का सूत्रपात एवं राजनीतिक जागरण का परिचय दिया। वहीं दूसरी ओर रुढ़ सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों को सुधारने की प्रेरणा देकर सुधारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु युग जनजागरण तथा जनता की चेतना से उपजी ऐसी कालजयी रचनाशीलता का प्रमाणिक दस्तावेज है, जो जनवाद के आत्ममंथन की प्रक्रिया को सामाजिक चेतना एवं परिवर्तन की आकांक्षा से जोड़कर साहित्य को कला के साथ-साथ संघर्षशील जीवन मूल्यों का मूलाधार घोषित करती है तथा भारतीय समाज की शाश्वत समस्याओं पर विहंगम दृष्टिपात कर, उसे अतीत-खोज, वर्तमान समस्याएँ एवं भविष्य निर्माण की भव्य प्रेरणा के परिप्रेक्ष्य में पुनः सृजित करती है तभी तो आधुनिक हिन्दी के विद्रोही कवि निराला ने 1950 में भारतेन्दु जन्मशती उत्सव में भाषण देते हुए कहा था - "मैं उनके दरबार का दरबान मात्र हूँ।"[20] जो व्यक्तित्व किसी के आगे नहीं झुका वह भारतेन्दु के आगे नतमस्तक है। यही भारतेन्दु इसलिए निश्चित तौर पर भारतेन्दु-युग की सार्थकता का प्रमाण है।

4.1.1 भारतेन्दुयुगीन कविता की मुख्य विशेषताएँ:-

इस युग की अधिकांश कविता वस्तुनिष्ठ एवं वर्णनात्मक है। छंद, भाषा एवं अभिव्यंजना पद्धति में प्राचीनता अधिक है, नवीनता कम। खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था किन्तु कविता के क्षेत्र में ब्रज ही सर्वमान्य भाषा रही।

भारतेन्दुयुगीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावना :-

इस काल की कविता की मुख्य प्रवृति देशभक्ति की है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारत का शासन कंपनी के हाथ ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था। जिससे जनता को शांति और सुरक्षा की आशा बँधी। इसलिए कविता में राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। इसमें ब्रिटिश शासकों की गुलामी के साथ-साथ देश की दशा सुधारने की प्राथना भी है। जैसे,

"करहु आज सों राज आप केवल भारत हित,
केवल भारत के हित साधन में दीजे चित।"[21]

इस युग के कवि देश की दयनीय दशा से उत्पन्न क्षोभ के कारण ईश्वर से प्राथना करते हैं-

"कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जानत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।"[22]

तो कहीं-कहीं उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए स्वतंत्रता का महत्व बताया है-

"सब तजि गहौ स्वतंत्रता, नहिं चुप लातै खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परे सो दाँव।"[23]

2. जनवादी विचारधारा :-

भारतेन्दुयुगीन कविता की दूसरी प्रमुख विशेषता है- जनवादी विचारधारा। डॉ. रामविलास शर्मा के मतानुसार भारतेन्दु युग की जनवादी भावना उसके समाज-सुधार में समायी हुई है। इस युग का साहित्य भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार चाहता था। इस युग के कवियों ने समाज के दोष युक्त अंग की आलोचना की हैं-

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।"[24]

भारतेन्दु मेम-मेहरानी के बारे में कहते हैं-

"का भवा, आवा है ए राम जमाना कैसा।
कैसी महरारू है ई, हाय जमाना कैसा।"[25]

भारतेन्दु युगीन कविता में साम्प्रत समाज की दशा का, विदेशी सभ्यता के संकट का, पुराने रोजगार के बहिष्कार का स्वर दिखाई देता है। इस युग में दो विचार-धाराएँ दिखाई देती हैं- 1.पुराणवादी परंपरा के समर्थकों की और 2.आधुनिक व्यापक दृष्टि वालों की। किन्तु भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग अपनाया था। भारतेन्दु ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग की पोल खोल दी है। छुआछूत के प्रचार के प्रति क्षोभ के स्वर कवि में हैं। प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के विरोधी तथा विधवाओं के दुख से दुखी है।

3. प्राचीन भक्ति और श्रृंगार की कविता :-

इस युग में प्राचीन परिपाटी का कविता का सृजन हुआ था। भक्ति और श्रृंगार की परंपराएं इस युग तक चलती रही, परिणाम भारतेन्दु तथा अन्य कवियों ने इसका अनुसरण किया। कुछ कवियों ने नख-शिख वर्णन किया तो कुछ ने दान-लीला, मृगया की रीतिकालीन पद्धति अपनायी। इस प्रकार इस युग की कविता में भक्ति, श्रृंगार एवम् प्रेम-वर्णन के सुंदर नमूने मिलते हैं। जैसे-

"ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रव जायें सिर घीजै।।"[26]

उन्होंने रीति कालीन आचार्यों की तरह स्वरति, समरति, चित्ररति, वस्त्ररति, पपड़ीपन आदि यौन-विकृतियों के चित्र वर्णित किये हैं-

"प्रेम-वर्णन- सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक बुरे॥"[27]

4. कलात्मकता का अभाव :-

भारतेन्दुयुगीन कविता की चौथी मुख्य प्रवृत्ति है- कलात्मकता का अभाव। नवयुग की अभिव्यक्ति करने वाली यह कविता कलात्मक न हो सकी। जिसके कारण ये हैं-

(1) इस काल में विचारों का संक्रांति काल था जिसके कारण में इसमें कलात्मकता का अभाव रहा।

(2) इस युग में कवि समाचार-पत्रों द्वारा अपनी कविता का प्रचार करते थे, इसलिए उन्हें इसे काव्यपूर्ण बनाने की चिंता नहीं थी।

(3) भाषा का अस्तित्व और नागरी आंदोलन के कारण भी कविता कलात्मकता धारण न कर सकी। क्योंकि इस आंदोलन के लिए कवियों को जनमत जागरित करना था जो कि जनवाणी से ही संभव था।

कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग के कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भाषा संबंधी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि वे नवयुग की चेतना को कलात्मक एवं प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त न कर सके और उसमें सर्वत्र यथार्थ की अनुभूति की सच्चाई सरल भाषा-शैली में अभिव्यक्त हुई। जैसे,

"खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।
गाली देकर हाय बनाते बैरी अपने भाई।।
हैं उपासना भेद न उसके अर्थ और विस्तार।
सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और विस्तारो।।"[28]

5. ब्रजभाषा का काव्य में प्रयोग :-

इस काल की भाषा प्रमुख रूप से ब्रजभाषा ही रही। खड़ीबोली गद्य तक ही रही थी। किन्तु इस युग के अंतिम दिनों में खड़ीबोली में कविता करने का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण द्विवेदी युग में कविता के क्षेत्र में खड़ीबोली का प्रयोग शुरू हो जाता है। बद्रीनारायण चौधरी, अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने भारतेन्दु काल में खड़ीबोली में कविता करने का प्रयत्न किया था। जैसे-

"हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन,
उन दिलदारों से ही,मेल मिला लेते हैं।"[29]

भारतेन्दु की खड़ी बोली का एक उदाहरण देखें-

"साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।

हम सब एक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार सबेरा है॥"[30]

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में खड़ी बोली में उच्चकोटि की रचना नहीं मिलती। इसका कारण स्पष्ट है कि इस युग ब्रज भाषा पर रिझे हुए थे। इस प्रकार भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा ही रही।

6. हास्य-व्यंग्य समस्या की पूर्ति :-

इस युग में हास्य-व्यंग्यात्मक कविताएँ भी काफी मात्रा में लिखी गई। सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों तथा पाश्चात्य संस्कृति पर करारे व्यंग्य किए गए। इस दृष्टि से प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाएँ सर्वोत्तम हैं। समस्या-पूर्ति इस युग की काव्य-शैली थी और उनके मंडल के कवि विविध विषयों पर तत्काल समस्यापूर्ति किया करते थे। रामकृष्ण वर्मा, प्रेमघन, ब्रेनी ब्रज आदि कवि तत्काल समस्या-पूर्ति के लिए प्रसिद्ध थे।

7. प्राचीन छंद-योजना :-

भारतेन्दु युग में कवियों ने छन्द के क्षेत्र में कोई नवीन एवम् स्वतंत्र प्रयत्न नहीं किया। इन्होंने परम्परा से चले आते हुए छन्दों का उपयोग किया है। भक्ति और रीति काल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छंदों का इन्होंने प्रयोग किया। जब कि जातीय संगीत का सादारम लोगों में प्रचार करने के लिए भारतेन्दु ने कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, गज़ल, श्रद्धा, चैती, होली, सांझी, लावनी, बिरहा, चनैनी आदि छन्दों को अपनाने पर जोर दिया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में परम्परा जनवादी चेतना और आधुनिकता का संगम है। कविता की दृष्टि से यह संक्रमण का युग था। कवियों के विचारों में परिवर्तन हो रहा था। परम्परागत संस्कारों का पूर्ण रूप से मोहभंग हुआ भी न था और साथ में नवीन संस्कारों को भी वे अपना रहे थे। काशी नवजारण का प्रमुख केन्द्र था और यहां का साहित्यिक परिवेश भी सर्वाधिक जागरूक था। तत्कालीन परिवर्तनशील सामाजिक मूल्यों का भी उन पर प्रभाव पड़ रहा था।

4.2 द्विवेदी युगीन-काव्य :-

हिन्दी-काव्य का विकास बीसवों शताब्दी के आरंभ में बड़ी तेज गति से हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जो साहित्य रचा गया था, वह द्विवेदी युग के साहित्य की पृष्ठभूमि में है। इसी प्रकार भारतेन्दु-युग में राजनीतिक तथा सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से बड़े परिवर्तन हुए थे। इन सभी में आधुनिकता का आभास होने लगा था। यह आधुनिक बोध अपनी प्रौढ़ता की ओर बढ़ता रहा। इसकी दिशा भारतेन्दु युग ने ही निश्चित कर दी थी। भारतेन्दु युग में जो उन्नति हुई, परिवर्तन आए, वे ही द्विवेदी युग के साहित्य की पृष्ठभूमि में है अतः द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि तथा समस्त बाह्य परिस्थितियों पर दृष्टि डालने से ही द्विवेदी युग के काव्य का महत्व तथा उसकी प्रवृत्तियों की व्यावहारिकता और अनिवार्यता को समझा जा सकता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग के केन्द्र-बिन्दु थे अतः उन्हीं के नाम पर हिन्दी साहित्य में इस युग को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है। भारतेन्दु युग की अनेक प्रवृत्तियों को इस युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के दिशा-निर्देश में बदलने के प्रयत्न आरम्भ किए गए। ब्रजभाषा के स्थान पर कविता में भी खड़ी बोली का वर्चस्व, भाषा-संस्कार, नए छन्दों का प्रयोग, सभी काव्य रूपों का व्यवहार, श्रृंगार के स्थान पर अन्य उदात्त और सामाजिक भावों का उदय आदि अनेक प्रवृत्तियों को दिशा देने वाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ही थे। इस काल को डॉ. नगेन्द्र ने 'जागरण-सुधार' काल नाम भी दिया है। सन् 1900 से 1918 ई. तक इस युग का विस्तार रहा है। विभिन्न विद्वानों ने इसके आरम्भ और अन्त के वर्षों को थोड़ा-बहुत आगे-पीछे किया है। अपितु साहित्यिक इतिहासान्तर्गत दो-चार वर्ष का समय किसी प्रवृत्ति के नामकरण में कोई अन्तर नहीं उपस्थित करता। द्विवेदी युग की राजनीति, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों का संक्षेप में मूल्यांकन कर लेना उचित होगा तभी इस युग की साहित्यिक देन को समझा जा सकता है।

4.2.1 **राजनीतिक परिस्थितियाँ :-**

सन् 1857 ई. का प्रथम स्वाधीनता संग्राम विफल हो गया था किन्तु झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, नाना साहब आदि राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रतीक रूप में जन-मानस में स्वीकार कर लिए गए थे। महारानी विक्टोरिया के घोषणा- पत्र में कौमि अहिष्णुता, उदारता और सहृदयता का आश्वासन था। इसी कवियों ने अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा करना भी आरम्भ कर दिया था। अंग्रेजों ने

कानूनी राज्य का आरम्भ किया। हाइकोर्ट तथा अदालतें (1863 ई.) स्थापित हुई थी। देशी राजाओं ने ब्रिटिश साम्राज्य में सन् 1877 ई. में अपनी निष्ठा व्यक्त की। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजनीतिक सुधारों का सिलसिला आरम्भ हुआ। स्वायत्त शासन संस्थामों जिला बोडों का गठन हुआ। भारतेन्दु प्रेमपन, राधाकृष्णदास प्रभृति साहित्यकार प्रशस्तियाँ लिखने को प्रेरित हुए। राजनीतिक परिस्थितियों के दूसरे पक्ष को भी साहित्यकारों ने अपन का विषय बनाया। राजभक्ति के साथ-साथ ये कवि देश की विपन्न और हीन दशा का भी चित्रण करने लगे। भारतेन्दु ने व्यंग्यपूर्ण मुकरियों में सीधा कटाक्ष किया।

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन घन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? नहीं अंगरेज ॥ [31]

भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं-सार-सुधा निधि तथा भारत-मित्र के अंग्रेजों की युद्ध-नीति और सभ्यता पर सीधा प्रहार किया। 'यमलोक की यात्रा' में राजनीतिक दमन और मार्जार मूषक में रूस का भय दिखाकर रक्षा के बहाने आतंक पैदा करने वाले अंग्रेज शासकों को चुनौती दी गई। भारतेन्दु का अंधेर नगरी प्रहसन (1881 ई.) भी देशी राजाओं के अन्याय का भण्डाफोड़ करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कई राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गई। ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन (1851) ईस्ट इण्डिया एसोसिएसन (1876), मद्रास महाजन सभा (1881), बॉम्बे प्रेसीडेन्सी सभा (1885) तथा सामाजिक सुधारों के लिए स्थापित इण्डियन नेशनल कांग्रेस (1885) यादि प्रमुख रहे हैं।

4.2.2 आर्थिक परिस्थितियाँ:-

उन्नीसवीं शताब्दी में नए-नए वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार भर के उद्योगों में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। कल-कारखानों के निर्माण से हाथ से काम करने वाले श्रमिकों की रोजी-रोटी छिन गई। रेल, तार, डाक, सड़क, नहर ने दुनिया की दूरियाँ कम कर दी। सन् 1868 ई. में स्वेज नहर बन जाने से यूरोप के साथ व्यापार करना और भी सुगम हो गया। यूरोप की वस्तुएँ भारतीय बाजारों में छा गई। खेती की दशा भी शोचनीय हो गई। जनसंख्या में वृद्धि, भूमि की उर्वरता में कमी, प्रकाल, महामारी आदि के प्रकोप के कारण आर्थिक दशा बिगड़ती जा रही थी एवं शिक्षित बेरोजगारों की

संख्या बढ़ रही थी। जो देश सोने की चिडिया कहलाता था, उसका धन विदेशों में जा रहा था। इस संकट के प्रति भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने अपना दायित्व निभाया था। अपनी राजभक्ति के साथ-साथ वे आर्थिक विपन्नता का सारा दोष भी अंग्रेजी शासन के मत्थे मढ़ते रहे थे-

"अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन विदेस चलि जात, यहै अति ख्वारी॥"[32]

खर्चीली अदालतें, पुलिस के अत्याचार, ऊँचा लगान, कठोरता से लगान वसूली, शस्त्र के बल पर शासन की प्रवृत्ति ने किसानों के दु:खों को और बढ़ा दिया था। 1877 ई. के अकाल का सामना करने में लार्ड लिटन असफल रहे। 1894 से 1899 तक पश्चिमोत्तर भारत, पंजाब, बिहार व मध्यप्रदेश में अकाल पड़ा, फिर महामारी का प्रकोप हुआ। इस युग में साहित्यकारों ने देशवासियों के आर्थिक कष्टों का अनुभव किया और उनके दु:ख-दर्द को अपने जनवादी काव्य तथा अन्य जनवादी साहित्यिक रचनाओं में वाणी प्रदान की।

4.2.3 धार्मिक परिस्थितियाँ :-

अंग्रेजी शासन तक आते-आते हिन्दू धर्म शिथिल हो गया था। प्रशिक्षित जनता धर्म के नाम पर अज्ञान और अंधविश्वासों में ग्रस्त थी। दुर्बल और प्राण-शून्य हिन्दू जाति की दशा शोचनीय थी। ईसाई मिशनरियां निर्विरोध धर्म-प्रचार में संलग्न थीं। जो लोग शिक्षा, धन, विवाह, पद के लोभी थे, वे ईसाइयों के चंगुल में फँसते जा रहे थे। ईसाई धर्म प्रचारक यद्यपि विगत तीन सौ वर्षो से भारत में आ रहे थे किन्तु हिन्दी साहित्य पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सन् 1813 ई. में उन्हें नियमानुसार धर्म प्रचार की आशा मिल गई तभी से ईसाई धर्म के प्रचार में तेजी आती गई। ईसाई पादरी जन-भाषा में शिक्षा और धर्मोपदेश देते रहे थे। सन् 1826 ई. में भारत की अनेक भाषाओं में ईसाई धर्म ग्रन्थ प्रकाशित हुए। अनेक ईसाई संस्थाओं की स्थापना हुई तथा मुद्रणालय खोले गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही पश्चिमी सभ्यता और धर्म के आघात से हिन्दू धर्म में भी जागृति के लक्षण दिखाई देने लगे। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना करके सती-प्रथा जैसी क्रूर प्रथा को कानून के द्वारा रूकवाया। आर्य समाज (1875 ई.), थियोसोफिकल सोसाइटी (1879) तथा रामकृष्ण मिशन यादि संस्थाओं ने हिन्दू धर्म का वैज्ञानिक और मानवतावादी स्वरूप

प्रस्तुत किया। जाति-पांति, वर्णभेद, छुपाछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह की अस्वीकृति, कर्मकाण्ड और अंधविश्वासों पर इन संस्थाओं ने प्रहार किए। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने गुरुकुलों की स्थापना की, गौ-रक्षा का प्रचार किया और वेदों की अपौरुषेयता से हिन्दुओं में आत्म-गौरव का भाव स्थापित कर दिया। ब्रह्म समाज ने सती-प्रथा, बहु-देवदाद, मूर्ति-पूजा तथा बहु-विवाह का विरोध किया। विवेकानन्द ने सन् 1893 ई. में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में भारतीय आध्यात्म का डंका बजवा कर, रामकृष्ण मिशन ने मानव सेवा में हाथ बंटाना आरम्भ कर दिया।

इन धार्मिक आंदोलनों से साहित्य भी प्रभावित हुआ। दयानन्द सरस्वती ने अपना सत्यार्थ प्रकाश सड़ी बोली हिन्दी में ही लिखा। आर्य-समाज के विशेष में श्रद्धाराम फुल्लोरी तथा अम्बिकादत्त व्यास ने सनातन धर्म का झण्डा उठाया और खंडन-मंडन की दृष्टि से अनेक पुस्तकों की रचना कर डाली। भारतेन्दु इस खण्डन मण्डन से दूर रहे, वे प्रेम को ही मुख्य तत्व बताते रहे।

4.2.4 **सामाजिक परिस्थितियाँ:-**

ब्रिटिश राज्य से पूर्व कम्पनी के राज्य में वारेन हेस्टिग्ज ने हिन्दुओं और मुसलमानों को संस्कृत तथा फारसी के माध्यम से धार्मिक शिक्षा देने की योजना बनाई थी किन्तु आधुनिकता के संक्रमण के साथ केवल धर्म शिक्षा सामाजिक उत्थान की दृष्टि से अपर्याप्त प्रतीत होने लगी थी। 1813 ई. में ब्रिटिश संसद ने भारत में शिक्षा के लिए एक लाख रुपये मंजूर किए थे। राजा राममोहन राय ने भारतीयों के लिए सन् 1816 ई. में एक अंग्रेजी स्कूल खुलवाया। सन् 1836 ई. में मैकाले ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया और 1854 ई. में डलहौजी की शिक्षा योजना के अन्तर्गत अनेक गाँवों और नगरों में प्राथमिक तथा हाई-स्कूल खोलें गए। ईसाई धर्म प्रचारक पहले से ही अंग्रेजी माध्यम के स्कूल चला रहे थे। सन् 1857 ई. में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

सन् 1857 ई. के विद्रोह की सफलता के बाद भारत में वैधानिक अंग्रेजी राज्य कायम हो गया। जनता में शासकों की शक्ति के प्रति श्रद्धा के स्थान पर आतंक अधिक था। भारतीयों की मनोवृत्ति बदलने के लिए उन्हें दिल और दिमाग से पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति का दास बनाने के लिए अंग्रेजी माध्यम से पश्चिमी साहित्य की शिक्षा दी जाने लगी। यद्यपि पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य,

इतिहास आदि पढ़ने से भारतीयों की दृष्टि व्यापक हुई और वे समाज-सुधार के प्रति अनुरक्त हुए किन्तु अंग्रेजी शिक्षा और माध्यम ने भारतीय भाषाओं को उन्नति का मार्ग रोक अनुरक्त भी दिया। भारतीय पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगने लगे। अपनी भाषा, संस्कृति, सभ्यता और धर्म को लोग हीन दृष्टि से देखने लगे। उनके मन में अपने ही देश के ग्रामीण, गरीब और अशिक्षित लोगों के प्रति घृणा का भाव घर कर गया। काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और पंजाब में नवीन चन्द्र राय ने हिन्दी के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

इस प्रकार द्विवेदी युग के आरम्भ होने तक समाज ने शिक्षा की दृष्टि से कोई उन्नति नहीं की सामाजिक बुराइयों अंधविश्वासों, छुआछूत, जाति-भेद के विरुद्ध संघर्ष जारी था।

4.2.5 **साहित्यिक परिस्थितियाँ :-**

राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र (मन की लहर, सन् 1885 ई.),नित्यानन्द चौबे (कविराज की कथा, 1891), श्रीधर पाठक (जगत सचाई सार 1887), बालमुकुन्द गुप्त (प्लेग की भूतनी) आदि कवियों ने नए विषयों का समारम्भ कर दिया था। हास्यरस के आलम्बन पेटू ब्राहारण के स्थान पर फैशन के दास, मूर्ख रईस, आदि लकीर के फकीर समान कार्य कर रहे थे। वीररस के लिए युद्धवीर के साथ-साथ देश-प्रेम दिखाने वाला भी आलम्बन हो गया था। भारतेन्दु युग का काव्य और सम्पूर्ण साहित्य द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि का काम कर रहा है, जिसमें राजनीतिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक काव्यान्तर्गत अतीत के प्रति अभिमान, वर्तमान के प्रति क्षोम तथा भविष्य के प्रति आशा की अभिव्यंजना हुई है।

काव्य रूपों की दृष्टि से प्रबन्ध-काव्य का अभाव अवश्य खटकता है अन्यथा मुक्तक काव्य का पर्याप्त विकास हुआ, जिसमें कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, सोरठा, हरिगीतिका छप्पय, रोला, लावनी, गज़ल आदि छन्दों का वैविध्य भी था।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी युग से पूर्व दोहरा मानदण्ड प्रचलित था। भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों ने गद्य में खड़ी बोली और पद्य में ब्रजभाषा का प्रयोग किया था। कतिपय कविताएं खड़ी बोली में भी लिखी गई थी। प्रेमधन, श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा ने खड़ी बोली में कविता लिखने में अगुवाई की। भारतेन्दु युग में नाटक साहित्य में पर्याप्त वृद्धि हुई। कुछ उपन्यास भी लिखे गए जो

नीति, शिक्षा, सुधार, राष्ट्रीयता, राज्य की अनीति यादि विषयों से सम्बद्ध थे। इस प्रकार द्विवेदी युग की कविता के लिए बीज भारतेन्दु युग में ही बो दिए गए थे।

4.3 द्विवेदी युग की काव्य-प्रवृत्तियाँ :-

काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग भारतेन्दु-युग में प्रारंभ हो गया था, किन्तु इस प्रयोग की वास्तविक स्थापना और निरंतरता द्विवेदी युग में ही प्रकट हुई। भाषा के स्थान पर द्विवेदी युग में कविता के लिए भी खड़ी बोली का प्रयोग ब्रजभाषा से द्वेष के कारण या उसे हीन समझने के कारण नहीं किया गया अपितु यह युग की आवश्यकता की पूर्ति के रूप में ही आरम्भ हुआ था। विगत कुछ शताब्दियों से काव्य में एकछत्र ब्रजभाषा का ही शासन था। इस समय खड़ी बोली हिन्दी समस्त हिन्दी भाषी प्रांतों में लोक व्यवहार की भाषा के रूप में तेजी से विकसित हो रही थी। जन-जागृति और जनाकांक्षाओं की समिति के लिए खड़ी बोली हिन्दी ही एक मात्र माध्यम हो सकती थी। इसकी वास्तविकता भारतेन्द्र युग में ही स्वीकार कर ली गई थी। भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य-नाटक, उपन्यास, निबन्ध जीवन चरित्र आदि खड़ी बोली में लिखे गये थे और इस कारण खड़ी बोली इतनी अधिक लोकप्रिय हो गई थी कि द्विवेदी युग में यह अनुभव किया जाने लगा कि गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की ब्रजभाषा, यह दोहरापन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनुचित और आसंगिक है, अतः पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कामता प्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण के आधार पर खड़ी बोली को शुद्ध और परिष्कृत करने का आन्दोलन चलाया और कवियों को उसे काव्य प्रस्तुत 'करने के लिए प्रेरणा भी दी। द्विवेदी युग को हिन्दी पद्य का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककार, प्रेमचन्द और गुलेरी जैसे कथाकार, बाबू श्याम सुन्दर और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक- निबन्धकार इसी युग की देन हैं।

हिन्दी काव्य भी द्विवेदी जी के आदर्शों से अछूता न रह सका। उन्होंने खड़ी-बोली में कविता लिखने का जो आह्वान किया था, उसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु-युग के कवियों को सन्देह था कि खड़ी बोली में बजभाषा-सा माधुर्य नहीं है, अतः यह कविता के उपयुक्त नहीं हो सकती । द्विवेदी जी ने इस सन्देह को दूर किया। उनकी प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली में कविता लिखना शुरू किया। आरम्भ में उसमें नीरस तुकबन्दियों के अतिरिक्त कुछ नहीं था किन्तु धीरे-धीरे खड़ी बोली का परिमार्जन होता गया और उसमें मधुरता तथा प्रौढ़ता और भावों को वहन करने की

क्षमता का विकास होने लगा। गुप्त जी का लिखा 'जयद्रथ वध' खड़ी बोली का ऐसा प्रबल आधार सिद्ध हुआ कि ब्रजभाषा को काव्य-क्षेत्र से पलायन ही करना पड़ा। बाद में 'भारत-भारती' ने तो खड़ी बोली की विजय का झंडा ही फहरा दिया। द्विवेदी युग में काव्य-भाषा का ब्रजभाषा से खड़ी बोली में परिवर्तन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि सही बोली की अक्खड़ता, अपरिपक्वता, अव्यवस्था और कठोरता किस प्रकार परिप्रक्वता, व्यवस्था और मधुरता में परिवर्तित हुई। इस युग की खड़ी बोली के दिशा-निर्देशक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ही थे जिन्होंने सुबोध, शुद्ध और रसानुरूप भाषा का रूप संवारा हैं।

4.3.1 नैतिकता और आदर्श :-

द्विवेदी युग का काव्य आदर्शवादी और नीतियुक्त है। कवि किसी आदर्श के लिए ही काव्य-रचना करता है। कविता केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं है-

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
क्यों आज रामचरित मानस सब कहीं सम्मान्य है।
सत्काव्य-युत उसमें परम आदर्श का आधान्य है।।"[33]

इस युग के कवियों ने इतिहास-पुराण से प्रसंग लेकर तथा कल्पना पर आधारित आदर्श चरित्रों पर प्रबन्ध-काव्यों की सृष्टि की। इन काव्यों में असत्य की विजय दिखाई गई। स्वार्थ-त्याग, कर्तव्य पालन, आत्म गौरव और उच्चादर्शों की स्थापना करना इन काव्यों का उद्देश्य है। हरिऔध का 'प्रिय- प्रवास', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', 'जयद्रथवध', 'रंग में भंग', 'विकट भट', गोकुलचन्द्र शर्मा का 'गाँधी गौरव', रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन' आदि काव्य आदर्शवादी प्रेरणा से सम्पन्न हैं। अनेक पद्यबद्ध लघु कथाओं का ध्येय भी नैतिकता और आदर्श की स्थापना करना ही रहा है। इस युग में कथात्मक काव्य-कृतियों के अतिरिक्त मुक्तक रूप में भी नीति और आदर्श से मुक्त काव्य रचा गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि इस युग को उक्त प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि है। इस युग में प्रेम को भी आदर्श उदात्त आसन पर प्रतिष्ठित किया गया। प्रिय प्रवास को राजा सम्पूर्ण विश्व की सेवा का आदर्श उपस्थित

करती है। 'साकेत' की उर्मिला अपने निजी सुख-दुख से दूर रहकर प्रिय के वनों में चूर रहती है। रामनरेश त्रिपाठी प्रेम का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

"गन्ध विहीन फूल है जैसे चन्द्र चन्द्रिका हीन।
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम विहीन।।
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम हैं, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक॥"[34]

4.3.2 राष्ट्र-प्रेम :-

पुनर्जागरण के बाद देश में प्रत्येक क्षेत्र में जागृति की लहर दिखाई देने लगी थी। राजनीतिक चेतना और संस्कृति के पुनः उत्थान के परिणाम स्वरूप द्विवेदी युग के काव्य में देश-भक्ति का स्वरूप और भी स्पष्ट तथा सही दिशा का सूचक बनकर आया। इस युग की कविता का जन्म और विकास ही ऐसे समय हुआ, जब भारत के लोगों में ब्रिटेन की तरह अपना शासन स्वयं चलाने की इच्छा बलवती होती गई और कांग्रेस के आन्दोलनों तथा प्रस्तावों में राष्ट्र के प्रति कर्तव्य और स्वशासन के लक्ष्य का निर्धारण किया जाने लगा। सत्य तो यह है कि द्विवेदी युग के काव्य ने गम्भीरतापूर्वक राष्ट्र का चिन्तन करना आरम्भ कर दिया था। देश भक्ति की कविताएँ लिखकर युग के कवि ने मातृभूमि के चरणों में अपनी वन्दना प्रस्तुत की। पराधीनता को सबसे बड़ा अभिशाप और स्वतन्त्रता प्राप्ति जीवन की सबसे बड़ी साधना बन गई जिसके लिए आत्माहुति और क्रान्ति का नारा बुलन्द किया गया।

मैथिलीशरण गुप्त ने जागृति के अपने महान काव्य भारत-भारती में देश-भक्ति के प्रेरक और श्रेष्ठ रूप को प्रस्तुत किया। इस काव्य में उद्बोधन है, दिशा है और साधना का कण्टकाकीर्ण मार्ग है। वे कहते हैं-

"हे रम्ब ! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइये।
भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइये॥
भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल कहाँ ?"[35]

इस प्रकार द्विवेदी-युग के जागरूक कवि ने देश की प्रत्येक हीन दशा का चित्रण जनवादी चेतना के माध्यम से प्राचीन गौरव के आदर्श को सामने लाकर राष्ट्रीयता जगाने का प्रयत्न किया।

4.3.3 विषय-वस्तु विशेषताएँ :-

द्विवेदी युग के नए विचार और नए-नए विषयों तथा काव्य की नई भूमि का स्पर्श करने के सम्बन्ध में डॉ. नन्द दुलारे वाजपेयी कहते हैं- "नये विचार और नई भाषा, नया शरीर और नई पोशाक दोनों ही हिन्दी को द्विवेदी जी की देन हैं। इसी कारण वे हिन्दी के प्रथम और युग प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेकमुखी सामग्री भेंट करने में है।"[36] द्विवेदी युग के कवियों ने विषय की दृष्टि से नए-नए क्षितिजों का स्पर्श किया है, उनके वर्ण्य-विषय का विस्तार, गहरा और वैविध्यपूर्ण है। इस काव्य में परम्परागत नायिकाभेद के अतिरिक्त अन्य विषय तो आए ही, साथ में अनेक नए विषयों को भी काव्य में स्थान मिला। द्विवेदी जी वर्ण-विषय की विविधता के सम्बन्ध में लिखते हैं- "चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत- सभी पर कविता हो सकती है।"[37] तात्पर्य यह है कि जीवन और जगत् का विस्तृत क्षेत्र कविता का विषय हो सकता है। छोटे-छोटे विषयों पर काव्य-सृजन करने में तो अनन्त क्षेत्र पड़ा है, इसलिए द्विवेदी युग में विषयों का विस्तार पर वैविध्य मिलता है जैसे- परोपकार, मुरली, कृषक, सत्य, लड़कपन, बालक, ईर्ष्या, प्रणय, निद्रा, कलियुगी साधु, मेंहदी, कामना, मनोव्यथा, कुलीनता, पौरुष, सुखमय जीवन, भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन, समालोचक लक्षण आदि सभी क्षेत्रों तक काव्य का प्रसार हो गया।

4.3.4 मानवतावाद -

रीतिकाल में और भारतेन्दु युग में भी कवियों की संवेदना ईश्वर, अवतार, राजा, सामन्त, सुन्दर नायक-नायिका आदि तक ही सीमित थी। सामान्य जनता की पीड़ा, उसकी आशाएँ-आकांक्षाएँ, दुःख-सुख और परिस्थितियाँ कवियों के लिए अनजानी और उपेक्षणीय ही थीं। इस युग में कवियों ने सहस भाव से मानव मात्र के दुःख-सुख और उसकी यातनाओं तथा विषय परिस्थितियों को

अपने काव्य के माध्यम से जनवादी चेतना के रूप में प्रस्तुत करने का कार्य किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कल्लू रहैत को अपने काव्य का विषय बनाया। रसिक शंकर जी के व्यंग्य का लक्ष्य विदेशीयता बनी-

"छड़ी धार छबीले बनो, रंगीले, रसीले, फबीले बनो।
न चूको भले भोग भोगी बनो, किसी बेड़नी के वियोगी बनो।।"[38]

गरीब कृषक और करुणापूर्ण विधवा का अत्यन्त कारुणिक चित्र अंकित करने में ये कवि आगे ही रहे। मैथिलीशरण गुप्त ने सन् 1917 ई. में 'कृषक', सियाराम शरण गुप्त ने भी इसी वर्ष 'अनाथ' और 'सनेही कृषक-क्रदंत' रचनाओं में किसानों की दीन-हीन दशा का चित्रण किया है। नाथूराम शर्मा ने गर्भ-रण्डा रहस्य में विधवाओं को दी जाने वाली सामाजिक तथा पारिवारिक यातनाओं का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। अशिक्षित नारियाँ भी इस काव्य का कथ्य बनी हैं। इस युग के कवियों ने सामान्य मनुष्य के प्रति मानवीय सहानुभूति और संवेदना को आकर्षित किया है। छोटे लोगों के प्रति बड़ों के तिरस्कार भाव को हरिऔध ने इस प्रकार वाणी दी है-

"आप आँखें खोल करके देखिये
आज जितनी जातियाँ हैं सिर-धरी।
पेट में उनके पड़ी दिखलाएँगी
जातियाँ कितनी सिसकतीं या मरीं ।।"[39]

इस युग के कवि भारतेन्दु-युग के कवियों की अपेक्षा सामान्य व्यक्ति के प्रति अधिक संवेदनशील थे, अतः उन्होंने उस मामूली बात को जनचेतनामयी काव्य का विषय बनाकर महत्वपूर्ण बना दिया।

4.3.5 **हास्य-व्यंग्य :-**

भारतेन्दु-युग के कवि अपनी जिन्दादिली, फक्कड़पन तथा विनोदी स्वभाव के कारण प्रचुर हास्य-व्यंग्ययुक्त साहित्य की रचना कर सके। किन्तु आचार्य द्विवेदी का युग नियम, मर्यादा, संयम नैतिकता और आदर्श का युग था। अतः उनके व्यक्तित्व का प्रभाव काव्य की हास्य-व्यंग्य प्रवृत्ति पर भी पड़ा और वह पूर्व की अपेक्षा संयत और मर्यादित हो गई। हास्य-व्यंग्य अधिकतर राजनीतिक

विषयों में, सामाजिक कुरीतियों, धर्माड़म्बर, लकीर के फकीर आदि विषयों की विविधता से हटकर द्विवेदी युग में गाँव छोड़कर शहर आनेवाले कल्लू में, विदेशी सभ्यता के अन्धानुकरण में सीमित रह गया। हास्य भी पर्याप्त शिष्ट हो गया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस युग के सशक्त व्यंग्यकार हैं। लॉर्ड कर्जन ने एक बार भारतियों को झूठा कह दिया था, उसी पर यह व्यंग्य देखिए-

"हमसे सच की सुनो कहानी जिससे मरे झूठ की नानी।
सच है सभ्य देश की चीज, तुमको उसकी कहाँ तमीज।
औरों को झूठा बतलाना, अपने सच की डींग उड़ाना।
ये ही पक्का सच्चापन है, सच कहना तो कच्चापन है।।
बोले और करे कुछ और, यही सभ्य सच्चे के तीर।
मन में कुछ, मुंह में कुछ और , यही है सत्य कर लो गौर ।।"[40]

नाथूराम शंकर शर्मा द्विवेदी युग के हास्य-व्यंग्यकार हैं जिनका 'गर्म रण्डा 'रहस्य' ग्रन्थ बालिका विधवा के माध्यम से समाज की पोल खोलता है। इसमें आर्य-समाज की दृष्टि से अपनी सभ्यता, संस्कृति को छोड़कर पश्चिम का अन्धानुकरण करने वालों की भी खबर ली गई। ब्रजराज श्री कृष्ण को भी पाश्चात्य फैशन में आने का सन्देश है-

"गौर वर्ण वृषभानसुता का काढ़ो काले तन पर तोप।
नाथ उतारो मोर मुकुट को, सिर पर सजो साहिबी टोप॥
पौडर चन्दन पौछ लपेटो, आनन की श्री ज्योति जगाय।
अंजन आँखियों में मत आँजो, आला ऐनक लेहु लगाय ॥"[41]

इस युग के अन्य हास्य व्यंग्यकारों में ईश्वरी प्रसाद शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'साकेत' के आरम्भ में लक्ष्मण-उर्मिला संवाद में परिहास-प्रसंग में सुन्दर शिष्ट हास्य की अवधारणा की है।

द्विवेदी युग का काव्य राष्ट्रीय सांस्कृतिक तथा जनवादी चेतना का काव्य है जिसमें धर्म, प्रांत और सम्प्रदाय से ऊपर उठकर राष्ट्र का चिन्तन है। देश के लिए बलिदान होने की भावना है। समाज को कुरीतियों, मिथ्या आडम्बरों से मुक्त देखने की लालसा है। मानव मात्र के प्रति उसके दुःख-दर्द के प्रति सार्वदेशिक संवेदना की उद्धावना इस काव्य के माध्यम से होती है। इस युग के काव्य की भूमि

भी विस्तृत और व्यापक रही है। प्रत्येक विषय पर काव्य करने की अनन्त सम्भावनाओं का पता इस काव्य का अध्ययन करने से ही होता है। आचार्य द्विवेदी के सफल साहित्यिक नेतृत्व का ज्ञान भी इसी काव्य के परिचय से मिलता है, जिन्होंने सैकड़ों वर्षों से चली आयी काव्य-भाषा ब्रजभाषा को सिंहासन से हटा कर युग-सम्मत तथा युग प्रचलित विकास की अनन्त संभावनाओं से ओतप्रोत 'खड़ी बोली को गद्य की भाँति पथ में भी प्रतिष्ठित कर दिया। महाकाव्य लिखकर हिन्दी का गौरव बढ़ाने वाले महाकवि मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सियाराम शरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि कवि भी द्विवेदी जी की ही देन है अतः यह युग हिन्दी काव्य के इतिहास में विशेष महत्व रखता है।

4.4 छायावादी काव्य :-

हिन्दी में छायावादी काव्य एक विशिष्ट भाव-धारा और तकनीक लेकर उपस्थित हुआ। इस काव्य के वाहक कवि आज तक अपने कवित्व और भावोद्बोधन की धाक जमाए हुए हैं। प्रसाद पन्त, निराला और महादेवी वर्मा को छायावादी चतुष्ट्य कह कर सम्मानित किया जाता है। आधुनिक हिन्दी कविता को नवीन प्रवृत्तियों में अनुरक्त करने वाले कवियों में ये नाम समस्त हिन्दी जनता की जबान पर आते रहते हैं। छायावादी काव्य हिन्दी कविता के इतिहास में अपनी स्पष्ट और अन्य धाराओं से अलग छवि प्रकट करता है।

4.4.1 छायावाद का समय :-

सामान्यतः छायावादी कविता का काल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या इतिहास की दृष्टि से दो विश्वयुद्धों के बीच का समय है। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति सन् 1918 ई. में हुई तथा दूसरा विश्वयुद्ध सन् 1936 ई. में प्रारम्भ हुआ। इस दृष्टि से हिन्दी के छायावाद की काल-सीमा भी सन् 1918 ई. से 1936 ई. तक स्वीकार की जा सकती है। इस कालावधि में हिन्दी काव्य की धारा एक विशिष्ट दिशा की ओर प्रवाहमान रही, जिस पर बाहरी प्रभाव भी दृष्टिगत हुआ। यद्यपि दो विश्व युद्धों के बीच के काल को छायावादी काव्य का समय घोषित करना कोई बहुत तर्कपूर्ण नहीं है, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि महायुद्ध की विभीषिका और उसके बाद की परिस्थितियों ने भारत

को विश्व की बौद्धिक विभूतियों के समीप लाकर बिठा दिया था, जिससे किसी भी देश में घटित घटनाओं या विचारधाराओं से हमारा देश भी अलग नहीं रह सका। सन् 1914 ई. में रवीन्द्रनाथ टैगोर को उनकी काव्य-कृति गीतांजलि पर सुप्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार प्राप्त हो चुका था, जिसकी प्रेरणा से भारतीय मेघा, ज्ञान-विज्ञान को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इसी काल में प्रेस की व्यापक सुविधाएँ भी उपलब्ध हुई, जिससे पत्र-पत्रिकाएं तथा पुस्तकें अपने पाठकों तक ज्ञान का प्रादान-प्रदान करने लगीं। हिन्दीं की प्रसिद्ध पत्रिकाएँ इन्दु (1927 ई.), माधुरी (1923 ई.) तथा विशाल भारत (1929 ई.) इसी काल में प्रकाशित हुई, जिनका साहित्य- विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

4.4.2 प्रेरक परिस्थितियाँ :-

हिन्दी में छायावादी काव्य को प्रेरित करने वाली वे युगीन परिस्थितियाँ ही थी, जिन्होंने द्विवेदी युग की काव्य-धारा को नई दिशा की ओर मोड़ दिया। साहित्य किसी एक परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता, वह तो युग की समस्त धड़कनों को आत्मसात करता रहता है और युगानुरूप अपना रूप बदलता रहता है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति से पूर्व की परिस्थितियों ने ही छायावादी काव्य के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का सृजन और विकास किया।

(क) राजनीतिक परिस्थितियाँ -

जिन दिनों हिन्दी कविता अपने लिए नए रास्ते की खोज कर रही थी, यह विश्वयुद्ध का काल था। सन् 1914 ई. से 1918 ई. तक प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप अनेक पुरानी मान्यताएँ बह रही थी और नई मान्यताओं का विकास हो रहा था। उधर यूरोप में औद्योगिक कान्ति के कारण सामन्ती शासन तो समाप्त हो गया था, किन्तु उसके स्थान पर पूंजीवाद का उदय हो रहा था, जिससे धन सिमट कर कुछ ही हाथों में केन्द्रित होता जा रहा था। भारत में उस समय देश की स्वाधीनता के लिए जन आंदोलन बनाए जा रहे थे। इस समय महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का सफल प्रयोग करके भारत में राजनीतिक नेतृत्व ग्रहण कर चुके थे। उनके प्रमुख अस्त्र थे- सत्य, अहिंसा और असहयोग। इन साधनों से महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता के लिए नए ढंग का युद्ध प्रारम्भ कर दिया। इसमें प्रारम्भ में निराशा ही हाथ लगी, किन्तु सत्य से युक्त इन प्रयोगों के प्रति महात्मा गांधी और भारत की जनता का उत्साह कम नहीं हुआ। हिन्दी के छायावादी काव्य में जो वेदना या निराशा का

भाव है। कुछ विद्वानों का विचार है कि राजनीतिक आंदोलनों की असफलता के कारण ही यह विषाद काव्य में उतरा है, किन्तु इसमें बहुत न्यून सच्चाई है, क्योंकि रोलट एक्ट के द्वारा किए गए दमन में भी भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम निरन्तर अपने लक्ष्य को ओर उत्साह के साथ आगे बढ़ता रहा था। सन् 1947 में प्राप्त स्वाधीनता उसी आशा और उत्साह का परिणाम है। छायावादी काव्य में जो निराशा है, वह उनकी व्यक्तिवादिता तथा स्वतन्त्रता संग्राम में पूर्णतः प्रवृत्त न होने के कारण ही है, काव्य के प्रति उनका विशेष दृष्टिकोण था। यह एक संयोग ही था कि छायावादी काव्य के लिए जब भूमि तैयार हो रही थी तब स्वाधीनता के लिए आंदोलन भी चल रहे थे और पूरे छायावादी काल में यह संघर्ष निरन्तर चलता रहा। डॉ. शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में- "इसीलिए इस बात को स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यदि हमारा देश पराधीन न होता और हमारे यहाँ राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकता न रही होती, तो भी आधुनिक प्रौद्योगिक समाज (पूंजीवाद) का विकास होते ही काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मुखर हो उठती, इसलिए छायावादी कविता राष्ट्रीय आंदोलन, जनजागृति या जनचेतना का सीधा परिणाम नहीं लिया और संस्कृति के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने जिस तरह सामूहिक व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई और राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरणा दी। इसी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र में इसने स्वच्छन्दतावाद की वृति को प्रेरणा दी। इस दृष्टि से ही हम कह सकते है कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य के प्रभावों को ग्रहण करती हुई छायावादी कविता राष्ट्रीय जनजागरण या जनचेतना के क्रोड़ में पनपी और फली फूली।"[42] इससे स्पष्ट है कि चाहे सम्पूर्ण रूप से भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ छायावाद के मूल में न रही हो, किन्तु इनसे उसे दृष्टि और प्रेरणा के कुछ अंश अवश्य मिले हैं।

(ख) धार्मिक परिस्थितियां :-

छायावाद का चिन्तन पक्ष प्राचीन अद्वैत और सर्वात्मवाद से प्रभावित है। इस पर धार्मिक पुनर्जागरण के महापुरुषों रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, गाँधी और टैगोर के धार्मिक तथा जनचेतनावादी विचारों का प्रभाव दिखाई देता है। छायावाद के आविर्भाव के समय विवेकानन्द, अरविन्द और टैगोर की उदात्त धार्मिक भावनाओं ने सभी शिक्षित लोगों को प्रभावित किया था। अद्वैतवाद प्राचीन धर्म की चिरन्तनता का तथा प्रत्येक काल में उसकी बाँछनीयता का उद्घोषक रहा

है। छायावादी कवियों ने अपनी प्रेरणा धर्म के इस शाश्वत् सत्य से ग्रहण की। महादेवी वर्मा के शब्दों में "छायावाद कवि-धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूति, सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, आध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सम्भाल सकी।"[43]

(ग) सामाजिक परिस्थितियां:-

महात्मा गाँधी द्वारा संचालित आजादी के लिए संघर्ष के आंदोलन मात्र राजनीतिक नहीं थे। उनमें दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि जनचेतना के अग्रदूतों का अधूरा छोड़ा सामाजिक कार्य पूरा करने का लक्ष्य भी था। महात्मा गांधी ने जो असहयोग आंदोलन चलाया, वह मात्र पराधीनता के विरोध में ही नहीं था, वह आत्मबोध का आंदोलन था, अपने स्वरूप को पहचानने, त्रुटियों को सुधारने, संसार की समृद्ध जातियों के सामने सिर ऊँचा करके चलने की चेतना का आंदोलन था। इस देश में स्वाधीनता के संघर्ष में आत्म-विश्वास जाग चुका था। सौभाग्य से गाँधी जैसा सत्य-निष्ठ महापुरुष इस आन्दोलन का नेता था। उन्होंने देश के पिछड़े वर्ग को जनचेतना पल्लवित की। अपमानित और उपेक्षित कृषक, मजदूर, ग्रामवासी, पर्दे में बन्द स्त्री समाज और अस्पृश्य हरिजन समाज सभी गाँधी के जागरण-अभियान की सीमाओं में गए।

(घ) साहित्यिक परिस्थितियाँ:-

साहित्य की मान्यताएँ जीवन के मानदण्डों से भिन्न नहीं होती। जब जीवन की परिस्थितियों में ही परिवर्तन आ जाता है। तब मनुष्य के आचार-विचार, आस्था-विश्वास आदि भी बदल जाते हैं। मनुष्य ऐसी स्थिति में पुरानी मान्यताओं को त्याग कर नए संस्कारों को उपादेयता के आधार पर ग्रहण कर लेता है। विज्ञान के विकास, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के फलस्वरूप हमारी आज की जीवन दृष्टि भी नित्य नई होती जा रही है। आज साहित्य में सुखान्तता या धर्म की विजय का लक्ष्य आवश्यक नहीं रह गया। कर्मफल और पुनर्जन्म के विश्वास तथा भय शिथिल हो गए एवं परलोक के स्थान पर इसी लोक में सुख-प्राप्ति का वरण जीवन का उद्देश्य होता

जा रहा है। किसी छोटी जाति में जन्म लेना न किसी पाप का फल है और न किसी ऊँची जाति में जन्म लेने से कोई व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के पुण्यों की दुहाई देता है। यह वर्ग-भाव हमारी विकृत सामाजिक व्यवस्था का परिणाम रहा है।

इस प्रकार के अनेक जीवन-संगत परिवर्तनों के कारण साहित्य के परिणाम और आस्वादन विधि में भी अन्तर आ गए है। जिन्हें परिवर्तित-परिस्थितियों और नए मूल्यों की जानकारी नहीं तथा नए प्रयोगों को नहीं समझ सकते, वे ही साहित्य को पुरानी दृष्टि से प्रगतिकालीन रस-दृष्टि से छायावादी काव्य के आनंद का मूल्यांकन करना, उसके प्रति अन्याय होगा।

4.5 छायावाद की परिभाषा :-

छायावाद एक ऐसा शब्द है जो स्पष्ट परिभाषा के घेरे में आता ही नहीं है। कवियों और आलोचकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से छायावाद की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। सब परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न और स्पष्ट ही दिखाई देती हैं। स्वयं छायावादी कवियों ने भी इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

1. जयशंकर प्रसाद :-

"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना धथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के प्राधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से प्रभिहित किया गया" तथा "छाया भारतीय दृष्टि से धनुमति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य, प्रकृति-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अंतर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कांतिमयी होती है।"[44] अर्थात् प्रसादजी की दृष्टि में - "दार्शनिकता प्राचीन समर्थ प्रतीकों का पुनर्जागरण और निर्माण छायावाद है, जिसमें स्वानुभूति का प्रसार हो, प्रकृति का सजीव चित्रण हो, युगानुरूप वेदना हो तथा शैली में ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और उपचार- वक्रता हो।"[45]

2. सुमित्रानन्दन पन्त :-

कविवर पन्त ने छायावाद के सम्बन्ध में अपने विचार की भूमिका में प्रस्तुत किए हैं। वे छायावाद को पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित मानते हैं। इसलिए पन्त का छायावादी काव्य भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य के आदर्श पर ही है। उन्होंने वेदनानुभूति को 'रोमांटिक शोक' के रूप में प्रकट किया है। वर्डसवर्थ ने प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ प्राकृतिक कला और निराशा का चित्रण किया है। प्रसाद छायावाद को पूर्णतः भारतीय परम्परा में स्थान देते हैं जबकि पन्त इसे पाश्चात्य रोमांटिक काव्य का प्रभाव मानते हैं।

3. महादेवी वर्मा :-

"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से विम्बप्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा या और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रू, मेघ के जलकरण और पृथ्वी के ओस-बिदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।"[46] तथा "मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य की ओर से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अपने अविछिन्न सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का श्रेय भी छायावाद को ही है।"[47] आगे इसके उद्भव होने के कारण पर प्रकाश डालती हुई महादेवी कहती हैं-"छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। छायावाद ने कोई रूढ़िगत आध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"[48]

4. मुकुटधर पाण्डेय :-

वस्तुगत सौन्दर्य और उसके अंतर्निहित रहस्य की प्रेरणाएँ ही कविता की जड़ें है। यहीं कविता के अव्यक्त का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है, जो कभी विच्छिन्न नहीं होता। इस रहस्यपूर्ण सौन्दयं वर्णन से हमारे हृदय-सागर में जो भावन्तरंगे उठती है वे प्रायः कल्पना रूपी वायु के वेग से ही ज्ञात होती हैं, क्योंकि यथार्थ की साहाय्य प्राप्ति इस समय उन्हें सम्भव हो उठती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्रायः अस्पष्टता लिए होते हैं। उसी का दूसरा नाम 'छायावाद' है।

5. हजारी प्रसाद द्विवेदी :-

"छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था; यद्यपि इसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट है तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था; कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया है।"[49]

4.5.1 मानवतावादी विचारधारा :-

छायावादी कवि अपनी सूक्ष्म, जनवादी चेतना और तीव्र मानवीय संवेदना के लिए भी प्रसिद्ध हैं। इस काव्य में मनुष्य की संकुचित जाति, वर्ण, देश-भेद पर आधारित जनवादी विचारधारा में व्यापक परिवर्तन आया और मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में देखने का नया अंदाज इन कवियों ने प्रदान किया। यहाँ तक कि ये कवि नारी को भी मनुष्य तत्व मानकर ही उसके बन्धनों को तोड़ने का आग्रह करते हैं। निराला ने भिक्षुक कविता में सहज मानवीय संवेदना की मन्दाकिनी अवतरित की है। सामान्य मिक्षुक बच्चों के दुःख को अपने हृदय में खींच लेने की कामना निराला ने की है। 'बादल राग' में किसानों के दुःखों से पसीज कर कवि कहता है-

"ऐ विप्लव के वीर।
तुझे बुलाता कृषक अधीर।
चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही है आधार।"[50]

पन्त को दुःखी मानवता का उपचार किए बिना ताजमहल का सौन्दर्य भी क्षुब्ध करता है-

"हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो मानव-जीवन।।
वह तो मानववाद में ही स्वर्ग के दर्शन करता है-
मनुज प्रेम से जहाँ रह सके मानव-ईश्वर।
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए मुझे घरा पर।।"[51]

4.5.2 वैयक्तिकता :-

द्विवेदी युग में वर्णन-प्रधान कविता में दूसरों को महत्व दिया जाता था। उसमें स्थूल का वर्णन रहता था। छायावादी कविताएँ सूक्ष्म सौन्दर्य की स्थापना करने वाली काव्य-धारा है, जो कवि के अपने राग-तत्व को लेकर चली है। सन् 1920 ई. के बाद हिन्दी कविता में कवि की कल्पना, उसका चिन्तन और अनुभूति इन तीन तत्त्वों का समावेश हुआ। कवि अपनी कल्पना द्वारा परिवेश से असन्तुष्ट होकर अपनी कविता में एक अपेक्षित और मनोरम जगत् की सृष्टि करता है। इस कार्य में वह बिम्ब-विधान, अप्रस्तुत विधान आदि से सहायता लेता है। दृश्य जगत् को देखकर कवि को सुख-दुःख की अनुभूति होती है जिससे विचार-तत्व सक्रिय होता है। यह अनुभूति और उस पर स्वतन्त्र चिन्तन तथा कल्पना से सृष्टि को नया रूप देना, यही तीनों तत्व वैयक्तिकता के अंग हैं। शुक्ल जी ने जिसे 'स्वानुभूति की विवृत्ति' कहा है, वही वैयक्तिकता है।

4.5.3 युग-चित्रण :-

छायावादी कवियों ने प्राचीन जीवन मूल्यों में अनास्था प्रकट की। इस काव्य में थोथी नैतिकता, रूढ़ि, सड़ी-गली मान्यताएँ और परम्पराएँ तथा सामन्ती संस्कृति के मानदण्डों का घोर विरोध किया गया। ये कवि लोक-कल्याण और विश्व-मानव के मंगल की कामना करते है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत हैं-"मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्य को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी।"[52] छायावादी कविता में प्रेम, सौन्दर्य, करुणा, मानवता, नारी भाव आदि को नए रूप में प्रस्तुत किया गया था। नारी के प्रति समानता का नारा उद्घोषित होने लगा था। उसे मध्यकाल की दासता से मुक्त करने का नया दृष्टिकोण सामने आया था। पन्त इसीलिए कहते हैं- "योनि नहीं है रे नारी, वह भा मानवी प्रतिष्ठित।"[53]

इसी प्रकार राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन हो रहे थे। प्रेम के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतावादी विचार पनप रहा था जो स्पष्ट ही धार्मिक आदेशों की अवहेलना का उद्घोष था। मध्यकाल के दृष्टिकोण को छायावादी काव्य में परिवर्तन का रास्ता मिला। इस काव्य में सामन्ती और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति पर रोक का आग्रह है। व्यक्तिवाद और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के आदर्श की स्थापना है। बुद्धिवाद के विरुद्ध यहाँ हृदय का और स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह चित्रित है। इस काव्य में ही प्रगतिवाद के लक्षण दिखाई देने लगे ये जो कि युगीन परिस्थितियों और

विश्व के घटनाक्रम से परिचालित था डॉ. शम्भूनाथ सिंह लिखते हैं- "इस युग में धर्म का प्रभुत्व बहुत कुछ घट गया था और उसकी जगह आध्यात्मिकता और दार्शनिकता ने ले ली। छायावादी कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन और भक्तिकालीन काव्य से प्रभाव ग्रहण किया और साथ ही रीतिकालीन काव्य-धारा का खुले रूप में विरोध किया। इस तरह इस युग में सामन्ती और दरबारी संस्कृति के बन्धनों से कवियों ने मुक्ति प्राप्त की।"[54] बदलते हुए युग-मूल्यों की स्थापना और व्यर्थ मूल्यों का उच्छेद करना इस कवि का युग-धर्म था-

"धर्म नीति और सदाचार का मूल्यांकन है जनहित।
सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित॥"[55]

4.5.4 जनवेदना की अभिव्यक्ति:-

छायावादी काव्य में प्रणयानुभूति से सम्बद्ध मानसिक दशाओं का जिसमें आशा, आकुलता, आवेश, पीड़ा, निराशा, तल्लीनता, अतृप्ति, स्मृति, विषाद आदि का अभिनव एवं मार्मिक चित्रण मिलता है। छायावादी कवि प्रणय के साथ जनवेदना, जनसंवेदना तथा जनचेतना की साधारणीकृत अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है जिससे कवि और पाठक एक ही रागात्मक भूमि पर पहुँच जाते हैं। यह वेदना इतने गहरे स्तर पर अनुभूत सत्य की भाँति कुरेदती रहती है कि कवियों से तादात्म्य होना अवश्यभावी हो जाता है और एक टीस बनी रह जाती है। इस जनवेदना के कई रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं यह अनन्त वेदना के रूप में, कहीं करुणा तथा कहीं निराशा के रूप में झलकती है। प्रसाद और महादेवा में वेदना का दर्शन ही सेवावाद तथा अध्यात्मवाद है। महादेवी इस दु:ख के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं- "एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतना का क्रन्दन है।"[56] इस प्रकार दु:ख की दो श्रेणियाँ व्यंजित की गई हैं। प्रसाद और महादेवी की वेदनानुभूति में निराशा का अन्धकार और भौतिक दु:खों का सन्ताप नहीं है। यह तो शुद्ध आध्यात्म बनकर काव्य का विषय बना है-

"प्रिय, जिसने दु:ख पाला हो
वर दो, यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो

मैं दु:ख से श्रृंगार करूंगी।"[57]

कभी वह अपनी वेदना का सृष्टि का व्यापक विस्तार करती है-

"में नीर भरी दु:ख की बदली।
विस्तृत नम का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली ॥"[58]

पन्त जीवन की अनित्यता के ऊपर दु:ख का भाव व्यक्त करते हैं तथा निराला सामाजिक जीवन की कठोरता में एक विचित्र निराशा और झुंझलाहट प्रकट करते हैं-

"जीवन चिरकालिक क्रन्दन।
मेरा जीवन वज्र कठोर।
देना जी भर कर झकझोर॥"[59]

प्रसाद और महादेवी के वेदना-भाव के मूल में बौद्धों का दु:खवाद भी है।

4.5.5 राष्ट्रीय जनवादी चेतना :-

छायावादी काव्य में जनता के आत्मसात के दृष्टिकोण से देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति भी नवीन और मौलिक उद्भावनाओं के साथ हुई है। पराधीन देश को बन्धन से मुक्त कराने के लिए अतीत गौरव और वर्तमान की विषम स्थितियों का चित्रण आवश्यक होता है। छायावादी कवि अपनी प्रकृति में भावुक है। दिनकर ने इस काव्य की भाव प्रवणता के विषय में लिखा है- "यह आंदोलन विचित्र जादूगर बनकर आया था, जिधर को भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर का क्षितिज लाल हो गया। हिन्दी की राष्ट्रीय कविताएँ जो अब तक उपदेशों और प्रवचनों का नीरस भार ढोती पायी थीं, इसी काल में आकर अनुभूतियों के सच्चे आलोक से जगमगा उठीं और सीधे उपदेशों का आश्रय छोड़कर उन्होंने अनुभूति के जोर से जनता का हृदय हिलाना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय कविताएँ भी प्रचार न होकर अनुभूतियों का जीवित कोष होती है।"[60] सभी छायावादी कवियों ने राष्ट्रीय जनचेतना के लिए काव्यमय अनुभूतियों को प्रेरक बनाकर प्रस्तुत किया-

(1) "अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥"[61] - **प्रसाद**

(2) "मुझे तोड़ लेना बन माली
उस पथ पर देना तू फेंक
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक॥"[62] - **माखनलाल चतुर्वेदी**

(3) "भारत माता ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मेला-सा आँचल
गंगा यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा, उदासिनी॥"[63] - **सुमित्रानन्दन पन्त**

4.5.6 भाषा और शैलीगत विशिष्टता :-

छायावादी काव्य की कलागत भूमि भी नवीनता और ताजगी से सम्पन्न है। द्विवेदी युग में जो जैसी खड़ी बोली का स्वरूप था, छायावाद में भाषा का अंग सौष्ठव भिन्न तत्वों से ही सज्जित किया गया था। द्विवेदी युग की भाषा वर्णात्मक, स्थूल और शुष्क थी। किन्तु छायावादी काव्य की भाषा में उपचार वक्रता, सूक्ष्म भाव प्रकाशन की क्षमता, मानवीकरण, चित्रात्मकता वक्रता, सूक्ष्मता आदि विशेषताओं से सजीव हो उठी है। इस काव्य की अभिव्यंजना-पद्धति नई और मौलिक है। उसमें अर्थ गांभीर्य और अर्थोत्कर्ष के गुण विद्यमान है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद की इस विशेषता को लक्ष्य कर लिखा हैं-"आभ्यंतर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की विशेषता है।"[64]

पन्त जी के काव्य में प्रयुक्त साक्षणिक पदावली का सौन्दर्य इसप्रकार से हैं, जिसमें-

(1) धूल की ढेरी में अनजान हैं मेरे मधुमय गान।

(2) मर्म पीड़ा के -हास

छायावादी कवियों की शैली में प्रतीकात्मकता और बिंबात्मकता की विशिष्ट छवि है। इन कवियों ने प्रकृति में ही अपने जीवन को निकटता से देखा है। अतः इनके प्रतीक भी प्राकृतिक उपकरणों से ही लिए गए हैं। 'सुख' के अर्थ में 'फूल', 'दुख' के अर्थ में 'शूल', 'प्रफुल्लता' के लिए 'उषा', 'उदासी' के लिए 'संध्या', 'मानसिक द्वंद्व' के लिए 'झंझा-झकोर' आदि प्रतीकों के माध्यम से ये कवि अपने मन की भावनाओं को प्रकट करते हैं।

निष्कर्ष :-

छायावादी काव्य ने हिन्दी साहित्य को नये भावों और नये शिल्पों से सज्जित सम्पन्न किया फिर भी वह काव्य-आंदोलन अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सका। डॉ. केसरी नारायण का कथन है-"उसका काव्य मन्दिर ऐसा बन गया, जिसमें सबका प्रवेश न था और उसका वह स्वयं ही पुजारी बना। पूजाविधि तथा पूजा के उपादान के चयन में वह पूर्ण स्वतन्त्र था। अपने अस्तित्व की पृथकता दिखाने के लिए वह नवीनता और मौलिकता के नाम पर असामान्य की ओर कभी-कभी बहुत दूर तक बढ़ गया। भाषा, भावना तथा भावाभिव्यंजना का सामान्य रूप कभी-कभी इसी कारण दिखाई पड़ता है।"[65] यह सब होते हुए भी छायावाद की उपलब्धियों में मानवता, आदर्श, जनचेतना, आधुनिकता, राष्ट्रीयता, नवीन सौन्दर्य चेतना, नई अभिव्यंजना पद्धति आदि के प्रति मान रहेगा। प्रमुख छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद, सुर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के काव्यों का समावेश होता है, जिन्होंने अपने छायावादी काव्य के माध्यम से आधुनिकता का बोध कराते हुए जनसंवेदना, जनचेतना, राष्ट्र-प्रेम तथा राष्ट्रीयता को आम व्यक्ति तक अपने विचार पहुँचाने का महान कार्य किया है।

4.6 प्रगतिवादी काव्य :-

प्रगतिवाद वह विचारधारा है जो मनुष्य को उसकी यथार्थ स्थिति से परिचित कराती है तथा आगे बढ़ने का सन्देश देती है। इस वाद का प्रादुर्भाव संसार में सन् 1917 ई. की रूसी क्रान्ति के बाद माना जाता है किन्तु प्रगति का यह सिद्धान्त प्रत्येक युग में अपना अस्तित्व बनाए रहा है। स्वीकृत परम्पराओं के घेरे में जब आदमी बन्द हो जाता है तब वह अपनी विवशताओं और बन्धनों को पहचानता है पर उन युग की श्रृंखलाओं को काटने को आतुर हो जाता है जिन्होंने उसके जीवन को

अभिशापवद बना दिया है। भारतीय साहित्य में इस बाद का प्रादुर्भाव सन् 1936 ई. के भारतीय प्रगतिवादी लेखक संघटना के प्रथम अधिवेशन में बाबू प्रेमचन्द्र द्वारा दिए गए अध्यक्षीय भाषण से माना जाता है किन्तु यूरोप में यह विचार धारा बहुत पहले ही प्रसार पा चुकी थी। इस वाद के मूल में दो प्रकार के चिन्तन विद्यमान है - मानवतावाद और यथार्थवाद।

4.6.1 **मानवतावाद** :-

पाश्चात्य साहित्य में मध्यकाल से पूर्व का समस्त चिन्तन प्लेटो, अरस्तू, होरेस आदि चिन्तकों के सिद्धान्तों पर आधारित था। 18वीं शती के सन्त तक इन्हीं दार्शनिकों के मतों का डंका पुजता रहा। उनमें न कोई नवीनता आयी, न संशोधन ही प्रस्तुत किए जा सके। प्राचीनता के प्रति विरोध भावना का सूत्रपात 18 वीं शती में हुआ जिसका विकास 19 वीं शती में युग को प्रभावित करने लगा। स्वच्छन्दतावादी विचारधारा ने प्राचीन शास्त्रीय बन्धनों के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह का शंख बजाया। परम्परा-विरोध की अग्नि सर्वत्र भड़क उठी। कला और साहित्य मानव के लिए हैं, वे किन्हीं जड़-सिद्धान्तों के लिए नहीं होते। अतः स्वच्छन्दतावादी कवियों और कलाकारों ने इन बन्धनों और विचारों का घेरा भी तोड़ा तथा कला-कला के लिए और पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता का मन्त्र उच्चारना प्रारम्भ कर दिया। इसी स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया में मानववाद का जन्म हुआ। यही मानववाद प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि में स्थित है।

मध्यकाल में उससे भी पहले के कैथोलिक धर्म-विश्वास में यह स्वीकृत था कि मानव-जीवन के समस्त मूल्यों और सुख-दु:ख की निर्धारक कोई अदृश्य सत्ता है। इससे मनुष्य की स्थिति हीन और उपेक्षापूर्ण होती गई। मनुष्य अपनी इस अस्तित्वहीन स्थिति से अधिक समझौता नहीं किए रह सका, अत: धर्म पर आधारित भावना के विरुद्ध सम्पूर्ण मानवता को ही मानव मूल्यों का प्रतिमान घोषित किया था। उन्होंने अदृश्य, अलौकिक और अज्ञान सत्ता का निषेध किया और अमानवीय यांत्रिक स्थिति से भी विद्रोह किया। उन्होंने मनुष्य में पाशविकता और मानवता दोनों तत्वों को स्वीकार किया और इस प्रकार मानव इन दोनों- पशु और मनुष्य के मध्य का तत्व माना गया जो बीच में है वह नीति, कला, सौदर्य-बोध और आचार-विचार का केन्द्रबिन्दु है।

4.6.2 यथार्थवाद :-

प्रगतिवाद का दूसरा सूत्र है- यथार्थवाद। मानव-जीवन का साहित्य में यथार्थ-चित्रण ही यथार्थवाद है। वह आदर्श पर ध्यान नहीं देता और मनुष्य की अच्छाई-बुराई, सुख-दुःख, गुण-दोष का यथार्थ अंकन करना ही हितकर समझता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यथार्थवादी साहित्यकार केवल व्यक्ति-दोषों को ही देखता है। यथार्थवादी वह है जो केवल नग्नता और कुरूपता ही नहीं, जीवन की सभी स्थितियों का ईमानदारी के दोनों पक्षों का चित्रण करता है। मनुष्य का जोवन जड़ परम्पराओं, कुरूपताओं, हीनताओं तथा अन्धविश्वासों के कारण निरन्तर पतनोन्मुख रहता है। इन अनुचित प्रवृत्तियों का संज्ञान होने पर ही वह उत्थान की ओर आगे बढ़ सकेगा, अतः मानव-जीवन के कटु यथार्थ से मनुष्य को परिचित कराना प्रगतिशील साहित्य का कार्य है। रूढ़िवादिता, धर्मांधता निरंकुश सत्ता, शोषण आदि से मुक्ति दिलाने तथा मानवतावादी विचारों का प्रचार-प्रसार करने में यथार्थवादी साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करता है।

यथार्थवादी साहित्य वास्तविकता का चित्रण करता है; अतः इसमें भूत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का चित्रण होना स्वाभाविक है। यथार्थवादी साहित्य में जीवन का सौंदर्य और उसकी विसंगतियाँ, कटुताएँ वैषम्य आदि का चित्रण रहता है। वह सामाजिक व्यवस्था के प्रति शक्तिशाली प्रतिक्रिया को प्रकट करता है। यह यथार्थवाद भी दो प्रकार का हो सकता है- समाजवादी यथार्थवाद और नीतिपर और प्रगतिवादी यथार्थवाद। प्रकृतिवादी यथार्थवाद नियति में विश्वास करता है और समाजवादी यथार्थवाद आशावान, सम्भावना नीति-सापेक्षता पर आधारित है, जो समाज को निश्चित दिशा में बदलने के लिए जागरूक रहता है।

4.6.3 प्रगतिवादी काव्य की पृष्ठभूमि :-

किसी भी साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति अचानक उपस्थित नहीं हो जाती। प्रत्येक युग की नई विचारधारा युगीन परिस्थितियों की देन होती है, जिसमें प्रमुख रूप से राजनीतिक तथा सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण होती है। इस निम्नानुसार प्रस्तुत किया गया है –

1. राजनीतिक पृष्ठभूमि :-

सन् 1857 ई. का प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम व्यापक राष्ट्रीय भावना के प्रभाव में सफल हो गया था। सन् 1857 ई. में भारतीय संघ नामक एक संस्था का जन्म हुआ, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना जागृत करना था। सन् 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय स्थापना एक अंग्रेत डॉ. ह्युम की। यह पहली संस्था थी, जिसका उद्देश्य अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक कार्य करना था, काँग्रेस ने कुछ समय बाद स्वराज्य की मांग शुरू कर दी। अंग्रेजी शासन ने कांग्रेस के ऐसे आदेश जारी किए, जिससे अंग्रेजो की सद्धावना से भारतीय जनता का विश्वास उठता गया। 1905 में कर्जन ने बंगाल के दो टुकड़े कर दिए। काँग्रेस ने शासन की विभाजक प्रवृत्ति का कड़ा विरोध किया। उस समय छोटे से जापान ने रूस जैसे महान् साम्राज्य को परास्त कर दिया था, अतः भारतीयों के मन में भी आत्म-विश्वास का उदय हो रहा था। कांग्रेस में ही एक गरम दल का उदय हुआ, जो अंग्रेजों को प्रसन्न रखने में विश्वास नहीं करता था। लाल-बाल-पाल नाम से प्रसिद्ध मे उग्रवादी नेता स्वतन्त्रता को जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। 1914 ई. में प्रथम विश्व-युद्ध हुआ। इसी समय महात्मा गाँधी ने भारतीय राजनीति का नेतृत्व सम्भाला। युद्ध समाप्त होने पर स्वतन्त्रता देने का वायदा अंग्रेज भूल गए और रोलट एक्ट द्वारा दमन चक्र प्रारम्भ हुआ। लगभग इसी समय सन् 1917 ई. में रूस में समाजवादी क्रान्ति हो चुकी थी, जिसने पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और शोषण के विरुद्ध मानववाद तथा समानता का उद्घोष कर दिया। कॉंग्रेस के आन्दोलन धीरे-धीरे किसानों और मजदूरों को भी व्यापक रूप से प्रभावित करने लगे थे। सन् 1931 के कराँची अधिवेशन में कांग्रेस ने समाजवादी विचारधारा में धागे बढ़ने का संकल्प लिया। सन् 1936 ई. में अखिल भारतीय कृषक सभा तथा श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना कॉग्रेस पार्टी ने ही कर दी। 1935 तक आते-आते समाजवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार हो चुका था। पण्डित नेहरू ने 1936 के लखनऊ प्रधिवेशन में कहा था- "चाहे समाजवादी सरकार की स्थापना सुदूर भविष्य की ही बात क्यों न हो और हम में से बहुत लोग उसे चाहे अपने जीवन में न देख सकें, किन्तु वर्तमान स्थिति में समाजवाद ही वह प्रकाश है जो हमारे पथ को आलोकित करता है।"[66]

भारत की इस राजनीतिक स्थिति का हमारे जीवन और साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा और साहित्य में नए मार्ग का संधान करने के क्रम में प्रगतिवादी साहित्य की ही परिस्थिति है।

2. सामाजिक पृष्ठभूमि :-

मुस्लिम शासनकाल में समाज की स्थिति बड़ी भयावह थी। अंग्रेजों के शासन में भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। मुस्लिम काल में धर्म-परिवर्तन का जो भय था, वह नए रूप 'ईसाई धर्म-प्रचार' के रूप में सामने आ रहा था। राजा राममोहन राय और उनके ब्रह्म समाज ने सती-प्रथा, बाल-विवाह को रोककर तथा विधवा-विवाह की योजना बनाकर समाज की जड़ता को तोड़ा। 1867 ई. में महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज ने भी भारतीय समाज को दोषमुक्त करके जगाने का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना करके हिन्दू समाज में प्रचलित कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, पाखण्डों, छुआछूत, जाति प्रथा, धर्म-परिवर्तन का कड़ा विरोध किया और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति की पुनर्स्थापना में योगदान दिया। दयानन्द ने वैदिक धर्म की आवश्यकता प्रतिपादित की। अंग्रेजी भाषा-साहित्य के समर्थक होकर भी उन्होंने अपने उपदेशों का माध्यम हिन्दी को ही बनाया। दयानन्द ने सामाजिक जीवन में क्रान्ति उपस्थित कर दी थी।

रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना के द्वारा भारत में और विदेशों में हिन्दू धर्म और जीवन मूल्यों की रक्षा का प्रयत्न किया। इससे भारतीय राष्ट्रीयता के लिए अनुकूल वातावरण बना। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक घोर तो स्वतन्त्रता संग्राम में गति आयी थी। दूसरी ओर समाज-सुधार का अभियान भी तेजी पर चलने लगा था। अंग्रेजी शिक्षा के कारण, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा यातायात के नए साधनों के कारण लोगों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ गया, जिससे जाति प्रथा शिथिल होने लगी। सन् 1906 ई. में भारतीय दलित-समाज की स्थापना हुई। फिर इण्डियन सोशल कांफ्रेन्स ने दलित वर्ग-उत्थान, स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह निषेध, जाति-भेद उन्मूलन का काम प्रारम्भ किया। सन् 1917 ई. में भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की मांग भी जागृति की सूचक थी। महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यों में हरिजनों का उत्थान तथा समाज-सुधार के अन्य कार्यक्रम भी शामिल थे।

इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य में मानव मात्र का बिना जाति, वर्ण भेद के उत्थान करने का उद्घोष इन्हीं सामाजिक स्थितियों की देन है।

3. आर्थिक पृष्ठभूमि:-

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर पाए थे और शासक बन बैठे थे। साथ ही बड़े उद्योगपति और पूंजीपति के रूप में भी वे विश्वविख्यात थे। भारत के कुटीर उद्योगों को उन्होंने समाप्त कर दिया। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना से भारतीय कुशल कारीगर और श्रमिक बेरोजगार हो गए। यातायात के जल और स्थल मार्गों ने उनके व्यापारिक एकाधिपत्य को बढ़ा दिया। अंग्रेजों की यानी नीति उन्मुक्त प्रतियोगिता और स्वतन्त्र बाजार नीति पर आधारित थी जिससे शोषण का भीषण चक्र चला। बड़ी मछली छोटी को निगलने लगी। सारे व्यापार पर कुछ ही व्यक्तियों का नियन्त्रण हो गया। ग्राम्य क्षेत्रों में भी कृषक मजदूर जागीरदारों तथा सामंतों के अत्याचारों में पिस रहे थे। साहूकार के ऋण-भार से कृषक की कमर टूट गई थी। तीन वर्गों की स्थिति दिखाई देने लगी थी। उच्च वर्ग उद्योगपतियों, पूँजीपतियों और जमीदार तथा मालगुजारों का था। मध्यम वर्ग में शिक्षित सरकारी कर्मचारी, छोटे व्यापारी, कारीगर आदि थे तथा निम्नवर्ग में कृषक और मजदूर थे। मध्यम और निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति प्रतिदिन शोचनीय होती जाती थी। इस वर्ग का असन्तोष को दिखाने के लिए पहला आंदोलन 1903 ई. में हुआ और बाद में सन् 1921 ई. में महात्मा गांधी ने सहयोग आंदोलन का श्रीगणेश किया, जिसके द्वारा विदेशी वस्तु का बहिष्कार और स्वदेशी प्रचार का नारा बुलन्द हुआ। मजदूर और कृषक संगठनों का जन्म हुआ जो उत्तम आर्थिक स्थिति के लिए संघर्ष में झुझने लगे।

4. साहित्यिक पृष्ठभूमि:-

हिन्दी के आधुनिक काल का प्रारम्भ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। वे सच्चे युग-द्रष्टा और युग-सृष्टा थे। उन्होंने समाज-स्थितियों का गहरा अध्ययन करके प्रगतिवादी विचारधारा के कुछ तत्व साहित्य में समारोपित कर दिए थे। उन्होंने अंग्रेजी की शोषक वृत्ति को उसी समय धिक्कारा था-

"अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥"[67]

बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण प्रेमधन, प्रताप नारायण मिश्र आदि साहित्यकारों ने यथार्थवादी साहित्य का सृजन करके इस दिशा में पहल कर दी थी। भारतीय समाज की बुराइयों को भी इस युग के लेखक सामने ला रहे थे।

द्विवेदी युग में भी समाज के प्रति लगाव का भाव बना रहा। इस युग में शासन के विरुद्ध क्षोभ और असन्तोष में वृद्धि हुई। महात्मा गाँधी के नेतृत्व ने समाज, राजनीति और संस्कृति को समान रूप में प्रभावित किया था। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' , नाथूराम शर्मा 'शंकर', महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक आदि अपने युग का यथार्थ चरित्रांकन भी कर रहे थे। गुप्त जी के 'भारत-भारती' में वर्तमान की हीन दशा का यथार्थ चित्रण प्रगतिवाद का प्रेरक ही रहा है-

"भरते हैं निज पेट, अन्य के घर को भरके,
घर पर हैं, पर बने हुए हम, पर के घर के
जाति हमारी दुखी न हो यदि हाथ पसारे,
पक्षपात का पकड़ लगे तो माथ हमारे।।"[68]

द्विवेदी युग के कवियों ने राजनीतिक पराधीनता, विपन्न आर्थिक स्थिति सामाजिक कुरीतियाँ और अशिक्षा पर खूब प्रहार कर,जनचेतना पल्लवित करने का कार्य किया।

इसके बाद हिन्दी-काव्य में जो युग आया, वह अत्यन्त स्वच्छन्द व्यक्तिवाद का युग था। द्विवेदी युग की मर्यादा, संयम, श्रृंगार-विरोध, नैतिकता, उपदेश-वृत्ति, समाज की रट के विरोध में अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म जैसा एक काव्य-आंदोलन हिन्दी में भी उठ खड़ा हुआ जिसे 'छायावाद' के नाम से जाना जाता है। इस काव्य-आंदोलन पर बंगला साहित्य का भी प्रभाव था। प्रसाद और निराला ने तत्कालीन बंगला साहित्य की आध्यात्मिकता और दर्शन का अध्ययन किया था। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और अरविन्द की विचारधारा छायावाद की मानववादी दृष्टि में झलकती है। छायावादी काव्य यद्यपि व्यक्तिवाद से ग्रस्त है किन्तु उसमें भी प्रगतिशीलता के चिह्न मिल जाते हैं। पन्त की 'परिवर्तन' तथा 'गुंजन' की कुछ कविताएँ, निराला की 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर', 'जागो फिर एक बार', प्रसाद की 'कामायनी' में वर्ग-संघर्ष का सुन्दर उदाहरण है। जहाँ सारस्वत प्रदेश में यांत्रिक सभ्यता ने सबकी रोजी-रोटी को प्रभावित किया है। छायावाद से ये कवि स्वयं उकता गए थे। पन्त की 1932 व 1934 के मध्य की रचनाएँ प्रारम्भिक से भिन्न हैं। उनकी कल्पना के पंख जल गए और विवश होकर उन्हें ठोस धरती पर आना पड़ा। निराला ने तो स्पष्ट ही घोषणा कर दी थी कि छायावाद के पास जीवन-निर्माण के योग्य सामग्री नहीं है, उत्तर छायावादी कवि नरेन्द्र शर्मा, भगवती चरण वर्मा, नवीन, बच्चन आदि ने भी वैयक्तिकता का विसर्जन यथार्थवादी, मानववादी प्रगतिशील

दृष्टिकोण में कर दिया था। इसी विचार ने छायावाद के उत्तर-काल में अनेक कवियों को यथार्थवादी काव्य-रचना के लिए प्रेरित किया था। यथार्थवादी काव्य का यह रूप पन्त, निराला, नवीन, दिनकर आदि कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। 1934 तक आते-आते हिन्दी काव्य वर्ग संघर्ष से प्रभावित होने लगा था। पूँजीवाद के अत्याचार, गाँधीजी की हरिजन उद्धार योजना, श्रमिकों में चेतना तथा प्रगतिवादी जनवादी विचारधारा आदि के कारण प्रगतिवादी काव्य के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी।

4.7 प्रगतिवादी काव्य की प्रवृत्तियाँ :-

प्रगतिवाद आलोचना और रचना के क्षेत्र में बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण लेकर आया। वह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही काव्य या साहित्य का मूल प्रयोजन मानता है। समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई देने वाली निर्जीव और पतनोन्मुखी विकृतियों को वे सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत गिनते हैं। सत्य तो यह है कि प्रत्येक युग में सामाजिक यथार्थ के दो रूप विद्यमान रहते हैं: एक रूप उन शक्तियों का है जो मरणोन्मुख हैं, जर्जर हैं, दूसरा रूप उन जीवंत शक्तियों का होता है जो भविष्य में अनंत विकास की सम्भावनाओं से संयुक्त दिखाई देती हैं और जीवन्त होती हैं। प्रगतिशील साहित्य भिन्न-भिन्न युगों के यथार्थ का मूल्यांकन करता है और युग-सम्बन्धों से कटी किसी काल्पनिक मान्यता को नकली और निर्जीव मानता है। प्रगतिवादी साहित्यकारों के अनेक दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुए हैं। उनकी प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों को हम इन कुछ शीर्षकों में विभक्त करके भली प्रकार परख सकते हैं।

(1) समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश :-

कार्ल मार्क्स के विचारों को लेनिन ने मूर्त रूप दिया था। सम्पूर्ण देश अधिनायकवाद और एकतंत्रीय शासन के शिकंजे में छटपटा रहा था। रूसी जनता को उनकी वास्तविक स्थिति से अवगत कराया गया, जिससे उनमें व्यवस्था के विरुद्ध असन्तोष और आक्रोश भर गया तथा वे अव्यवस्था तथा दुरावस्था को मिटाने के लिए क्रान्ति करने को तैयार हो गए। प्रत्येक देश और जाति का प्रगतिशील साहित्य इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ चित्रण करके समाज में असन्तोष के बीज बो देता है। हमारे देश की सामाजिक स्थिति भी रूस से भिन्न नहीं थी। अंग्रेजी शासन की जड़ें ही

शोषण पर आधारित थीं। समाज की व्यवस्था के नाम पर जर्जर रूढ़ियाँ, रीतियाँ, अन्ध-विश्वास आदि ने व्यक्ति को भी दबा रखा था। प्रगतिवाद से पूर्व गांधीजी के सामाजिक रचनात्मक कार्यों ने समाज की पतनोन्मुखता को उजागर कर दिया था कि उसमें सुधार की प्रत्यन्त प्रावश्यकता थी दिनकर, नवीन आदि कवियों ने समाज की यथार्थ अवस्था का चित्र अकित करने में सफलता प्राप्त की। समाज में उपस्थित ईश्वर की सत्ता, आत्मा, परलोक, भाग्यवाद, धर्म, स्वर्ग-नरक, प्रारब्ध, आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-शूद्र, गोरा-काला, मन्दिर-मस्जिद, गीता, कुरान, अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों की व्यर्थता का बोध कराकर इनके विरुद्ध असन्तोष और आक्रोश को जन्म दिया-

"भ्रान्त है अतिरंजित इतिहास ?
व्यर्थ है गौरव गान
दर्प से एक महान, अपर मुख म्लान
किसी को आर्य, अनार्य
किसी को यवन
किसी को हूण यहूदी द्रविड़
किसी को शीश किसी को चरण
मनुज को मनुज न कहना आह!"[69]

(2) मार्क्सवाद का गुणानुवादः-

प्रगतिवादी विचारधारा का आधार ही कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद है। रूस की तरह हमारे देश में भी वर्ग संघर्ष की शुरूआत हो गई थी। शासक-शासित, शोषक-शोषित, अमीर-गरीब, मिल मालिक-श्रमिक, जमींदार-कृषक, उच्चवर्ग-निम्नवर्ग आदि का संघर्ष चल रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी और उससे सम्बद्ध कवि साहित्यकार मार्क्स के सिद्धान्तों का काव्य के माध्यम से प्रचार कर रहे थे और उसके परिणामस्वरूप विषमता के अन्त का दृश्य देखने को लालायित थे। कम्युनिस्ट पार्टी से प्रतिबद्ध साहित्यकारों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार अपने काव्य में किया था। सुमित्रानन्दन पन्त की ये पंक्तियाँ है-

"युग-युग से रच शत-शत नैतिक बन्धन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन।

विद्रोही हो उठा माज पशु दर्पित
वह न रहेगा अब तब युग में गर्हित।
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न
रूढ़ि नीतियों का गत निर्मम शासन।
धन्य मार्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर ॥"[70]

(3) **रूस और उसके शासन की प्रशंसा :-**

प्रगतिवादी काव्य में केवल मार्क्स की विचारधारा ही नहीं, अपितु मार्क्स की विचारधारा के अनुसार स्थापित राज्य एवं समाज व्यवस्था वाले सर्वप्रथम और प्रमुख कम्युनिस्ट देश रूस की भी प्रशंसा की गई है। रूस इस प्रशंसा का श्रेय इसलिए लेता है कि वहाँ वर्गहीन समाज की स्थापना करने वाला शासन है जिसके अन्तर्गत कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता, व्यक्तिगत पूंजी का दानव समाज के दुर्बल वर्ग को नहीं निगल सकता तथा सब लोग समान भावों और समान क्रियाशीलता के द्वारा मानव मात्र के मुखों का संधान करने में लगे हैं। वहाँ की साम्यवादी शासन व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए शिवमंगल सिंह सुमन कहते हैं-

"ऐसा वैसा दुर्ग नहीं यह, मजलूमों का प्यारा है।
यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
लाल फौज ने लाल खून से धाज बनाई लीक है।।
इस जागृति के स्वर में जन-जन कण-कण आज शरीक है,
दस हफ्ते दस साल बन गए, मास्को अब भी दूर है।।"[71]

(4) **समाज का यथार्थवादी चित्रण :-**

प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति समाज का यथार्थवादी चित्रण करना है। यही प्रवृत्ति उनके सामाजिक असन्तोष को जगाती है। प्रारम्भ से ही हिन्दी काव्य में समाज यथार्थ स्थान आता रहा है। भक्तिकालीन कवियों में सूर और तुलसी, कबीर और नानक ने समाज को यथार्थ रूप में अंकित किया और आदर्श की कामना की। तुलसी का कलियुग वर्णन तो घोर यथार्थ का ही है। यह प्रवृत्ति आधुनिक काल में और स्पष्ट और मुखर हुई है। भारतेन्दु और द्विवेदी युग के कवियों ने

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हीनता का यथार्थ चित्रण किया। छायावादी कवियों ने भी जब कभी उनकी नभ-चारिणी कल्पना को झपकी आ जाती थी, तब उन्होंने भी यथार्थ का विशद् चित्रण अपने काव्य में किया है। सामाजिक यथार्थ के चित्रण में निराला बहूत आगे थे। वस्तुतः उन्हें हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद का जन्मदाता कहा जा सकता है। उनकी भिक्षुक कविता समाज की दयनीय स्थिति तथा जनवादी विचारों को अंकित करती है-

"पन्त ने भी समाज के ऐसे अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं-
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।।
झाड़-फूस के विवर, यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन थे ? बुद्धि-प्राण नारी नर ?"[72]

(5) राष्ट्र एवं विश्व के प्रति संवेदनशीलता :-

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलने वाले असहयोग आन्दोलनों ने भारतीय राष्ट्रीयता को अखिल भारतीय रूप प्रदान किया। भारतेन्दु-युग से चली आ रही राष्ट्रीय काव्य-धारा प्रौढ़ता पाने लगी थी। माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि द्वारा रचित राष्ट्र-प्रेम की कविताएँ आदर्श का काम कर रही थीं। स्वच्छन्दतावादी, छायावादी कवियों ने भी राष्ट्र-प्रेम को अपने काव्य में स्थान दिया। इसी समय मार्क्सवादी विचारधारा ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। इसमें राष्ट्रप्रेम भी था और संसार के समस्त शोषितों के प्रति विश्व-बन्धुत्व का भाव भी था। भारत सदा से ही वसुधैव कुटुम्बकम् का समर्थक रहा है। अतः मार्क्सवाद का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण यहाँ के हिन्दी कवियों को भा गया था।

संसार को साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की जकड़न से मुक्त कराने का आग्रह प्रगतिवाद में है। हमारे देश में और अन्य देशों में शोषण अत्याचार दमन आदि का रूप समान ही था। अतः प्रगतिवादी कवि ने राष्ट्र-प्रेम के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम की भी पुरजोर अभिव्यक्ति की। इनकी यह अन्तरर्राष्ट्रीय दृष्टि विशेषतः 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ' तक ही सीमित रही। यह भाव कहीं पर व्यापक मानववाद के परिप्रेक्ष्य में भी आया है-

"नहीं छोड़ सकते है यदि जन,

देश, राष्ट्र, राज्यों के हित नित्य युद्ध करना,
हरि जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना,
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर हम
अमरीकन रूसी औ. इंगलिश कहलाना
देशों में आए परा निखर
पृथ्वी हो सब मनुजों का घर
हम उनकी सन्तान बराबर।"[73]

(6) समस्याओं के प्रति जागृत दृष्टि :-

मार्क्सवादी विचारधारा में समसामयिक समस्यों के प्रति सजगता रहती है। वर्तमान की अर्थ-व्यवस्था समाज की हीन दशा के मूल में होती है। प्रगतिवादी काव्य में जन-जीवन अंतर्गत आर्थिक समस्याओं को लेकर अनेक कविताओं का सृजन किया गया। डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है- "समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्त्व है, जो जीवित और उदीयमान तत्त्व है, इनके बाहर सौन्दर्य की सत्ता नहीं। जो जीर्ण और मरणशील हैं, उनके लिए सुंदरता मृत्यु में है, न्याय और अत्याचार के फरेब को ढूंढने में है, भविष्य से त्रस्त होने पर क्षण में ही जीवन की साधें पूरी करने में है। जो जीवित और उदीयमान हैं, उनके लिए सुन्दरता सत्य में है, मृत्यु को जीतने में है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफनाने में है। सुख और शांति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने में है। साहित्य उस मंजिल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन है।"[74]

मार्क्सवादी दृष्टि में सामयिक समस्याओं का अर्थ है भौतिक परिस्थितियों में उत्पन्न जन-जीवन की समस्याएँ। प्रगतिशीलता की इमारत भौतिक संबंधों और विचारों की नींव पर खड़ी है। इसलिए प्रगतिवादी काव्य में अपने युग की भौतिक परिस्थितियों का चित्रण है- केदारनाथ अग्रवाल की कविता द्दष्टव्य है-

"बाप बेटा बेचता है,
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनीति बर्बर

राष्ट्र सारा देखता है।

बाप बेटा बेचता है।"[75]

(7) साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद का विरोध :-

प्रगतिवादी काव्य किसी भी प्रकार के एकाधिकार का विरोधी है। यह चाहे साम्राज्यवाद हो, पूँजीवाद हो या सामन्तवाद हो। ये तत्त्व समाजवाद के विरोधी हैं। सामाजिक विषमता, अन्याय, अत्याचार, शोषण और दमन की यन्त्रणा देने वाले यही तत्त्व है। इन्हीं के कारण समाज में वर्ग-विभाजन हुआ है। शोषक और शोषित का अस्तित्व इन्हीं वादों ने उत्पन्न किया है। दरिद्रता और विषमता इन्हीं की देन है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाज के इसी वस्तुपरक सत्य पर आधारित है। इसी भावना को व्यक्त करनेवाला, इन प्रवृत्तियों का खुलकर विरोध करने वाला काव्य ही प्रगतिवादी काव्य है। भारतेन्दु युग में भी कवियों ने शोषकों को ललकारा था। भगवती चरण वर्मा साम्राज्यवाद का पर्दाफास करते हुए कहते हैं-

"वह राज-काज जो सधा हुआ है, इन भूखे कंगालों पर।

इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है, तिल-तिल मिटने वालों पर।"[76]

(8) शोषितों के प्रति सहानुभूति :-

प्रगतिवादी काव्य में कृषक और मजदूर को शोषितों का मुख्य प्रतिनिधि मानकर उनके प्रति प्रति अतिशय सहानुभूति प्रकट की गई है। मार्क्सवाद में मजदूर का विशेष स्थान रहा है। भारतीय प्रगतिवादी कवि भी जो जमींदार, मिल मालिक और शासन कृषक-मजदूर का शोषण करते रहते हैं, उन मजदूरों को शोषण के विरुद्ध अपने काव्य के माध्यम से जनचेतना देते रहे हैं। कृषक मजदूर की दीन-हीन दशा को हिन्दी के प्रगतिवादी कवि ने अपने काव्य का आलंबन बनाया है। निराला ने तो अपनी बादल राग जैसी प्रकृति-प्रेम की कविता में भी शोषण के विरुद्ध बिगुल बजा दिया है-

"चूस लिया है उसका सार

हाड मात्र ही है आधार

ए, जीवन के पारावार।

एक अन्य प्रगतिवादी कवि कहता है-

वस्त्र के अंबार रचता जा रहा हूँ,

पर न टुकड़ा एक तन को पा रहा हूँ।"[77]

(9) नई व्यवस्था का आह्वान :-

प्रगतिवादी काव्य में पुरानी सड़ी-गली व्यवस्थाओं को छोड़कर नई युगानुरूप व्यवस्थाएँ अपनाने का आह्वान किया गया है। कुछ समय तो परिवर्तन की पुकार एक फैशन की सीमा तक बढ़ गई थी। इस परिवर्तन में अच्छा-बुरा उपयोगी-अनुपयोगी सबको बदलने का अविवेक समा गया था। कुछ सामाजिक व्यवस्थाएँ आज भी उपयोगी हो सकती है, किन्तु प्रगतिवादियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया और परिवर्तन के प्रवाह में सभी व्यवस्थाओं को नया करने का संदेश दिया। लेनिन ने कहा हैं- "जो सुन्दर है, वह चाहे जितना पुरातन हो, हमें ग्रहण करना चाहिए और उससे भावी विकास में सहायता लेनी चाहिए। हमें नवीन के प्रति केवल इसलिए आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिए कि वह नवीन है। कला के क्षेत्र में यह वस्तुतः पाखण्ड है।"[78]

पन्त ने इसलिए अनुपयोगी पुरातन को चले जाने के लिए कहा ताकि नया जीवन लहलहा सके- 'द्रत झरो जगत के जीर्ण पत्र।' किन्तु अचल सारे समाज को ही ध्वस्त करने का आग्रह करते हैं-

"हो यह समाज चिथड़े चिथड़े
शोषण पर जिसकी नींव पड़ी।"[79]

यह तो बड़ा विचित्र लगता है क्योंकि सम्पूर्ण समाज का प्रस्तित्व मिटा देने से शोषण समाप्त नहीं होगा।

(10) बौद्धिकता और व्यंग्यात्मकता:-

प्रगतिवादी काव्य में बौद्धिकता और व्यंग्यात्मकता की प्रवृत्ति भी खूब है। यह बौद्धिकता मार्क्स के विचारों का तर्क-वितर्क द्वारा शोषण करने तक ही सीमित है जो लोग मार्क्स के विचारों से अपरिचित है, उनके लिए इस काव्य के बौद्धिक तर्क व्यर्थ हैं । इस प्रकार यह बौद्धिकता विशिष्ट कोटि की है, इसलिए इसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। व्यंग्य की दृष्टि से निराला की 'कुकुरमुत्ता' काव्य संकलन को देखा जा सकता है। कवि अशोक का व्यंग्य-

"जै हो राधारानी की, या जिसने मनमानी की।
राधा या धनुराधा से छिपकर अनने दादा से
कैसी बढ़िया चाल की, बलिहारी गोपाल की।"[80]

इस प्रकार प्रगतिवादी कवि ने जीवन के छद्म को भी व्यंग्य का विषय बनाया है ।

(11) क्रान्ति का उद्घोष:-

प्रगतिवादी कवियों ने सामन्ती, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं को बदलने के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है। वे साम्यवादी विचारों के अनुसार रक्त क्रान्ति से भी नहीं डरते, बल्कि उसे ही अभीष्ट समझते हैं। केवल परम्पराओं और रूढ़ियों का विनाश ही पर्याप्त नहीं है, शोषक वर्ग का ध्वंस वांछनीय है। पूँजीपतियों के गगनचुम्बी प्रासादों के विरुद्ध वे क्रान्ति का बिगुल बजाते हैं-

"उठ समय से मोर्चा ले
धूल धूसर वस्त्र मानव
देह पर फबते नहीं हैं
देह के ही रक्त से तू
देह के कपड़े रंगा ले।।"[81]

(12) कला-सम्बन्धी मान्यताएँ :-

प्रगतिवादी काव्य ने अनुभूति-पक्ष में तो सर्वथा नई उद्भावनाएँ ही की थी, उसका अभिव्यक्ति पक्ष भी प्रगतिवादी विचारधारा का पोषक रहा है। प्रगतिवादी कवि अपने विचारों को सरल निरलंकृत भाषा में आम आदमी तक पहुंचाना चाहता है। पन्त ने ही यह घोषणा कर दी थी-

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार।।"[82]

प्रगतिवादी कवि समाज रचना के जिन माध्यमों को अपनाना चाहता है, वे सामान्य व्यक्ति की चेतना को झकझोरने वाले हैं। इसी दृष्टि से अपने अनुभूति के विषय को वे कला के घेरे में बांधने के पक्षपाती नहीं है। उसमें बोधगम्यता, सरलता और सहजता है। भाषा, छन्द, अलंकार प्रतीक आदि सभी कला के मापदण्ड अपनी सरलता में ही इस काव्य का सौन्दर्य बढ़ाते हैं। इस काव्य में छायावादी काव्य की संस्कृतनिष्ठ पदावली क्लिष्ट प्रतीक योजना, लाक्षणिकता आदि के प्रति विद्रोह किया गया है। जैसे सरल जन साधारण के योग्य भाव, वैसी ही भाषा संगीतात्मकता भी इसमें कम है। रूढ़ उपमानों का परित्याग करके नए-नए रूपक और उपमानों से इस काव्य का कलात्मक सौन्दर्य बढ़ाया गया है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य का यदि हम अवलोकन करें तो यह ज्ञात होता है कि आधुनिक युग का चतुर्थ काव्योत्थान प्रगतिवाद युग रहा है, जिसमें विभिन्न प्रगतिवादी कवियों ने अपने काव्यों के माध्यम से जनवादी संवेदना तथा चेतना से जनसामान्य को चिर-परिचित कराने का महति कार्य अलग-अलग शैली के माध्यम से किया है। "प्रगतिवादी कवियों में अनेक नामों की गणना की जाती है जिनमें नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, नागार्जुन, रांगेय राघव और रामदयाल पाण्डेय का उल्लेख किया जाता है। शिवदान सिंह चौहान का स्थान प्रगतिवाद प्रेरित नये जीवनादर्श और जन मंगल के उत्साह भरे गीतकारों में है और गिरिजाकुमार माथुर, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', नेमीचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आदि को व्यक्ति चेतना से आक्रांत प्रयोगवादी कवि की संज्ञा देकर यह स्वीकार किया है कि ये कवि प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके और इन्होंने नयी पीढी के तरुण प्रगतिशील कवियों को भी स्वरूप और ठोस विचार-वस्तु देने की प्रेरणा दी।"[83] विश्वभर मानव ने 'नयी कविता' में प्रगतिवाद को एक स्वतंत्र काव्य प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हुए नागार्जुन, रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', मुक्तिबोध, त्रिलोचन शास्त्री, नेमीचन्द्र जैन और भारतभूषण अग्रवाल की गणना इस कोटि में की है। डॉ. प्रेमशंकर ने भी लगभग इन नामों को प्रगतिवादी काव्य की श्रेणी में रखने का प्रयत्न इस आधार पर किया है कि इन कवियों ने सामाजिक यथार्थ को व्यक्ति यथार्थ की अपेक्षा अधिक ग्रहण किया है और इस नये यथार्थ को विविध सरणियों से ले जाने का प्रयत्न किया है। इतने कवियों का मार्क्सवादी चेतना से प्रभावित होना और एक साथ सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्ति देना एक विशिष्ट काव्य प्रवृत्ति का प्रमाण है। भारतीय बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के लिए सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं से उस समय आक्रांत था। कहना न होगा कि सामाजिक समस्याओं के समाधान मार्क्सवादी- जीवन दर्शन ने एक नवीन पथ को प्रशस्त किया।

निष्कर्ष:-

आलोचकों के विमर्श तथा प्रगतिवादी कवियों की मौलिक रचनाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर छायावृदी काल के हिन्दी के कुछ कवियों ने प्रगतिवादी चेतना को

अभिव्यंजना देने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रगतिवाद एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट काव्य प्रवृत्ति के रूप में मान्य एवं स्वीकृत है। इसका निजी वस्तुगत स्वरूप है। इसमें रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण है, लाल सबेरा, लाल किरण, लाल सेना आदि का चित्रण है। पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध है, शोषित के प्रति सहानुभूति तथा शोषक के प्रति आक्रोश की भावना है, धरती के प्रति ममता भी है। कृषक तथा मज़दूर के लिए विशेष मोह है, भावुकता की अपेक्षा बौद्धिकता के प्रति आग्रह है, आदर्श के स्थान पर यथार्थ को आत्मसात करने का प्रयत्न है। वास्तव में प्रगतिवादी कवि उसे स्वीकार करना होगा, जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो, जो सामाजिक चेतना को समाजवादी चेतना में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील हो, जिसमें सामाजिक यथार्थ को समाजवादी धरातल पर ग्रहण करने का आग्रह हो। वह जीवन विकास के पथ को द्वंद्वात्मक भौतिक वाद के आधार पर प्रशस्त करने का पक्षपाती हो और इस पथ के निर्माण के लिए काव्य को अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का समर्थक हो।

4.8 प्रयोगवादी काव्य :-

उत्तर छायावादी युग की दूसरी काव्य धारा वैयक्तिक कविता का विकास है जिसका अभी तक अंतिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है। इसलिए इसे प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, रूप वाद, प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। तार-सप्तक में अलग-अलग विचारधाराओं के कवि थे, लेकिन सब स्वयं को वादों से मुक्त मानते थे। अज्ञेय ने तो 'प्रयोगवाद' शब्द का विरोध दूसरे तार-सप्तक में भी किया था - "प्रयोग अपे आप में कोई वाद नहीं है। हम वादी रहे हैं, न प्रयोग अपने आप में कोई इष्ट या साधन है। ठीक इसी तरह कविता का कोई भी वाद नहीं है। कविता भी अपने आप में इष्ट या साधन नहीं है, अत: हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें कवितावादी कहना।"[84] इस प्रकार अज्ञेय ने प्रयोग को 'सत्य को जानने' तथा प्रेषण की क्रिया और साधनों को जानने का दोहरा साधन बताया। तार-सप्तक की रचनाओं को रूप और वस्तु की दृष्टि से अलग देखकर छायावादी आलोचकों ने उसे अनायास 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दे डाली।

इसी बीच नलिनीविलोचना शर्मा, केसरी कुमार, नरेश इन तीन कवियों ने प्रपद्यवादी की घोषणा की। उनके अनुसार - "प्रगति या प्रयोग शब्द के प्रति मोह की आवृत्ति न हो और नये काव्य को स्वीकार किया जाए, इसलिए इन कवियों ने अपने वाद के प्रपद्यवाद और नाम के लिए (नकेन) सभी नामों के प्रथम अक्षर से स्वीकार किया।"[85] इसप्रकार हिंदी साहित्य क्षेत्र में यह धारा आगे बढ़ी जो नि:संकोच प्रयोग को अपना साध्य मानती है।

अज्ञेय को प्रयोगवाद का पुरस्कर्ता माना जाता है। सन 1943 में सात कवियों की कविताओं का संकलन 'तार सप्तक' नाम से प्रकाशित हुआ। 'तार सप्तक' के वक्तव्य में अज्ञेय ने साधारणीकरण की समस्या पर विचार करते हुए प्रयोग के महत्व को प्रतिपादित किया है। 'तार सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जी ने लिखा हैं - "प्रयोग सभी कालों में कवियों ने किये हैं। यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है, किन्तु कवि क्रमशा अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए है उनसे पुत्रा और नयी आगे बढकर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए, जिन्हें अभी नहीं गया या अभेद्य मान लिया गया है।"[86] अधिकांश विद्वान प्रयोगवाद का प्रारंभ सन् 1943 में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से मानते हैं और नयी कविता से पूर्व तक इसका प्रसार माना गया है। हिन्दी के अधिकांश प्रयोगवादी कवि आगे चलकर नई कविता' के रचनाकारों के रूप में स्थापित हो गये। हिन्दी काव्य की प्रयोगवादी धारा के विकास में मनोविज्ञान, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, भौतिकवाद, साम्यवाद आदि के विचार सूत्र समन्वित रूप में अनुप्रेरक रहे हैं। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नरेश मेहता आदि हिन्दी के प्रमुख प्रयोगवादी कवि है। प्रयोगवादी काव्य का विकास नहीं हो सका और यह काव्यधारा मध्य में ही स्थगित हो गयी। इसके कई कारण रहे यथा प्रयोगवादी कविता बौद्धिकता से आत रही. अनर्गल प्रयोग, अनुभूति का अभाव, जीवन को विकृत या खंडित रूप में देखने की प्रवृत्ति आदि। वास्तव में प्रयोगवादी कवि जीवन के नवीन मूल्यों के प्रति अग्रशील होते हुए उन्हें स्थापित नहीं कर सकें।

डॉ. नामवर सिंह का मत है कि "आजकल प्रयोगवादी काव्य को वाद-विशेष से मुक्त करने के लिए तथा व्यापक काव्य वृत्ति का स्वरूप देने के लिए इसे नयी कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है।"[87] श्री शिवदान सिंह चौहान को भी प्रयोगवादी काव्य में मनुष्य के जीवन-बोध को खंडित

और विकृत बनाने का ही उद्देश्य दीखता है। प्रगतिवादी आलोचक नयी कविता को भी प्रयोगवादी काव्य प्रवृत्ति का रूप ही मानते हैं। प्रयोगवादी काव्य में बुद्धि को राग के स्थान पर स्थापित किया गया है जिसके फलस्वरूप उसमें रस का अभाव आ गया है। आलोचकों ने प्रयोगवादी काव्य तथा नयी कविता को काव्य प्रवृत्तियों का स्वतंत्र रूप देना स्वीकार किया है और उनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं को मूल्यांकन किया है। डॉ. प्रेमशंकर ने इसका नवीन यथार्थ की दूसरी धारा के रूप में विमर्श किया है जिसमें सामाजिक चेतना को महत्व न देकर वैयक्तिक चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। यह काव्यधारा मनोविश्लेषण की भूमिका पर भी प्रतिष्ठित है।

अनेक सीमाओं के बावजूद प्रयोगवाद का एक विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व है। प्रयोगवाद की यह बहुत बड़ी देन है कि उसने कविता को मृत रूढ़ियों की यंत्रणा से मुक्त किया और कवियों में आत्मविश्वास उत्पन्न किया कि परंपरागत काव्य-पद्धतियों से कटकर भी काव्य-रचना हो सकती है। अनेक प्रयोगवादी कवि ही नये कवियों के रूप में उभर सामने आये हैं और मूल्यों की दृष्टि से उनकी देन युग सापेक्ष एवं बहुमूल्य है।

4.8.1 प्रयोगवाद का स्वरूप :-

प्रयोगवाद का अर्थ है - 'नई बात कहना अथवा पुरानी बात को नये ढंग से कहना। 'प्रयोग' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन 1946 में शमशेर बहादुरसिंह ने किया था। परंपरावाद और प्रगतिवाद के विरूध्द प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवाद का जन्म हुआ। इसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में आधुनिक युग के जीवन की विषाक्त और जर्जर परिस्थितियाँ थी। प्रयोगवाद शब्द कई वर्षों तक रूढ़ नहीं हो पाया। 1951 में एक रेडिओ गोष्ठी हुई थी, जिसमें सुमित्रानंदन पंत, भगवतीचरण शर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती तथा शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने भाग लिया था। इस गोष्ठी में प्रयोगवाद शब्द का प्रयोग प्रायः नवीन प्रवृत्तिवाली काव्य-धारा के लिए किया गया था। सुमित्रानंदन पंत ने प्रयोगवादी कविता का आरंभ जयशंकर प्रसाद से माना था।

4.8.2 प्रयोगवाद की परिभाषाएँ :-

अनेक कवियों ने अपने-अपने मतानुसार प्रयोगवाद की परिभाषा की है, जो इसप्रकार है-

1) लक्ष्मीकांत वर्मा :-

"प्रयोगवाद ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता है। यह जागरूकता व्यक्ति सत्य और व्यापक सत्य के स्तरों पर व्यक्ति की अनुभूति की सार्थकता को भी महत्वपूर्ण मानती है। प्रयोगवाद व्यक्ति अनुभूति की शक्ति को मानते हुआ समष्टि की संपूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न है।"[88]

2) धर्मवीर भारती :-

"प्रयोगवादी कविता में भावना है किंतु हर भावना के आगे एक प्रश्नचिन्ह लगा है। इसी प्रश्नचिन्ह को आप बौद्धिकता कह सकते है। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठी और यह प्रश्नचिन्ह उसी का ध्वनिमात्र है।"[89]

3) गिरिजाकुमार माथुर :-

"प्रयोगों का लक्ष्य व्यापक है, व्यापक-सामाजिक सत्य के अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्व बोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।"[90]

(4) अज्ञेय :-

"प्रयोगवाद कोई वाद नहीं होता प्रयोग अपने-अपने में इष्ट नहीं है, यह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है। जिसे कवि प्रेरित करता है, दूसरे यह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है।"[91]

4.8.3 कवि आलोचकों की दृष्टि से प्रयोगशील काव्य :-

1) डॉ. धर्मवीर भारती :-

"इस नई कविता को स्वस्थ जनवादी कविता की विकास श्रृंखला की कड़ी मानते है। उदा. - नयी परिस्थितियों में, नई अनुभूति में, नया काव्य, नई कल्पना, नवीन खोज आवश्यक है।"[92]

2) रामेश्वर वर्मा :- "नवीनता के कारण जीवन और सौंदर्य के मानदंड बदलते है, अतः नवीन सामाजिक क्रम में इसे खोजना चाहिए। नवीनता सदा अपनायी जाती है, इसलिए प्रयोगवादी कविता नवीन पस्तुली नवीन शिल्पकार नवीन प्रतीक उपमानों का आग्रह करती है।"[93]

3) **डॉ. देवराज :-**

"बदलते जीवन के लिए नई संभवानाओं और नई मूल्यों का प्रयोग करना चाहिए।"[94]

4) **अज्ञेय :-**

"नये सत्यों को नये यथार्थ के साथ जीवित मोघ से जुड़ना चाहिए।"[95]

5) **गिरिजा कुमार माथुर :-**

"उक्ति वैचिभ्य और नव-नवीन प्रयोगों का अन्वेषण हो।"[96]

4.8.4 **प्रयोगवाद के मुख्य उद्देश्य :-**

प्रयोगवाद यह व्यक्तिवादी विचारधारा है, जो अपने नए-नए प्रयोगों और कला चमत्कारों द्वारा अपनी वैयक्तिक कुंठाओं का प्रकाशन कर पाठकों को आकर्षित करता है। प्रयोगवादी ऐसे साहित्य का निर्माण करते आये है, जो जनवादी हो या न हो परंतु विलक्षण, अद्भूत, दुरूह और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक चकित हो जाए। वे समझ पाए या न समझ पाए परंतु यह आवश्यक कहें कि इसमें नई बात कही है, यह प्रयोगवाद का उपरी उद्देश्य है। उसका आंतरिक उद्देश्य मात्र कलाकारों और पाठकों को समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से मुक्त कर उन्हें घोर व्यक्तिवादी बना देता रहा है।

प्रयोगवादियों ने प्रयोगवाद के उद्देश्य या उद्देश्यों की व्याख्याएँ कर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम प्रयोगवाद के प्रमुख व्याख्याता लक्ष्मीकांत वर्मा का उदाहरण दे सकते हैं - "प्रयोग की अनुभूति उन क्षेत्रों की अन्वेषण प्रवृत्ति है जिन्हें अभद्य या निरपेक्ष या अन्वेषणोत्तर मानकर छोड़ दिया गया था। प्रयोगवाद 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की ओर बढने की बौद्धिक जागरूकता है। यह जागरूकता व्यक्ति 'सत्य' और 'व्यापक सत्य' के स्तरों पर व्यक्त की अनुभूति की सार्थकता को भी महत्वपूर्ण मानती है। प्रयोगवाद व्यक्ति अनुभूति की शक्ति को मानते हुए समष्टि की संपूर्णता तक पहुँचने का प्रयत्न है। परंपरा केवल यही सिखाती है कि व्यक्ति अनुभूति का कोई विशेष महत्व नहीं है, महत्व की वस्तु व्यापक सत्य, समष्टि का सत्य ही है। इसलिए परंपरा अपनी अन्वेषण और परीक्षण को महत्वहीन मानती है। परंपरावादी स्थापित सत्य को आगे बढ़ने में शंकाएँ प्रस्तुत करता हैं। प्रयोगवाद व्यक्ति सत्य और व्यापक सत्य अथवा व्यक्ति अनुभूति और समष्टि अनुभूति को एक

ही सत्य के दो रूप मानती हैं। प्रयोगवाद एक ओर व्यक्ति अनुभूति को समष्टि अनुभूति तक उत्सर्ग करने का प्रयत्न है तो दूसरी ओर यह रूढ़ि का विरोधी और अन्वेषण का समर्थक है।"[97]

नवीनता का सबकुछ नए ढंग से, नई भाषा और नए रूप में प्रस्तुत करने का मोह ही इस काव्य की दुरूहता, अस्पष्टता और समाज-निरपेक्षता का प्रथम कारण रहा है। कथ्य को महत्व न देने के कारण रहा है। कथ्य को महत्व न देने के कारण इस प्रयोगवादी काव्य में छायावादी सुंदर शब्द-विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्त-विधायिनी कल्पना का अभाव रहा है। सर्वत्र नवीनता की खोज में लगे रहना ही इनका एक मात्र लक्ष्य है। ये सदैव ऐसी ही उपमानों, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों प्रतीकों और शब्दों की खोज में लगे रहते हैं, जो पाठकों को चमत्कार कर देते है। भले ही उनके साथ भावों का तादात्म्य न हो सके। इस प्रयत्न में भाव और विचार क्रमबद्ध रूप में आगे नहीं बढ़ पाते है। संवेदना, उलझकर रह जाती है। संवदना का यह उलझाव और विचार का यह क्रम भंग-प्रयोगवाद की बहुत बड़ी निर्मलता है।

4.9 प्रयोगवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :-

1) अतिकल्पनाशीलता तथा अतियथार्थवाद :-

प्रयोगवाद में जैसे- सामाजिक यथार्थवाद अथवा वस्तविक यथार्थवाद की प्रवृत्ती वैसे प्रयोगवाद में अतिशय यथार्थवाद है और फ्रायड के प्रभाव से नग्न यथार्थवाद आया। प्रयोगवाद की यथार्थ की प्रवृत्तिगत की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ है-

अ) सामाजिकता का अभाव :-

कविता में सामाजिकता का अभाव निर्माण हुआ। व्यक्ति को समाज में चलते नहीं देखा जाय बल्कि वैयक्तिक कुरूपता मानव की दुर्बलता का प्रकाशन होने लगा, यथार्थ और ईमानदारी से दिखाने के लिए यौवन वर्जनाओं एवं कुंठित वासनाओं का चित्रण होने लगा, जो आज-कल अश्लील माना गया। अज्ञेय जी ने लिखा हैं, "आज का साधारण व्यक्ति सेक्स की दमित वासनाओं से भरा हुआ है।"[98] उदा.- व्यक्तिवाद का अराजक है, जिसमें नारी को नागिप कहा है। जैसे-

"आओ मेरे आगे बैठो
जैसे बैठी होती काली

नागिन दो जिव्हापाली
उग लो जहर ओंठपर।"[99]

दमित वासनाओं की कुंठा का चित्र देखिए - अनंतकुमार पाषाण

"मेरे मन की अंधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षाओं की वेश्या
बुरी तरह खाँस रही है।"[100]

ब) कल्पनाशीलता :-

नग्न यथार्थ के अंतर्गत कुरूपता का दर्शन कराया है। रंगीन आवरण में कुरूपता का दर्शन प्रस्तुत किया है क्योंकि इससेअवचेतन मान के पाश्चि प्रवृत्तिक अनियंत्रितता का उद्रेक होता है। जैसे-

"सिहरते - से पंगु टुंडे
नग्न बुच्चे दहमारे पेड।"[101]

क) लघुता का आभास :-

आज-कल मानव क्षुद्र बन गया है। इस लघुता का आभास नई कविता में चलता है। उदा. काँक्रीट पोर्च, चाय की प्याली, सायरन, रेडियम की घडी, चूड़ी का टुकड़ा, बाथरूम, फटी ओढनी (और अज्ञेयजी गंधर्वराज कविता) गरम पकौडी, मूत्र सिंचित, धैर्यवान बच्चे, दशमारे पेड़ आदि का चित्रण हुआ है। उदा. भटनागर की कविता देखिए -

"धीमी मंत्र की आवाज
रह, रह गूँजती अज्ञाता
स्तब्धता को चीर देती है
कही मच्छर, तडप-भन-भन अनोखा शोर करते है
दौड़ने की होड़ और अलिंगन की होड़
चूहे भूखे निकलकर तोड़ ताबडं जोर करते है।"[102]

2) **बौद्धिकता** :-

प्रयोगवादी कविता में भावना है। किंतु प्रत्येक भावना के सामने एक प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। जैसे की जीवन के हरपल के साथ में प्रश्न के साथ प्रश्नचिह्न है। इसे बौद्धिकता कहते है। इसी प्रश्न ने संस्कृति का ढाँचा चरमरा उठा है।

अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षर भर' कविता में भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा हुई है। जिसमें कवि ने स्वयं ही अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए समाज की शंका को प्रकट कर देता है क्योंकि यह धुंधले में किसी के साथ दुबकर बैठा है। जैसे –

"चलो उठे अब
अब तक हम थे बंधु
सैर को आए –
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके दो प्रेमी बैठे है।
यह हम हो भी
तो यह हरी घास ही जाने।"[103]

यह व्यक्तिवाद का अराजक है, स्वच्छंदता है और एकाकी जीवन की अभिव्यक्ति है, क्यों बौद्धिकता का संघर्ष दिखाती हैं।

3) **प्रेम का स्वरूप** :-

इस कविता में माँसल प्रेम का वर्णन है। दमित वासना का प्रचुर चित्रण है। ईमानदारी के साथ यौवन वर्तनों का चित्र है, क्योंकि आधुनिक युग सेक्स संबंधी वर्जनाओं से अंकित है। उसका मस्तिष्क भी (सेक्स से पीडीत है) दमन की गई सेक्स की भावनाओं से भरा हुआ है। अतः प्रेम जो धार्मिक और मानसिक संस्कारों का अवशेष है अब वह बदल गया है। कवि कहता है -

"आह मेरी श्याम है उत्पन्त
धमनियों में उमड़ आई है, लड्ड की धार
तुम कहाँ हो नारी ।"[104]

उदा. - गिरिजाकुमार माथुर की एक रचना -

"देह कुसुमित मृणाल
जैसे गेहूं की बाल
जैसे उचको हे बौरों से
रोमिल रसाल
किरमिशी चंद्रलट
कसम से उर प्रियाला।"[105]

4) विद्रोह का स्वर:-

कला के क्षेत्र में छंद भाषाशैली के प्रति विद्रोह एक प्रवृत्ति रही। नये अन्वेषण के लिए पुरानी परंपरा को त्यागना पड़ता है। क्योंकि रूढ़ि प्रयोग में बाधक बनती है। अतः नवीन प्रतीकता नवीन वास्तविकता अपनायी गयी है। उदा.

भारतभूषण अग्रवाल लिखते हैं –

"तू सुमता रहा मधुर-नूपूर ध्वनि
बजती थी चप्पल।"[106]

इसप्रकार सामाजिक परिस्थिति के विरोध के प्रति तीव्र विचार प्रगट करते है।

भारतभूषण अग्रवाल की एक रचना में वे लिखते हैं -

"पर हिम्मत न हार
प्रज्वलित है प्राणों में अब भी व्यथा की दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी लै उठ
विद्रोह के प्रवृत्ति का और एक सुंदर रूप देखिए
चाँदनी उस रूपयें सिक्के की जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल जिंदा और मुर्दा
भाव रहते है।"[107]

इसलिए लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा हैं -"ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता यह नया यथार्थ जीवित करता है, जो प्रयोगवादी कविता का लक्षण है।"[108]

5) अन्तः चेतना का अभाव:-

नयी कविता अतृप्त रागात्मता का दर्शन करती है। जीवन की कुरूपता का चित्रण करती है क्योंकि दमन और कुंठा से प्रभावित है। अंतः चेतना सुप्त मन से संबंधित है। कुंठा दमन के द्वारा उपचेतना के माध्यम से मन के अनुभव व्यक्त होते है। उन अनुभव खंडों का यथावत चित्रण किया जाता है। उदा. अज्ञेयजी की रचना देखिए –

"भोर की प्रथम फिकी किरण
अनजाने जागी हो याद किसी की
अपना मिट्टी मिट्टी।"[109]

यहाँ फिकी किरण अवचेतन मन की ग्रंथी है। तभी तो कवि कहता है कि दीवारों बंदी में मन घूँटता है।

6) सामाजिक एवं राजनीतिक विद्रुपता के प्रति व्यंग्य:-

सामाजिक विद्रुपता के प्रति व्यंग्य बार-बार दिखायी देता है। नयी कविता में जीवन का व्यंग पूर्ण चित्रण है। जीवन की कुरूपता देखते ही व्यंग्य उभरता है। उदा. महानगरों की झोपडपट्टी वेश्यावृति और पास में खड़े गगन चुंबनवाले महल, इन पर व्यंग्य होना स्वाभाविक है। जीवन की व्यंग्यता और असंगति सालती है। उदा.

"सबेरे साँझ चाय पीता है
डालडा खा खुशी से जीता है
हैं समझदार कि साहब को
बा-अदब झुक सलाम करता है।"[110]

नयी सभ्यता से पैसा एक मूल्य है। इसके प्रति अज्ञेयजी की खींच देखिए-

"सभी जगह
प्रश्न है एक?
क्या दोगे?

कितने दे सकते हो।"[111]

7) वैचित्र्य प्रदर्शन :-

नई कविता में अतिशय बौद्धिकता है। रस की जगह चमत्कार आया है। मानसिक उल्झन व्यक्त करने के लिए चमत्कार और वैचित्र्य प्रदर्शन हो रहा हैं। यह विचित्रता बड़ी हास्यस्पद है। उदा.

"अगर कही मैं तोता होता
तो क्या होता
तो क्या होता
(आल्हाद से झुमकर)
तो, तो, तो, ता, ता, ता,
(निश्चय स्वर में)
होता, होता, होता, होता।"[112]

8) नई कविता में प्रकृति चित्रण :-

नये प्रतिकों और नये बिंग से व्यक्त किया जाता है- उदा. - फुटा, प्रभात, फुटा विहान वह रश्मि के प्राण। नया बिंब देखिए -

"रात के कंबल में
दुब की उपाली घिर से
मोहक भोला निडों में
कुलबुलाकर पहला पंछी बोला।"[113]

रंग स्पर्श के नये (प्रतिक) बिंब देखिए -

"धीरे-धीरे - परते कटने लगी धूप की
यहाँ-वहाँ परा
पिछले-सोने के पानी-सी
धूप टपकने लगी।"[114]

कभी-कभी बौद्धिक बिंब विधान आ जाता है। जैसे -

"नहीं

साँझ
एक असभ्य आदमी की
जम्हाई है।"[115]

नवीन उपमन देखिए- उदा.

1) "प्यार का बल्ब फ्यूज को गया।"[116]

2) "मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसा भुंजा हुआ पापड।"[117]

इसप्रकार नववैचित्र्य से भरे नवकाव्य में रस का स्थान चमत्कार ने लिया है। मध्यवर्गीय नारी का चित्रण इसप्रकार किया है-

"थर्मामीटर के पारे सी
चुपचाप भावनाएँ चढती उतरती है
अखंड किर्तन
समझने में न आनेवाली
अटपटी भाषा के लोकगीत-सी
किसी रेकार्ड-सी
जो स्वयं झुँकती है, गाती है
जिसकी जवानी कोला फार्म का निंद भरा झोंका है
भरा झोंका है।"[118]

9) नविनता के प्रति आग्रह :-

यह प्रयोगवादी कविता विलक्षण और दुरूह बन गयी है। नवीन भौतिकवादी जीवन की अभिव्यक्ति देने के लिए शब्द, भाषा, प्रतीक, वस्तु चयन, उपमा, सभी में नवीनता चाहिए। क्योंकि परिचित छोड़कर अपरिचित को महत्व दिया जाता है। शब्द चयन से विज्ञान दर्शन तथा भूगोल के शब्द आते है। उदा. भौरीया, गौरीयाँ, छोरीयाँ,भूमाप आदि।

छंद योजना में मुक्त छंद अधिक प्रिय रहे हैं, तो कहीं-कहीं लोकगीतों की धुन पर गीत बनाये गये है। इसमें मुक्त छंद का नमुना इसप्रकार है-

"या ....S S ....हूँ .... S........S S
ठीक है लेकिन भाई
तुकों की अपनी जुटाई
आनि
मेंढक पानी झप्पा।"[119]

संक्षेप में कहा जाये तो -

1) प्रयोगवादी कविता में आधुनिकता तथा जनवादी नवीन स्वर मुखरित हुआ है। जिसमें अहंम (मैं) ध्वनित है।

2) रूढ़ि के प्रति विद्रोह जैसा है, वैसा ही अनास्थावादी स्वर परिलक्षित होता है।

3) कुंठाओं की अभिव्यक्ति है। उदा. 'दीवारों के बंदी में घुँटता हूँ।'

4) वेदना को जीवनदायी शक्ति मानी है।

5) जनजीवन की कुरूपता की अभिव्यक्ति की है।

6) अवैयक्तिकता।

7) बुध्दिरस और चमत्कृति मानों रस के स्थान पर चमत्कार का आग्रह है।

अज्ञेनय जी ने नवगीत के बारे में लिखा हैं कि अनुभूति की सच्चाई, नवीन सौंदर्य-बोध, लघु आकार, नवीन बिंब, प्रतीक, उपमान से विशिष्ट गीत, जिसमें लोक-जीवन का रस होता है।

प्रयोगवाद यह कविता का पंचम उत्थान है। इसमें लगभग तीस-पैंतीस वर्षो से नवीन प्रवृत्ति निर्माण हो गयी। इसे प्रगतिशील काव्य कहा जाय क्योंकि यह कोई याद नहीं है। भावपक्ष, कलापक्ष, रूपवाद का 'फॉर्मेलिज्म' यह पर्याय शब्द है। इसके आलोचक इलियट और पौंड की अनुकरण शैली मानते हैं, तो इसके विरोधक नई कविता को पूँजीपतियों के समर्थक मानते है। कुछ लोग कहते हैं कि छायावादियों का अतिशय वैयक्तिकता की ओर झुकाव है।

इसप्रकार प्रयोगवादी कविता ने सीमा लांघने का प्रयत्न किया है। किंतु यह कविता वैयक्तिकता, प्रतिक्रिया और कुंठाओं का जीवन है। बौद्धिक अतिशयता कुंठाओं की भरमार और जीवन के प्रति अनास्था के कारण यह असामाजिक भाव वहन करती है।

डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने प्रयोगवादी काव्य के लक्ष्य संबंध में चार तत्त्वों का उल्लेख किया है-

1) **नवीनता :** प्रयोगवादी काव्य में नवीन विषयों का वर्णन नवीन शैली में किया जाता है।

2) **मुक्त यथार्थवाद :** अब तक जिस अश्लीलता, नग्नता और कामुकता का काव्य में बहिष्कार किया जाता था उसका चित्रण प्रयोगवादी कविता में पूर्ण रूचि के साथ किया जाता है।

3) **बौध्दिकता :** नया कवि भावात्मकता की अपेक्षा बौध्दिकता को अधिक महत्त्व प्रदान करता है।

4) **क्षणिकता :** इसमें चिरंतन एवं स्थायी भावनाओं एवं समस्याओं की अपेक्षा क्षणिक अनुभूतियों का आदर किया जाता है। यह कवि एक क्षण के आनंद की पूर्ण अनुभूति के लिए संपूर्ण जीवन के सुख-साधनों को खो देना श्रेयस्कर समझता है।

कवि अज्ञेय प्रयोगवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नेमिचंद्र जैन, प्रभाकर माचवे, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय, डॉ. महेंद्र भटनागर आदि प्रयोगवाद के प्रमुख कवि माने जाते हैं। 1943 में अज्ञेय के संपादन में कविताओं का संकलन 'तार सप्तक' शीर्षक से हुआ। जहाँ से प्रयोगवादी कविता उभरकर सामने आयी।

4.10 साठोत्तरी काव्य :-

साधारण दृष्टि से देखने पर साठोत्तरी शब्द 'साठ+उत्तर+ई' से व्युत्पन्न शब्द है। इसका पहला शब्द 'साठ' है। यह हमें गिनती का बोध देता है। 'साठ' से अभिप्राय है वह संख्या जिसमें छः दस आते हो लेकिन साहित्य जगत् में यह 'साठ' शब्द अपना व्यंजक अर्थ भी रखता है। कोशकार ने 'उत्तर' शब्द के अनेक अर्थ सुझाए हैं। यथा- "उत्तर दिशा सम्बन्धी ऊपर वाला ऊँचा, पीछे आने वाला; पिछला श्रेष्ठ (लोकोत्तर), अतीत; अधिक से अधिक (अष्टोत्तरशत) ; वाक, शक्तिशाली, पार करने या किया जाने वाला।"[120] 'साठोत्तरी शब्द' का जो अर्थ अब प्राप्त होता है, वह है 'सन् 1960 के बाद का' काव्य।

4.10.1 साठोत्तरी हिन्दी काव्य से तात्पर्य :-

काव्य शब्द अपना अभिधेय अर्थ रखता है। वह "साहित्य जिसमें यति, गति, विराम, लय, तुक, ताल आदि के आधार पर कोई न कोई नियम हो उसे 'काव्य' कहा जाता है।"[121] अतः सातवें आठवें दशक की साठोत्तरी हिन्दी-कविता कहने से हमारा अभिप्राय सन् 1960 के बाद की हिन्दी

भाषा की कविता से ही है। क्या सन् 1960 में कोई विशेष पहाड़ टूट पड़ा था जिसके कारण उसके बाद की कविता को अलग से 'साठोत्तरी कविता के रूप में स्वीकारना पड़ा। हमारे कहने का अभिप्राय: स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की थीं और रीतिकाल की परिस्थितियाँ कुछ अन्य प्रकार की। इसप्रकार एक तथ्य निष्पन्न होता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लिखे गये या रखे गए साहित्य की विशेषताएँ या प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि समय के बदलाव के साथ साहित्य में कुछ निजी विशेषताएँ विकीर्ण होने लगती हैं। इसी प्रकार नई कविता के काल की (सन् 1950 से 1960 तक) की परिस्थितियों में रचे गए साहित्य को या इस काव्य के आन्दोलन की प्रवृत्तियों भी खास प्रकार की थीं। किन्तु सन् 1960 तक आते-आते वे परिस्थितियाँ धीरे-धीरे बदलने लगी थीं। फलत: प्रबुद्ध चिंतक, कवि और आलोचक वर्ग यह स्वीकारने लगा कि साठ के बाद की कविता को साठोत्तरी नाम दिया जाए क्योंकि इसके बाद की कविता में 'मोहभंग' का स्वर प्रमुख हो गया है, नई कविता काल का आशावादी स्वर ध्वस्त हो चला है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सन् 1960 के बाद की साहित्यिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गयी थी। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ. मनमोहन सहगल लिखते हैं- "प्रस्तुत विषय पर कुछ भी कहने से पूर्व में अपनी यह धारणा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं कालावधि से बाँध कर किसी भी साहित्य विद्या को स्वीकारने के पक्ष में नहीं। 'साठोत्तरी' या 'पैसठोत्तरी' ऐसे शब्द हैं जो साहित्य की अलौकिकता, स्थायित्व एवं युग-युगान्तर के लिए घातक हैं, इसलिए मैं उपन्यास अथवा किसी भी अन्य साहित्यिक विधा को वर्षों के विस्तार अथवा संकोच में बन्द नहीं करूँगा। प्रदत्त विषय (बदलती हुई युग चेतना और साठोत्तरी उपन्यास) किसी विशेष युग चेतना से बँधा है, बस इतना समझना ही पर्याप्त है।"[122]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि 'साठोत्तरी कविता' 'नई कविता' का अगला चरण है। कृष्ण मानव लिखते हैं- "अत: साठोत्तरी हिन्दी कविता में जो कुछ भी लिखा गया है, वह इससे पूर्व प्रचलित 'नयी कविता-युग का कुछ अंशों में तो मात्रा विकास ही है और कहीं-कहीं उसकी प्रतिक्रिया भी दृष्टिपथ में आती है। इसलिए साठोत्तरी एक कालखण्ड विशेष के रूप में साहित्य जगत् में

समाविष्ट हो चुका है। गद्य-साहित्य में जहाँ साठोत्तर काल में नया चिंतन (विशेषकर मोहभंग) मुखर हुआ है, वहाँ उसमें पद्य भी पीछे नहीं रहा है।"[123]

4.10.2 साठोत्तरी हिन्दी साहित्य पर आधुनिकता का प्रभाव :-

सन् साठ के बाद हिन्दी साहित्य में प्रणीत अकविता, अकहानी, अ-उपन्यास, अ-नाटक आदि विधाओं पर आधुनिकता बोध की उपर्युक्त प्रवृत्तियां प्रभूत मात्रा में लक्षित होती हैं। जनवादी चेतना जिसमें, नैराश्य, विषाद, वेदना, अनास्था, संशयालुता, मान, क्लिष्टता, क्षणाभिरुचि, भोगवाद, अचेतन व अवचेतन का निरर्गल विश्लेषण निर्बाध वैयक्तिकता, घुटन, नूतनता का सर्वाग्रही मोह, बिम्बातिरेक, असंतोष और कुंठाओं का कोहरा अति आधुनिकता की होड़ में लिखे गये हिन्दी साहित्य में सर्वत्र छाया रहा है। किन्तु समाधान का विचार यह है कि आठवें दशक का हिन्दी साहित्यकार तथाकथित आधुनिकता के माया-जाल से मुक्ति पाने के लिए आतुर दृष्टिगोचर हो रहा है।

आधुनिकता का बोध एक वास्तविकता अवश्य है किन्तु (स्थायी) सत्य नहीं है। आधुनिक बोध किसी भी साहित्य की ऐतिहासिकता के लिए अनिवार्यता है क्योंकि कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश से कटकर युग जीवन-सत्यों के प्रति आंखें नहीं मूंद सकता है। किन्तु अपने परिवेश को विस्मृत कर पाश्चात्य परिवेश की मृग-मरीचिका में भटक कर, वैज्ञानिकता और आधुनिकता के बोध की आड़ में अपनी मूल्यवादी परंपराओं से सर्वधा संबंध विच्छिन्न करता है। साथ ही समस्त मानव मूल्यों को भूलकर नितान्त अनभ्यस्त एवं अपरिचित देशी वाणी के अनुपयुक्त स्वरों से अपने साहित्य को भरना सर्वथा अनुचित रहा है। आधुनिक हिन्दी साहित्यकार को सदा इस बात का ध्यान रखना होगा कि आधुनिकता के अत्यधिक मोह में उसके काव्य में मात्र आधुनिकता ही न रह जाये और बेचारी साहित्यिकता का निर्वासन हो जाए। आधुनिकता में सहजता का होना अनिवार्य है। वह केवल ऊपरी आवरण नहीं होनी चाहिए। विघटित जीवन का अंकन आधुनिकता नहीं बल्कि वह एकांगिता है। समूचे भारतीय जीवन के परिवेश की निश्छल अभिव्यक्ति आधुनिकता का मूल तत्त्व होना चाहिए। अपने परिवेश के अनुकूल बाह्य प्रभावों को आत्मसात् कर, निजानुभूत-सत्यों का प्रकाशन और वस्तु है। इसमें आधुनिकता का फैशन एक अलग चीज है। "खंडित चेतना न ही केवल नागरिक

जीवन का अत्याधुनिक (अल्ट्रामॉडर्न) रूप है और न ही वैयक्तिक कुंठा में आज आधुनिकता है। युग जीवन के समूचे व्यापकत्व को भोगना, समझना और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देना सच्ची आधुनिकता है।"[124]

आधुनिक बोध और सौन्दर्य के नाम पर विश्व साहित्य के सर्वस्वीकृत शाश्वत सत्य को पुराना कहना, सुन्दर को बीभत्स कहना और शिव की व्यर्थता सिद्ध करना, नकली मुखौटों के सिवा और कुछ नहीं। कोई भी आधुनिक बोध साहित्य में स्थायी नहीं बन सकता जब तक वह गहन अनुभूति के रूप में साहित्य की विकासमान परंपरा का अंग न बन जाए। पाश्चात्य दर्शन और मतवाद हमें सचेत तो कर सकते हैं, किन्तु हमें दृष्टि नहीं दे सकते। जीवन दृष्टि तो निजी परिवेश से प्राप्त होती है। सार्त्र का अस्तित्ववाद फ्रांसीसी परंपराओं से सर्वथा अलग नहीं है। अतः आधुनिक भारतीय साहित्यकार का आधुनिकता-प्रेम यहां की परंपराओं की अनुरूपता में अर्थवान् बन सकता है। आज के जीवन में त्वरित गति से आने वाले बदलाव, संघर्ष और नये-नये अर्थों की राह यहां के जीवन-संदर्भों की अपेक्षा के बिना नहीं बन सकती। हमारे भावी जीवन साहित्य, चिन्तन और कला का भविष्य इसी संतुलित दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।

4.10.3 आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्य :-

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में गद्य का प्राचुर्य रहा और उसकी नाना विधाओं की अपनी अलग-अलग प्रगति से विकास हुआ तथा हो रहा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में मुक्तक-काव्य की विपुल राशि की सृष्टि हुई है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि प्रस्तुत काल में प्रबन्ध काव्यधारा नितान्त सूख गई या बिल्कुल विलुप्त हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रबन्ध काव्यों की यह धारा 'रामचरित मानस', 'पद्मावत', 'साकेत', 'प्रिय प्रवास', 'कामायनी', 'कृष्णायन', 'कुरुक्षेत्र', 'साकेत', 'लोकायतन' तथा 'उर्वशी' तक भी एक रूप में सदा शीघ्र गति से प्रवाहमान रही है। सच तो यह है कि कोई भी युग उसका साहित्य प्रबन्ध-काव्यों के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक युग का जीवन प्रबन्ध काव्यों के विराट फलक पर ही पूर्णतया अंकित हो सकता है। साहित्य की यही विधा मनुष्यता की क्रमागत प्रगति और उसके भावात्मक विकास मार्ग की सूचिका है। दिनकर जी के शब्दों में "विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति मार्ग में मील के

पत्थरों के समान होते हैं, वे व्यक्ति करते हैं कि मनुष्य किस युग में, कहां तक प्रगति कर सका है।"[125] भारतेन्दु युग में मुक्तक शैली का ही प्रयोग हुआ, जबकि द्विवेदी युग के काव्यक्षेत्र में बहुधा प्रबन्धात्मक शैली को प्रतिष्ठा मिली है। इस काल में इतिवृत्तात्मकता प्रधान शताधिक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई। द्विवेदी युग के प्रबन्ध काव्यों में आवश्यकतानुसार काव्यशास्त्रीय लक्षणों को अपनाते हुए भी प्रबंधकारों ने अपनी रचनाओं में युगानुकूल आधुनिकता को भी प्रतिबिम्बित किया है। इस युग के काव्यों में चारित्रिक दृष्टि से भी एक महान् परिवर्तन लक्षित होता है। इन प्रबन्ध काव्यों में चित्रित दैवी पात्र 'राम' और 'कृष्ण' आदि आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इनकी 'राधा' और 'सीता' नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती हुई आदर्श नारियों के रूप में दृष्टिगोचन हुई हैं। 'उर्मिला', 'कैकयी', 'रावण', 'नकुल' तथा 'एकलव्य', 'भरत' जैसे उपेक्षित पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाना भी इन प्रबन्ध काव्यों की एक विशेषता रही है।

प्रसाद युग में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावात्मकता को प्रश्रय दिया गया। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें भावात्मकता, चारित्रिकता और मानवीय मनोवृत्तियों के अतिसूक्ष्म विश्लेषण के साथ दर्शन तथा आधुनिकता का हृदयावर्जक समन्वय है। प्रसाद जी ने परंपरागत काव्यशास्त्रीय लक्षणों की उपेक्षा करते हुए भावात्मक प्रबन्ध काव्यों की एक स्वस्थ परम्परा को प्रशस्त किया। प्रसादोत्तर काल में प्रणीत प्रबन्ध काव्यों में भी काव्यशास्त्र के महाकाव्य संबंधी बाह्य तत्त्वों की उपेक्षा करके उनमें राष्ट्रीय जीवन के व्यापक आदर्शो के चित्रण तथा मानवता के नये मूल्यों के अंकन पर विशेष बल दिया गया है।

हम द्विवेदी युग और छायावादी काव्यों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उन युगों के प्रतिनिधि कवियों और उनके प्रबन्ध काव्यों का प्रासंगिक रूप से उल्लेख कर चुके हैं। यहां हमें प्रसादोत्तरकाल में रचित कतिपय प्रतिनिधि प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त परिचय देना अभीष्ट रहा है। आधुनिक काल में रचित प्रबन्ध काव्यों की कितनी सृष्टि हुई है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम रचयिताओं और उनकी रचनाओं की काल-निर्देशपूर्वक एक संक्षिप्त तालिका प्रस्तुत करना उचित समझते हैं-

1. **तालिका :-**

श्रीधर पाठक- 'एकान्तवासी योगी', 'उजड़ ग्राम', 'श्रान्त पथिक', **महावीर प्रसाद द्विवेदी-** 'कुमारसंभव सार', **मैथिलीशरण गुप्त-** 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'भारत भारती', 'विरहिणी ब्रजांगना', 'वैतालिक', 'शकुन्तला', 'प्लासी का युद्ध', 'पंचवटी', 'अनघ', 'शक्ति', 'त्रिपथगा', 'विकटभट्ट', 'गुरुकुल', 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'सिद्धराज', 'नहुप', 'जयभारत', **हरिऔध-** 'प्रिय प्रवास', 'पारिजात', 'वैदेही वनवास', **गिरधर शर्मा-** 'सती-सावित्री', **सियारामशरण गुप्त-** 'मौर्य विजय', 'नकुल', 'अनाथ', 'आत्मोत्सर्ग', **भगवानदीन-** 'वीरक्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर पंचरत्न', **लोचन प्रसाद पांडेय-** 'मेवाड़गाथा', 'मृगीदुखमोचन', **गोकुलचन्द-** 'प्रणवीर प्रताप', **रामनरेश त्रिपाठी-** 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न', **रामचरित उपाध्याय-** देवदूत' देवी-द्रौपदी, राष्ट्र-भारती, रामचरित चन्द्रिका, रामचरित चिन्तामणि, **रामचन्द्र शुक्ल-** 'बुद्ध चरित', **उदयशंकर भट्ट-** 'तक्षशिला', 'मानसी', **प्रतापनारायण-** 'नलनरेश', **केशरीसिंह-** 'प्रताप चरित्र', **गुरुभक्तिसिंह-** 'नूरजहां', 'विक्रमादित्य', **रामनाथ ज्योतिषी-**'रामचन्द्रोदय', **अनूप शर्मा-** 'सिद्धार्थ', शर्वाणीय वर्द्धमान, **तुलसीराम शर्मा-** 'पुरुषोत्तम', **निराला-** 'सिद्धार्थ', **श्यामनारायण पांडेय-** 'जौहर', **हरदयालुसिंह-** 'दैत्यवंश', 'रावण', **प्रद्युम्न-** 'कृष्ण चरित मानस', **मोहनलाल मेहतो-** 'आर्यावर्त', **द्वारिका प्रसाद मिश्र-** 'कृष्णायन', **डॉ. रामकुमार वर्मा-** 'जौहर', 'एकलव्य', **सुधीन्द्र-** 'जौहर', **बलदेव प्रसाद मिश्र-** 'साकेत का सन्त', 'रामराज्य', **रामधारीसिंह 'दिनकर'-** 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी', **ठाकुरप्रसाद सिंह-** 'महामानव', **रघुवीरशरण मिश्र-** 'जननायक', 'मानवेन्द्र', **आनन्द कुमार-** 'अंगराज', **करील-** 'देवार्चन', **गोपालशरण सिंह-** 'जगदालोक', **रामानन्द तिवारी-** 'पार्वती', **श्यामनारायण प्रसाद-** 'झांसी की रानी', **लक्ष्मीनारायण कुशवाहा-** 'तात्या टोपे', **अतुल कृष्ण गोस्वामी-** 'नारी', **परमेश्वर द्विरेफ-** 'मीरा', 'युगद्रष्टा प्रेमचन्द', **तारादत्त हारीत-** 'दमयन्ती', **बालकृष्ण शर्मा नवीन-** 'उर्मिला', **गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश-** 'तारकवध', **लक्ष्मीनारायण मिश्र-** 'सेनापति कर्ण', **आनन्द मिश्र-** 'झांसी की रानी', **नरेन्द्र शर्मा-** द्रौपदी, **वासुदेव प्रसाद खरे-** देवयानी, **रामावतार अरुण-** 'वाणाम्बरी', **रामगोपाल दिनेश-** 'सारथी', **डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल-** 'अनंग', **नन्दकिशोर झा-** 'प्रिय मिलन', **सुमित्रानन्दन पन्त -** 'लोकायतन'।

प्रतिपाद्य :-

द्वारिका प्रसाद मिश्र का अवधी भाषा में रचित 'कृष्णायन' महाकाव्य रामचरितमानस के समान सात काण्डों में विभक्त है। इसमें लेखक को कृष्ण की चारित्रिक उदात्तता के अंकन में पर्याप्त सफलता मिली है। प्रस्तुत काव्यधारा में दिनकर जी के तीन प्रबन्ध काव्य- 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' तथा 'उर्वशी' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'कुरुक्षेत्र' में युधिष्ठिर और भीष्म के ओजस्वी सजीव और मार्मिक वार्तालाप के माध्यम से युद्ध की समस्या पर आधुनिक युग के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है। 'रश्मिरथी' महाभारत पर आधारित है, जिसमें महादानी कर्ण के आदर्श एवं उदात्त चरित्र को अभिव्यक्त किया गया है। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में महाकाव्योचित इतिवृत्त के अभाव के होते हुए भी कवि की सहज भाव-प्रवणता ने उनमें शिथिलता नहीं आने दी है। 'उर्वशी' ऋग्वेद के पुरुरवा और उर्वशी के संवाद पर आवृत है, जिसमें कवि ने प्रेम, काम और सौन्दर्य की शाश्वत समस्याओं को मार्मिक रूप में चित्रित किया है। नारी जीवन को उसके व्यापक पार्श्वभूमि में देखना इस काव्य की महती विशेषता है। इसमें रोमांस की अतीव कलात्मक अभिव्यंजना हुई है।

नीरज के शब्दों में "कामायनी के उपरांत बीसवीं शताब्दी की अन्यतम काव्य कृति कदाचित उर्वशी ही है।"[126] बलदेवप्रसाद मिश्र का 'साकेत का सन्त' एक सफल महाकाव्य है। इसमें साकेत, सन्त तथा भरत के चरित्र को अतीव उथल एवं उदात्त रूप में अंकित किया गया है। श्यामनारायण पांडेय की दोनों रचनाएं हल्दीघाटी तथा जौहर राजपूती इतिहास से संबद्ध है। हल्दीघाटी में महाराणा प्रताप के अतुल पराक्रम, शौर्य, प्रताप, साहस और बलिदान को सशक्त तथा ओजस्विनी भाषा में अभिव्यक्त किया गया है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने महाभारत के उपेक्षित पात्र एकलव्य की गुरुभक्ति को 14 सर्गों में सफलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। नरेन्द्र शर्मा प्रणीत दौपदी के माध्यम से कवि ने त्याग, बलिदान, श्रद्धा और शक्ति जैसे नारी जीवन के शाश्वत मूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति की है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अनेक सेनानियों जिसमें- महारानी झांसी, तात्या टोपे, गणेश शंकर, महात्मा गांधी तथा नेहरू को लक्ष्य रखकर महारानी झांसी (अनेक लेखकों के द्वारा) जगदालोक, जगनायक, महामानव (गांधी से संबद्ध) तथा मानवेन्द्र (नेहरू से संबद्ध) चरितात्मक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक साहित्य स्रष्टाओं द्वारा बाण पर बाणाम्बरी, तुलसीदास पर तुलसीदास तथा देवार्चन और प्रेमचन्द पर युगद्रष्टा नामक सफल प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि हुई है।

रामावतार तरुण की प्रकाशित रचनाओं में उनकी नवीन कृति 'बाणाम्बरी' महत्त्वपूर्ण है। इस रचना का नामकरण कदाचित् आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकाशित 'चिदम्बरी', 'ऋतंबरा' तथा 'रूपाम्बरा' काव्यों के सादृश्य पर हुआ है अथवा बाणभट्ट की कादम्बरी के मिथ्या सादृश्य के आधार पर इसे 'बाणाम्बरी' कह दिया गया है।

यह एक बीस सर्गों का प्रबन्ध काव्य है, जिसमें रससिद्ध वाणी के अवतार महाकवि बाण का चरित्र एक वृहत सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में चित्रित है। श्री तरुण ने बाण की रचनाओं-'हर्ष चरित', 'कादम्बरी' के अतिरिक्त डॉ. हजारी प्रसाद की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा वासुदेव शरण अग्रवाल के 'हर्ष चरित एक अध्ययन' की सामग्री का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने निजी कल्पना का भी सराहनीय प्रयोग किया है। बाणाम्बरी बाणभट्ट की आत्मकथा का एक पूरक ग्रंथ है, जिसमें कल्पना का उपयोग करते हुए भी बड़ी सतर्कता के साथ इतिहास की रक्षा की गई है। इस प्रबन्ध काव्य में वर्णनात्मकता तथा कल्पना का प्राधान्य है। कलापक्ष की दृष्टि से भी यह ग्रंथ पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है।

2. सामान्य प्रवृत्तियाँ:-

(क) प्रसादोत्तर काल में रचित प्रबन्ध काव्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से अतीव व्यापक पटभूमि पर आधारित है। इनमें जहां एक ओर उर्वशी जैसे महाकाव्य का आधार ऋग्वेद है, वहाँ सेनापति कर्ण, द्रौपदी और एकलव्य जैसी रचनाओं का इतिवृत्त पौराणिक है, सिद्धार्थ और वर्धमान आदि धार्मिक नेताओं से संबद्ध है। मौर्य विजय, हल्दीघाटी, जौहर, विक्रमादित्य, महारानी झांसी तथा तात्या टोपे जैसे महाकाव्य इतिहास पर आधारित हैं। जगनायक जगदालोक और मानवेन्द्र आदि आधुनिक युग के महामानवों का गांधी और नेहरू जी के जीवन चरित्रों से संबद्ध हैं और बाणाम्बरी, देवार्चन तथा युगद्रष्टा प्रेमचन्द साहित्य स्रष्टाओं के जीवनवृत्तों को आधार बनाकर लिखे गये हैं। इन सब महाकाव्यों का भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान, जनचेतना और राष्ट्रीय जागरण में एक मूल्यवान योगदान रहा है। इन काव्यों के कथावस्तु के चयन और उसमें युगानुरूप नवीनता का समावेश कर जहां इनके मनीषी प्रणेताओं ने अपनी मौलिक प्रतिमा को अक्षुण्ण बनाये रखा है वहां उन्होंने इनके सफल शिल्प-विधान में भी अपनी असाधारण रचना-क्षमता का परिचय दिया है।

(ख) चरित्रांकन में अभिनन्दनीय मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इनमें जहां राम और कृष्ण जैसे देव पात्रों को वैज्ञानिक युग की अनुरूपता में आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है वहां उपेक्षित पात्रों भरत, नकुल, कर्ण, उर्मिला और एकलव्य की चारित्रिक महत्ता को भी यथेष्ठ आलोक में लाया गया है। इसके अतिरिक्त अभी तक हेय समझे जाने रावण जैसे पात्रों के चरित्र के उन पक्ष को अतीव सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया है। इन काव्यों में नारी जीवन की नानाविध समस्याओं को सहृदयता से प्रतिपातिद कर, उसके आदर्श रूप की प्रतिष्ठा की स्तुत्य चेष्टा की गई है।

(ग) प्रस्तुत काव्यधारा शिल्प-विधान की दृष्टि से भी अभिनन्दनीय है। इन काव्यों की भाषा-शैली सरल, सुबोध तथा भावानुकूल है। नई कविता के समान इनमें कहीं भी अस्पष्ट प्रतीकों, बिम्बों और जटिल अप्रस्तुत विधानों का दुराग्रह नहीं है। इनमें वास्तविक काव्य कला की मनोरम झांकी मिलती है तथा इनमें रस परिपाक का पूर्ण ध्यान रखा गया है। इनमें काम कुठाओं की अनावश्यक पहेलियां नहीं बुझाई गई है। इनके प्रणेताओं ने भारतीय काव्यशास्त्रीय प्रबन्ध-काव्यों की परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए युगानुकूल महाकाव्यों के स्वरूप विधान का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

(घ) इन प्रबन्ध काव्यों का लक्ष्य भी परम महत्वपूर्ण रहा है। इनमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना को उनके व्यापक, यथार्थ, स्वरूप और कलात्मक रूप में प्रशस्त किया गया है। उस पर कहीं भी फ्रायड, सात्र और कामू की वासनात्मक रुग्णता, क्षणवाद और अनास्था आदि की अवांछनीय भावनाओं की प्रेतछाया नहीं मंडराती है। प्रो. देवीप्रसाद गुप्त के शब्दों में- "इन काव्यों में देश-प्रेम, स्वजातीय गौरव, राष्ट्रीय सम्मान, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा समसामयिक जीवनादशों के अनुरूप युगीन प्रश्नों के समाधान की विराट चेष्टा की गई है। समष्टि रूप में मानवतावादी जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक निष्ठायें उत्थानमूलक जीवनादर्श, नारी चेतना के मुखरित स्वर, जन-जागृति का उद्घोष, रचना-शिल्प की नवीनता तथा चरित्रों को युगीन सन्दर्भों में अवतारणा-प्रसादोत्तर काल के महाकाव्यों की ऐसी विशेषतायें हैं, जिनके आधार पर इन काव्य-ग्रन्थों को मां भारती के भंडार की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।"[127]

4.11 साठोत्तरी काव्य के प्रमुख हस्ताक्षर :-

जैसा कि हमने पूर्व में बतलाया हैं कि 'साठोत्तरी काव्य' सन् साठ के दशक में तथा उसके बाद लिखी गई कविता के लिए प्रयुक्त हुआ है। कानपुर से निकलने वाली एक साहित्यिक पत्रिका 'साठोत्तरी कविता' के संपादक सलिल गुप्त ने यह नाम उस काल की कविता को दिया। यह कविता विद्रोह की कविता है। काव्य के काल्पनिक उपमानों से परे यह यथार्थवादी चेतना की पक्षधर है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से जो स्वप्न मन में जागे थे, व्यवस्था उन स्वप्नों को पूरा करते नहीं प्रतीत हो रही थी। सभी असन्तुष्ट थे, सभी के मन में विद्रोह था और साठ के बाद की कविता उस समय के सामान्य जन के मन की अकुलाहट का ही बयान है। यह बदलते मूल्यों की कविता है। कहीं व्यक्ति, समाज से अलग अपनी अस्मिता को खोजता है तो कहीं समाज के लिए प्रतिबद्ध है। राजनैतिक सामाजिक, वैयक्तिक स्थितियों के प्रति एक असन्तोष इस कविता का मुख्य स्वर है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, दुष्यन्त कुमार, धूमिल, रघुबीर सहाय, जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस और कैलाश वाजपेयी साठोत्तरी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर रहे हैं। सभी स्तरों पर बदलते मूल्यों को लेकर इन कवियों के तीखे कथन हैं-

"यही शब्द एक किनारे हैं और अर्थ धरती में गढ़े हैं
गड़े अर्थ उगेंगे और हवा बदलेगी।"[128]

उपरोक्त काव्यान्तर्गत तीखा व्यंग्य और विद्रोह मिलता है। अपने स्वप्नों को खण्डित होते देखकर जो निराशा, कुण्ठा और एक उग्र चेतना व्यक्ति में पनपने लगी उसे ही इन कवियों ने स्वर दिये हैं। फिर भी सभी कुछ कहा नहीं जा सका। श्रीकांत वर्मा ने लिखा हैं-

"सम्भव नहीं है
कविता में वह सब कुछ कह पाना
जो घटा है
बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ
काँपते हैं हाथ।"[129]

सबसे पहले राजनैतिक मूल्यों की बात करें तो सामान्य जन की स्वतन्त्रता के साथ जो आशा, उम्मीद जुड़ी थी उसे कहीं ठेस लगी थी। जनता को प्रतीत हो रहा था कि जिस स्वतन्त्रता का स्वप्न

देखकर उसने अपना सर्वस्व दाँव पर लगाया था, वह एक धोखे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। धूमिल ने लिखा हैं-

"न कोई प्रजा है, न कोई तंत्र है ये
आदमी के खिलाफ
आदमी का खुला-सा षड्यंत्र है।"[130]

इसी प्रकार सव्यसाची ने भी इस स्वतंत्रता की पोल खोले हुए कहा हैं-

"आखिर क्या दिया है तुमने
आज़ादी के नाम पर
लूप और लाटरी
भूख, आगजनी
रिश्वत, हत्या, लूट, गिरहकटी
काले कानून, झूठी अदालते, बहुरूपिया शासन
अभाव, विवशता।"[131]

इन कवियों के मन में इस व्यवस्था के प्रति अस्वीकृति है और यही अस्वीकृति उसके मन में विद्रोह को जन्म देती है। यह विद्रोह तमाम परम्परा के प्रति है उसमें राजनैतिक मान्यताएँ तो है ही, सामाजिक, वैचारिक मान्यताओं को बदलाव की बात भी ये कवि करते हैं। नये मूल्यों की स्थापना के संघर्ष के लिए ये तत्पर हैं –

"शायद ऐसा ही होता है
इसलिए संभवतः जग में
जब परम्परा का खण्डन कर
कोई नया मूल्य बनता है
लोग उसे मिथ्या कहते हैं
मृत परम्परा के शव से चिपके रहते हैं
थोड़े दिन बाद भावना मर जाती है
या दुर्गन्ध
समूचे युग में भर जाती है।"[132]

वस्तुतः यह अस्वीकृति पाश्चात्य प्रभाव की भी देन है। दो-दो महायुद्धों के बाद जो मूल्यों का विघटन पश्चिम में दिखता है; सन्त्रास, विसंगति का भाव व्यक्ति के मन को निराशा से भर देता दिखाई देता है; वही भाव इन कवियों में भी मिलता है। वह कविता से भी विद्रोह कर बैठता है-

"इस वक्त जबकि कान नहीं सुनते है कविताएँ
कविता पेट से सुनी जा रही है
इस वक्त जबकि कविता मांगती है
समूचा आदमी अपनी खुराक के लिये।"[133]

नरेश मेहता की कृति 'प्रसाद पर्व' में रामकथा को आधार बनाकर धोबी के कथन पर सीतात्याग की कथा है। धोबी को साधारण जन कहकर उसके विचार को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से जोड़ा गया है। राम कहते हैं-

"राज्य, न्याय और राष्ट्र
व्यक्तियों और सम्बन्धों से ऊपर होने ही चाहिएँ
मैं या सीता राष्ट्र हैं?
नहीं
अधिपति होने का अर्थ राजा तो है
पर राष्ट्र नहीं।"[134]

उपरोक्त पंक्तियाँ उस समय की सत्ता, भाई-भतीजावाद, आभिजात्य और सामान्य वर्ग के लिये अलग-अलग नियमों और कानूनों की व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

राजनैतिक व्यवस्था के बाद इन कवियों का आक्रोश समाज के बन्धे नियमों के प्रति चित्रित है। समाज का विरोध करते हुए यहाँ कवि व्यक्तिवादी हो चुका है। अज्ञेय ने बहुत समय पहले ही व्यक्ति को 'नदी का द्वीप' कहकर उसकी अस्तित्ववादी चिन्तन को ध्वनि दे दी थी। पर ये कवि समाज से बन्धे रहकर अपने व्यक्तित्व की तलाश करना चाहते हैं-

"अब तुम्हारी कोई पृथक इयता नहीं
अब केवल आग है
सबसे मिलकर एक आग

पहचान सकते हो
उनको, जिनसे वह उत्पन्न हुई
या उनको जिनसे वह फैलेगी।"[135]

सामाजिक मान्यताओं और रीतियों के प्रति इन कवियों में सन्देह की भावना है –

"मेरा विवाह किसी स्त्री से नहीं
बल्कि हुआ था जमाने की पसन्द से
मुझे न औरतों से प्रेम है
न अपने से।"[136]

ये कवि समाज की पहचान अपने से चाहते हैं, न कि अपनी पहचान समाज से यदि ऐसा नहीं है तो इनकी दृष्टि में व्यक्ति मृतात्मा है-

"गहन मृतात्माएँ इसी नगर को
हर रात जुलूस में चलती
परन्तु दिन में
बैठती है मिल कर करती हुई षड्यंत्र।"[137]

यदि मुक्तिबोध की ही बात करें तो उनकी कविता वर्गरहित और शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देती है। कवि इसके लिए प्रतीक्षारत नहीं रहना चाहता, यह स्वयं पहला कदम बढ़ा कर इस क्रान्ति की मशाल को उठाने के लिए तत्पर है। इस कवि को सभी पूंजीवादी सुविधावादी मनुष्य अपनी राह की बाधा लगते हैं। शासक-शासित, शोषक-शोषित, धनी-निर्धन, समर्थ असमर्थ का भेद इस शोषण मुक्त समाज की सबसे बड़ी बाधा है। कवि का मन सौंदर्य, ऐश्वर्य पर नहीं रीझता, बल्कि –

"उन पर प्यार आता है कि जिनका तप्त मुख
संवला रहा है
धूम लहरों में
कि जो मानव भविष्यत युद्ध में रत है
जगत् की स्याह सड़कों पर।"[138]

मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' इस पूंजीवादी शोषण और षड्यंत्र के चक्रव्यूह में फँसे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की फंतासी का चित्रण करती है। यह वर्ग सोचता है कि वह क्रान्ति कर रहा है। चाहे वह वैचारिक स्तर पर ही क्यों न हो पर अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि पूंजीवाद को समाज से हटाना असम्भव है।

इस कविता का एक महत्त्वपूर्ण चिन्तन विषय मानवीय सम्बन्धों की रिक्तता है। इन सम्बन्धों के अपरिचित चेहरे इन कवियों की व्याकुलता का कारण है। पहले स्वतन्त्रता के स्वप्न से मोहभंग फिर चीन-भारत युद्ध और राजनैतिक अस्थिता ने इस कवि को अहंवादी बना दिया, जो कि समाज के आवरण में लिपटा तो है पर अपने लिए अनेक प्रश्नों से भरा-

"मैं वह क्यों नहीं हुआ
जिसने हिम-शिखरों की रक्षा में पहला आघात सहा
जिसके घायल तन से
चांदी चट्टानों पर
किसी गर्म सोते-सा रक्त बहा।"[139]

कवि को लगता है कि उसके आत्मीय सम्बन्ध मन को भिगोते नहीं, बल्कि औपचारिकता का निर्वाह करते हैं। शहर में जितने अधिक मकान बन रहे हैं, लोगों के पास रहने का स्थान नहीं बचा पर फिर भी लोग अकेले हैं, भयमुक्त नहीं है। किसी को पुकारने का न तो मन है, न साहस। विपत्ति के क्षणों में कोई दिखाई नहीं देता –

"सिकुड़ा हुआ दिन
बेहिसाब चेहरे हैं
बेहिसाब धंधे
और उतने ही देखने वाले दृष्टि के अंधे।"[140]

भवानी प्रसाद मिश्र के काव्यान्तर्गत भी मानवीय सम्बन्धों की इस रिक्तता और बेरुखी का चित्रण हुआ है। व्यावहारिकता और औपचारिकता तो बहुत हो गई है। परन्तु मन से प्रेम, सदभावना समाप्त होते जा रहे हैं। इसमें जिस आत्मीयता को भारतीय परिवेश का प्राणतत्त्व कहा जाता रहा, वह कहीं लुप्त है। कोई भी घटना-दुर्घटना मन को बेचैन नहीं करती। सब कुछ अखबार में पढ़ी ख़बर की

तरह दूर की बात है। ऐसे में कवि का उद्देश्य क्या है? उसका कर्त्तव्य क्या कविता लिखना ही है या संवेदना के उस धरातल पर कवि से पहले मानवीय होना आवश्यक है-

"एक बूढ़ा आदमी
चल रहा है सड़क पर
बदल दिया है उसका रंग
बत्ती के मटमैले उजाले ने
और कुत्ते उस पर भौंक रहे हैं
जी नहीं होता
इस सबके बीच
लिखते रहने का
कुत्तों को भगाऊँ
जाऊँ
उस बूढ़े आदमी को भीतर बुलाऊँ।"[141]

कविता का विषय बदल रहा था। राष्ट्रभक्ति के बदले राष्ट्र की समस्याएँ, रोजमर्रा जीवन और मध्यमवर्गीय समाज की पीड़ा भी इन कविताओं का विषय रही था। यही वर्ग है जिसे समाज का भार उठाना है। बदलते नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक मूल्यों की मार मध्यमवर्ग ही सबसे अधिक सहता है। क्योंकि न तो वह पूरा नग्न है और न ही उसके पास अपना ऐब ढकने की सामर्थ्य —

"यह ठीक है कि समय
सबको अपने दाँत मार रहा है
लेकिन घाव और पीड़ा का समाज
केवल घरेलू आदमी ढो रहा है।"[142]

गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं 'टाइफाइड' और 'क्रॉनिक मरीज' में मध्यमवर्गीय विषमताओं से उत्पन्न तनाव व्यंजित हुआ है। बाह्य संघर्ष और आन्तरिक तनावों में घिरे मध्यमवर्गीय व्यक्ति के पास आत्मविश्वास की कमी है और बाह्य सामाजिक-आर्थिक दबावों ने उसे शारीरिक रूप से भी पंगु बना दिया है-

"अपने में लीन किन्तु आत्मविश्वास हीन
तबीयत है बाँटे पर
दोष सभी रखता है
किस्मत के माथे पर।"[143]

इस सबमें एक निरर्थकता का भाव उसके काव्य पर हावी हो रहा है। उसे प्रतीत होता है कि जैसे रात का अन्धकार सब कुछ को अपने आवरण में ले लेता है, उसी प्रकार उसके परिवेश की निराशा उसे घेर चुकी है –

"छोड़ दो सम्पूर्ण प्रेम
त्याग दो सब दया, सब घृणा
खत्म हमदर्दी
ख़त्म साथियों का साथ
रात आएगी मून्दने सबको।"[144]

इस दृष्टि से देखें तो वह यथार्थ का ही चित्रण करना चाहता है, चाहे वह नग्न यथार्थ ही क्यों न हो। इस विचार के चलते मूल मानवीय भावों घृणा, प्रेम, भय, सेक्स, अहम् को भी इन कवियों ने नये ढंग से करने का प्रयत्न किया है। उसके लिए प्रेम अनिवार्य तो है पर वह इसे खण्डित भी करता है। यह एक निरन्तर खोज है, पूर्ण होने की प्रक्रिया नहीं –

"एक सम्पूर्ण होने के पहले ही
गर्भाधान की क्रिया से गुज़रते हुए
उसने जाना कि प्यार
घनी आबादी वाली बस्तियों में
मकान की तलाश है।"[145]

इस कवि में प्रेम का विरोधी भाव घृणा, सामाजिक मूल्यों के प्रति अधिक है। आदर्श की खोज करने वाला व्यक्ति जब उसे पूरे समाज में ही कहीं नहीं पाता तो विद्यमान मूल्यों के प्रति उसमें घृणा जागती है। उसे लगता है कि स्वार्थ, हिंसा, छल समाज का मूल आधार बन चुके हैं। भोगे गये

युद्ध और युद्धों के परिणामस्वरूप गिरते समाज के स्तर, व्यक्ति के भीतर उपजी अनास्था, हिंसा, प्रतिशोध ने व्यक्ति को भयभीत कर दिया था। कवि उसे व्यक्त करते हुए लिखता हैं -

"खून से लथपथ है एक देश
एशिया की छाती पर बढ़ रहा नासूर
बेघरबार यतीम बच्चे
बेवाएँ औरते स्त्रियों
खून के धब्बे
जिस्म के घाव
संगीनों के दाग।"[146]

साठोत्तरी कविता इसी आस्था अनास्था के बीच झूलती दिखाई देती है। धर्मवीर भारती कृत 'अन्धा युग के लिए कहा गया है कि वह अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने का प्रयत्न है। यह कृति द्वित्तीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के विनाश की ओर अग्रसर होने की कथा है। अनास्था और मृत्यु के भय ने व्यक्ति को भौतिकवादी मूल्यों की ओर आकृष्ट किया, जिसके लिए यह अनैतिक कार्यों को करने से भी डरता नहीं है। इस युद्ध के बाद पूरा विश्व कुण्ठा व निराशा से भर गया था, क्योंकि युद्ध में सफलता किसी को नहीं मिली थी। इसी तथ्य को भारत के स्वाधीनता संघर्ष से जोड़कर देखें तो यहाँ डेढ़ सौ वर्षों के स्वाधीनता संघर्ष के बाद जिस सफलता और स्वराज्य की कल्पना समाज ने की थी, वह कहीं दृष्टिगत नहीं हो रहे थे। इस असफलता ने उसे अनास्था से भर दिया। क्रान्ति और त्याग बलिदान सब औचित्यहीन लगने लगे और विद्रोह के भाव से भरा कवि कहने लगा-

"क्रान्ति
यहाँ के आसंग लोगों के लिए
किसी अबोध बच्चे के हाथ की
जूजी है।"[147]

सन् 1975 की आपात स्थिति में इस विरोध को तीव्रता से अनुभव किया जा सकता है। राजनैतिक दबाव ने स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थ को धूमिल कर दिया था और इस विरोध मे सत्ता में वर्षों से एकछत्र राज्य करने वाली शासक पार्टी को हटने के लिए विवश कर दिया-

"हे ईश्वर! सहा नहीं जाता है
मुझसे अब
औरों की सुविधा से
जीने का ढंग।"[148]

स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कविता में बदलते समाज के साथ पूंजीवाद के प्रभावस्वरूप सांस्कृतिक मूल्यों के पतन पर भी चिन्ता व्यक्त की गयी है। यह वह समय था, जब पश्चिम के प्रभाव में हम अपनी संस्कृति की पहचान खो रहे थे। बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के ऊँचे वेतन पाने वाले युवाओं के पैरों तले अपनी आंचलिक और देशीय संस्कृति रौदी जा रही थी। ये कम्पनियाँ कहीं झूठे स्वप्नों की आड़ में युवामन को बरगला रही थीं। अशोक वाजपेयी ने इस संकट की ओर स्पष्ट संकेत किया है -

"वे धीरे-धीरे बिना कुछ कहे
हथिया लेंगे तुम्हारी जगह...
...वे भागे चले जाएंगे
वे देवदूतों की तरह आएंगे
और नर्क में तुम्हें छोड़कर
अपने स्वर्ग लौट जाएंगे।"[149]

इससे यह स्पष्ट होता है कि देवदूतों के परिवेश में आयी इस बाजारू प्रवृत्ति ने व्यक्ति का लाभ नहीं सोचा था, बल्कि उसे तो सन्त्रास, कुण्ठा और सम्बन्धों के बिखराव जैसा नर्क ही दे दिया था। ऐसा नहीं कि यह कविता केवल निराशा की और असंतोष ही है। वास्तव में व्यक्ति का स्वभाव है थक-हार कर निराशा में चीखने-चिल्लाने के बाद फिर हिम्मत जुटाकर नये रास्तों की खोज करना। यहाँ वह आस्था की शरण में जाता है क्योंकि उसके पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। यही उसका पौरुष भी है। संघर्ष करना उसकी नियति भी है तथा उसका स्वभाव भी श्रीहरि दामोदर ने लिखा हैं-

"अरे, जीवन का अर्थ ही होता है
बीज बनना, बीज बोना
और बीज के समस्त दायित्व का भार-ग्रहण
यही मुक्ति है।"[150]

कैलाश वाजपेयी, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, दुष्यन्तः कुमार में आस्था के स्वर सुनाई देते हैं। निराशा और पराजय के बाद जिजीविषा सबसे ऊपर तैरती दिखाई देती है –

"चाहता हूँ, धरती के भीतर तक गड़ूँ
फिर आकाश तक डटूँ
ताकि आकाश
धरती के भीतर तक फैलता चला जाए।"[151]

यह कवि का आत्मसाक्षात्कार है। डॉ. जगदीश गुप्त के अनुसार - "अपनी पहचान से अलग हो कर जो जितना है, वह उतना ही अर्थहीन है।"[152] वे अस्वीकार नहीं करते मूल्य आवश्यक हैं। पर मानव मूल्य और जीवन मूल्यों के द्वंद्व में रहते हुए अपने लिए जीवन मूल्यों को आवश्यक मानते हैं क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होते हैं, उसकी स्थितियों बाहरी दबाव और मानसिक द्वंद्व की उपज होती है। कवि परम्परा को मानता है और परम्परागत मानव मूल्यों को भी। लेकिन साथ ही बदलती दुनिया के साथ नये मूल्यों की स्थापना का भी पक्षधर है -

"हर हाथ में
गीली मिट्टी की तरह
हाँ-हाँ मत करो
तनो, अकड़ो
अमरबेलि की तरह मत जियो
जड़ पकड़ो
बदलो
अपने आपको बदलो
यह दुनिया बदल रही।"[153]

वास्तव में इस कविता में सभी स्थितियों में जीने का साहस दिखाई देता है। समाज के प्रत्येक यथार्थ को निर्भीकता से चित्रित करने का साहस और फिर उस यथार्थ को बदलने का साहस भी दृष्टिगत होता है। वह समाज, राजनीति, धर्मभीरुता, परम्परागत मिथकों, सभी को अपनी काव्यधार

पर कसता है। सभी को उसका सामना करना है और बचनेवाला शेष ही आगे भविष्य में ले कर चलने योग्य है, यह उसकी धारणा है।

इस बदलते हुए परिवेश में व्यक्ति की नियति संघर्ष ही है भवानी प्रसाद मिश्र लिखते हैं-

"यह टूटना बिखरना
कुछ नहीं है
झमेले में पड़ो
जीवन से छवि है। लड़ो!"[154]

यदि विचार किया जाए तो यह सनातन व्यक्ति की नियति है तभी परिवर्तन सम्भव है। साठोत्तरी कविता का कवि इसके लिए प्रतिबद्ध दिखाई देता है। मूल्यों का यह बदलाव प्रश्न उठाता है कि कौन-सा मूल्य अधिक सही है। भिन्न समाज के लिए भिन्न मूल्यों की अवधारणा ही सही है अथवा कुछ चिरन्तन मूल्य भी हैं। इन मूल्यों की टकराहट यदि अवश्य है, तो इसका परिणाम क्या होना चाहिए? वैयक्तिक सत्ता का बचाव या मनुष्य को मनुष्य बनने की सीख। मनुष्य बनने की यह सीख परिवेश के प्रति जागरूकता से, उसके भग्न होते मूल्यों को तोड़कर नये मूल्यों के निर्माण से सम्भव है, सापेक्ष मूल्यों के जुड़ाव से सम्भव है। कवि का यही कर्म है। केवल साहित्यिक मूल्यों की बात करके कवि होना सिद्ध नहीं होता। टी. एस. इलियट ने कहा है - "जिसमें जीवन के प्रति दायित्वबोध सार्थकता और मूल्यों की चिन्ता होगी, वह शुद्ध साहित्यिक मूल्यों की बात न करेगा।"[155]

निष्कर्ष:-

आज समूचा राष्ट्र संक्रांति के नाना दौरों से गुजर रहा है। आज प्रत्येक भारतवासी के सामने आदर्श मानव मूल्यों तथा समुद्ध एवं उन्नत भारत के सृजन की समस्या है। इस दशा में साहित्यकार का सहयोग सर्वाधिक सुन्दर और फलप्रद सिद्ध हो सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि आज का तथाकथित नया कवि नवीनता के अन्धाधुंध मोह में केवल निजी विज्ञापनार्थ बरसाती मेंढकों के समान नित्य नवीन काव्य संप्रदायों की सृष्टि में व्यस्त है। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि उसका नया काव्य जन-मानस का प्रतिनिधित्व न करके अभिजात्य वर्ग के हितों का समर्थन करता है। उसकी रचनायें काव्योचित सहज संवेदना से शून्य तथा कृत्रिम बनती जा रही हैं। ये रचनायें काव्य के आदर्श

से दूर होने के कारण नितान्त हल्की और शिल्प प्रधान की दृष्टि से प्रायः भौंडी बनती जा रही हैं। आज के नवीन काव्य संप्रदायों के प्रतिपल नवाग्रही पुरोधाओं को यह स्मरण रखना होगा कि "कविता सम्पूर्ण चेतना की अखंड अभिव्यक्ति है, वह खंड़ित व्यक्तित्व की बौद्धिक शब्द-लीला मात्र नहीं है।"[156] असंबद्ध शब्द-जाल और व्यक्ति वैचित्र्यवाद की कारीगरी से पाठक को उलझाने और वास्तविक कवि कर्म में काफी अंतर है। कविधर्म कोरे फैशन से भिन्न होता है। नया भावबोध या नयी अभिव्यक्ति के चिल्लाने मात्र से काव्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता। किसी काव्य की क्षमता उसमें चित्रित अनुभूति गहनता और शाश्वत मानवीय मूल्यों के प्रति सजगता में निहित है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए काव्य में ह्दय के सहज उद्रेक और उसके साथ निश्छल अभिव्यक्ति का योग अनिवार्य है। एजरा पाऊंड, रिम्बों और एमोलावल के भारतीय अन्य श्रद्धालु भक्तों को ग्राह्य और अग्राह्य के संबंध में विवेक बुद्धि से काम लेकर निजी अनुभूतियों के सहारे जीवित रहने की कला सीखनी होगी। उन्हें अनुभूतियों के उस आयाम पर पहुंचना होगा जहां काव्य स्वयं प्रस्फुटित हो जाता है। कहीं ऐसा न हो कि "कौवा चला हंस की चाल अपनी भी भूल गया" की उक्ति नये कवि पर चरितार्थ होने लगे। केवल नवीनता ही काव्योत्कर्ष की विधायिनी शक्ति नहीं हुआ करती है। पुरानी होने से ही न तो सब वस्तुएं अच्छी होती हैं और न कोई वस्तु नई होने के कारण हेय एवं तुच्छ होती है। विवेकशील मनुष्य गुणों और दोषों की परीक्षा कर, श्रेष्ठतर वस्तु को अपनाते हैं। मुर्ख जन दूसरों के बताने पर ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय किया करते हैं।

साठोत्तरी कविता इस सिद्धान्त पर चलती है कि केवल कवि कर्म ही नहीं करना चाहिए बल्कि समाज, राजनीति, व्यवस्था, व्यक्ति को बदलने का साहस भी रखना चाहिए। यह कविता समकालीन जीवनबोध को यथार्थ से जोड़ती है। इस कविता के केन्द्र में विशिष्ट व्यक्ति नहीं है, बल्कि सामान्य व्यक्ति के सुख-दुःख पीड़ा, विसंगति, विडम्बना, कुण्ठा, सन्त्रास को ये कविता स्वर देती है और इन स्थितियों से निकलने की व्याकुलता को चित्रित करते हुए संघर्ष की प्रेरणा भी देती है। अपने समय का सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य इन काव्यान्तर्गत व्यक्त हुआ है यह व्यक्ति, समाज और विश्व के संदर्भ में नये प्रश्नों को उठाती है और यही इस कविता की सार्थकता भी है।

****

संदर्भ संकेत :-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, पृ. 210

2. रामविलास शर्मा,भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ.14

3. वही, पृ. 18

4. वहीं पृ. 19

5. वहीं पृ. 20

6. वही, पृ. 168

7. बालकृष्ण भट्ट निबंध संग्रह, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, पृ.5

8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य का संवेदनात्मक का विकास, पृ. 85

9. डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 234

10. वही, पृ. 237

11. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2, पृ.104

12. वही, पृ. 105

13. वहीं, पृ. 120

14. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.319

15. वही, पृ. 320

16. वही, पृ. 324

17. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2, पृ. 98

18. वही, पृ. 111

19. ओमप्रकाश सिंह(सं.),भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2,पृ.154

20. रामविलास शर्मा, परंपरा का मूल्यांकन, पृ.108

21. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली -1, पृ.57

22. वही, पृ. 67

23. वही, पृ. 71

24. ओमप्रकाश सिंह(सं.),भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2, पृ.123

25. वही, पृ. 125

26. डॉ.नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 124

27. वही, पृ. 128

28. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली -1, पृ.103

29. ओमप्रकाश सिंह(सं.),भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2,विश्वभारती पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, पृ.159

30. वही, पृ. 162

31. डॉ.नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 135

32. वही, पृ. 143

33. रामविलास शर्मा, द्विवेदी युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, पृ. 27

34. वही, पृ. 18

35. वही, पृ. 121

36. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ. 385

37. वही, पृ. 386

38. रामविलास शर्मा, रीतिकालीन संवेदना का विकास, पृ. 85

39. वही, पृ. 126

40. डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 342

41. वही, पृ. 343

42. रामचंद शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 351

43. डॉ. लक्ष्मीनारायण 'चातक', आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, संस्करण 2009, विश्वभारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ 62

44. वही, पृ.76

45. वही, पृ.79

46. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ. 494

47. वही, पृ. 501

48. वही, पृ. 516

49.गंगाप्रसाद विमल, छायावादी काव्य-चेतना, पृ. 49

50. वही, पृ. 52

51. सुमित्रानंदन पंत, छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृ. 79

52. वही, पृ. 81

53. वही, पृ. 87

54. वही, पृ. 92

55. वही, पृ. 112

56. डॉ. विनयमोहन शर्मा, साठोत्तरी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 73

57. वही, पृ. 123

58. वही, पृ. 157

59. सं. वाचस्पति पाठक, छायावादी कवि प्रसाद, पृ. 75

60. वही, पृ. 87

61. वही, पृ. 88

62. वही, पृ. 88

63. वही, पृ. 135

64. सं. वाचस्पति पाठक, छायावादी कवि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएँ, पृ. 88

65. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ. 121

66. डॉ. लक्ष्मीनारायण 'चातक',आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, पृ 79

67. वही, पृ. 111

68. श्रीरामप्रसाद द्विवेदी, प्रगतिवादी विचारधारा, पृ. 85

69. वही, पृ. 132

70. वही, पृ. 140

71. डॉ. हरनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और विकास, पृ 20

72. वही, पृ. 33

73. डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. हरदयाल, पृ. 342

74. वही, पृ. 65

75. डॉ. हरनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और विकास, पृ 51

76. वही, पृ. 63

77. श्रीरामप्रसाद त्रिवेदी, प्रगतिवादी समीक्षात्मक काव्य, पृ. 85

78. वही, पृ. 121

79. वही, पृ. 133

80. प्रगतिवादी काव्यधारा का विकास, जगदीश चतुर्वेदी, पृ. 97

81. वही, पृ. 124

82. शिवदान सिंह चौहान, काव्यधारा, पृ. 44

83. सं. अज्ञेय, तार सप्तक, पृ. 278

84. वही, पृ. 278

85. वही, पृ. 280

86. शिवदान सिंह चौहान, काव्यधारा, पृ. 46

87. डॉ.नरेंद्र सिंह, हिंदी साहित्य युग और धारा, पृ.496

88. वही, पृ. 496

89. वही, पृ.496

90. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉं, पृ.480

91. डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य विवेचनात्मक इतिहास, पृ. 480

92. वही, पृ. 464

93. वही, पृ. 464

94. वही, पृ. 465

95. वही, पृ. 465

96. वही, पृ. 467

97. डॉ. शिवकुमार शर्मा, तार-सप्तक, पृ. 282

98. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉं, पृ.485

99. वही, पृ. 486

100. वही, पृ. 236

101. डॉ. संजय रणखांबे, हिंदी साहित्य वैविधता, पृ.235

102. वही, पृ. 240

103. अज्ञेय-तार सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, पृ. 282

104. जयशंकर माथुर, छायामत छूना मन, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. 33

105. अग्रवाल, तार-सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, पृ. 91

106. अज्ञेय-तार सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, पृ. 97

107. डॉ. अनुराधा शर्मा, हिंदी साहित्य युग और धारा, पृ. 386

108. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉं, पृ.296

109. अज्ञेय, हवाई यात्रा, वाणी प्रकाशन, पृ. 17

110. डॉ.नरेंद्र सिंह, हिंदी साहित्य युग और धारा, वाणी प्रकाशन, पृ.396

111. डॉ. सुजरबाला दीक्षित, हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. 231

112. वही, पृ. 232

113. वही, पृ. 234

114. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉं, पृ.392

115. वही, पृ. 392

116. डॉ. सुजरबाला दीक्षित, हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृ.259

117. डॉ.नरेंद्र सिंह, हिंदी साहित्य युग और धारा, पृ.399

118. स. कलिका प्रसाद, बृहत् हिन्दी कोष, पृ.160

119. वही, पृ. 165

120. डॉ. विश्वबन्धु शर्मा, साठोत्तरी हिन्दी कविता, पृ. 87

121. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा तथा डॉ. रामनिवास गुप्त, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 360

122. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, पृ. 94

123. स. डॉ. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 120

124. नई कविता एक साक्ष्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 45

125. आधुनिकता व हिंदी साहित्य, इंद्रनाथ मदान, पृ. 88

126. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, पृ.33

127. वही, पृ. 35

128. वही, पृ.65

129. सव्यसाची-'सुबह होने से पहले', पृ. 14

130. एक कण्ठ विषपायी, दुष्यन्त कुमार, पृ. 17

131. धूमिल, संसद से सड़क तक, पृ.14

132. नरेश मेहता- 'प्रसाद पर्व', पृ. 18

133. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना- 'जंगल का दर्द', पृ. 11

134. श्रीकांत वर्मा- 'जलता घर', पृ. 22

135. मुक्तिबोध, 'चांद का मुँह टेढ़ा है', पृ. 13

136. वही, पृ. 27

137. जगदीश गुप्त-'हिम बिद्ध', पृ. 18

138. गंगाप्रसाद विमल, 'विजय', पृ. 25

139. भवानी प्रसाद मिश्र, 'अंधेरी कविताएँ', पृ.45

140. लीलाधर जगुड़ी, 'नाटक जारी है', पृ. 22

141. गिरिजाकुमार माथुर, 'भीतरी नदी की यात्रा', पृ. 16

142. शमशेर, 'कुछ और कविताएँ', पृ. 17

143. धूमिल-'संसद से सड़क तक', पृ.23

144. लक्ष्मीकान्त वर्मा, 'तीसरा पक्ष', पृ. 19

145. धूमिल-'संसद से सड़क तक', पृ.51

146. श्रीकांत वर्मा- 'जलता घर', पृ. 57

147. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, पृ. 76

148. श्रीहरि दामोदर, लकीरें, पृ. 44

149. अवधेश कुमार-'चौथा सप्तक', पृ.39

150. वही, पृ. 40

151. वही, पृ. 58

152. धूमिल-'संसद से सड़क तक', पृ.88

153. भवानी प्रसाद मिश्र, 'अंधेरी कविताएँ, पृ.77

154. इल्युजन एण्ड रियलिज्म, काडवेल, पृ. 23

155. कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, पृ. 120

****

पंचम अध्याय

त्रिलोचन शास्त्री के काव्य में जनवादी चेतना

जनवाद को प्राय: प्रगतिवादी विचारधारा का समानार्थ स्वरूप माना जाता है। 'हंस' जुलाई 1946 के अंक में मंगल किशोर पाण्डेय ने जनवादी साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा हैं - "जो साहित्य हमारे पुराने संस्कार को धोकर हम में अच्छे-अच्छे संस्कार भरे तथा जो सामन्तवादी समाज की जर्जर व्यवस्था को चकनाचूर कर उसके स्थान पर वर्गविहीन समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करे, वही जनवादी साहित्य है।"[1] डॉ. कुंवरपाल सिंह जनवादी काव्य का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं- "जनवादी कविता का चरित्र वस्तुतः सामान्य जन की अनुभूतियों, उसकी आशा, आकांक्षाओं और संघर्षों से निर्मित होता है। साधारण जन की जीवन-स्थितियों तथा उनसे जुड़ी संवेदनाओं को ठेठ जनता के जीवन के बीच से उभारना, जनता के दैनिक क्रियाकलापों को ही अपनी संवेदना का ताप देते हुए कविता में ढालना, जनता की अपनी बोली, यहाँ तक कि बातचीत के लहजे तक को अपनी कविता के शिल्प का अंग बना लेना, मौजूदा समाज के परिदृश्य के प्रति जनता के एक-एक तेवर को पहचानते हुए अपनी कविता में उन्हें जीवंतता के साथ प्रस्तुत करना ही जनवादी कविता का मूल- भूत चरित्र होता है।"[2]

इस प्रकार जनसामान्य के जनतांत्रिक, सोच समस्याओं और बुनियादी जीवन शैली को राष्ट्रीय विकास का आधारभूत ढाँचा मानकर सृजित तदोन्मुख मुखरित रचनाएँ ही जनवादी साहित्य की अंगभूत विशेषता है। जनवादी काव्य परंपरा में प्रमुख रूप से अग्रणी साहित्यकारों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह 'सुमन', मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह को माना जाता है। जबकि प्रगतिशील राष्ट्रीय धारा के कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि को माना जाता है। निराला, पंत, महादेवी वर्मा, नवीन, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि की रचनाओं में स्वच्छंदतावादी रूमानी प्रवृत्ति के साथ मानवता, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध एवं शोषित पीडित के प्रति सहानुभूति के स्वर मुखरित हैं।

त्रिलोचन शास्त्री ने 1945 में अपने प्रथम काव्य संग्रह 'धरती' के साथ अपने जनवादी दृष्टिकोण को दर्जा कराया है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने 'लाल सेना', 'मास्को अब भी दूर है' आदि रचनाओं में और जनवादी कवि मुक्तिबोध ने 'चाँद का मुँह टेढा है' की रचनाओं से जनवादी चेतना दर्शायी है। त्रिलोचन की जनवादी चेतना को उनके रचना-संसार के आलोक में बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। उनकी जनवादी काव्य सर्जना प्रमुख प्रगतिशील जनवादी कवियों नागार्जुन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, डॉ. मलखान सिंह, सिसौदिया, डॉ. रामविलास शर्मा, 'सुमन' एवं रांगेय राघव के रचना धरातल के समानान्तर जाकर ठहरी है। कवि त्रिलोचन की कविता 'हँसता है अकाल' में कृषक की जर्जर, दयनीय अवस्था का वर्णन त्रिलोचन की जनवादी दृष्टि का परिचायक है -

"हँसता है अकाल, तारों के दाँत निकले,
मन कृषक का, मेरा चैन नहीं पाता है

....

ताक रहे आकाश, नहीं जलधर की छाया
कहीं दिखाई देती है, भय तन घर आया।"[3]

जनवादी कवि त्रिलोचन ने कृषकों, मजदूरों, निम्न मध्यवर्गीय जनों के सुख-दुःख का अपनी काव्यान्तर्गत चित्रण किया है।

5.1 सर्वहारा वर्ग का चित्रण :-

सर्वहारा वर्ग के जीवन-यापन के लिए जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह है- 'अर्थ'। 'अर्थ' शब्द का अर्थ है- 'धन'। वामन शिवराम ऑप्टे ने धन को संस्कृत में इस प्रकार स्पष्ट किया है- संपत्ति, धन, दौलत, निधि, रुपया। 'धन' के सम्बन्ध में आर.एन. सिंह का कहना इस प्रकार है- "धन को ही मानवीय सुखों का एकमात्र आधार एवं मापदण्ड मानकर, प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन को प्रमुख स्थान प्रदान किया है तथा मनुष्य को गौण। मनुष्य धन से पनी अथवा निर्धन।"[4] अर्थ जीवन का मूलाधार है। समाज में अर्थहीन, जिसमें सर्वहारा व्यक्ति निर्धन व कंगाल कहलाता है। अधिक धनवान व्यक्ति को उच्च वर्ग में रखा जाता है, जबकि निर्धन व्यक्ति निम्न वर्ग में आता है। सामान्य व्यक्ति की गणना मध्यमवर्ग में की जाती है। अर्थहीन व्यक्ति समाज में अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाता है। व्यक्ति की सुख-सुविधा का आधार ही अर्थ है। अर्थ यह साधन है। आर्थिक

विषमता ईश्वरीय देन नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था की देन है जिससे एक वर्ग अमीर हो जाता है और दूसरा गरीब अपने आर्थिक परिवेश से साहित्यकार भी अछूता नहीं रहता "काव्य का स्रष्टा कोई स्वप्न मानव नहीं बल्कि दैनन्दिन जीवन में संघर्षों में संलग्न आर्थिक परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित और उसे जूझता हुआ यथार्थवादी मानव है।"[5]

सर्वहारा वर्ग के अंतर्गत अर्थ से उत्पन्न समस्याओं को वह साहित्य में प्रस्तुत करके वर्ग संघर्ष द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न करता है। अपनी सर्जन प्रक्रिया के समय वह आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए जन साधारण को उन शक्तियों की ओर प्रेरित करता है, जिससे विपन्नता दूर हो। आर्थिक विकास में बाधक सभी तत्त्वों से निपटने की शक्ति उसके साहित्य में निहित रहती है। अपने देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझाकर साहित्यकार उसे नयी दिशा देता है, जिससे आम आदमी भी जीवन को बचाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है।

आधुनिक साहित्य अंतर्गत सर्वहारा वर्ग में चेतना का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर हुआ है। भारतेन्दु युग से ही आर्थिक जटिलताओं एवं आर्थिक विषमताओं के मूल कारणों तथा अर्थ से उत्पन्न समस्याओं को साहित्य के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। परन्तु मार्क्स एंगेल्स की विचारधारा ने सर्वहारा वर्ग की आर्थिक विषमता के फलस्वरूप इस युग में जलती हुई आग में घी का काम किया और फिर आज के साहित्यकार के सामने मानव के सर्वांगीण विकास का प्रश्न है। इसलिए आर्थिक पहलू पर विचार किये बिना वह समाजवादी समाज की स्थापना का आदर्श सिद्ध नहीं कर सकता। अंग्रेजों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था पर किये गये प्रहार, पूँजीपतियों के हथकण्डे एवं औद्योगिक सभ्यता के बीच पिसते हुए आम आदमी के दर्द को वह संपूर्ण संवेदनशीलता के साथ रचना में उतारता है।

"साहित्य में त्रिलोचन जी ने भारतीय परिवेश और परिस्थितियों की कसौटी पर कसकर जो कुछ भी लिखा, यह शोषित, पीड़ित और उस मानव जाति से सम्बन्धित था, जो घुटन और बदहाली की जिन्दगी जीने को मजबूर थे। अपने अधिकतर लेखन में उन्होंने जन-भावनाओं को अपना मंतव्य बनाया।"[6] साहित्य में त्रिलोचन जी ने गरीबों व निर्धनों से अपने आप को जोड़े रखा। वे यहाँ वहाँ भ्रमण करके जन-स्थिति को हृदय की अतल गहराइयों से महसूस करते थे। वे दलितों तथा सर्वहारा वर्ग के प्रति संवेदनशील और इनका शोषण करने वाले शोषक व शासक जनों के प्रति घृणा रखते थे।

कहने का अभिप्राय है कि इनके साहित्य में सर्वहारा वर्ग के प्रति दु:ख तथा जनता के प्रति आपके मन में सहानुभूति परिलक्षित हुई है।

त्रिलोचन ने प्रस्तुत काव्य-संग्रह 'ताप के ताए हुए दिन' के सॉनेटों के माध्यम से पूँजीपति वर्ग सत्ताधरी वर्ग की सर्वहारा वर्ग के प्रति शोषण की प्रवृत्ति का प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया है। यह कृषक जीवन के प्रति आस्थावान रहता है, उर्वर धरती पर परिश्रम करने के बाद उसे उसकी मेहनत का उचित फल भी नहीं मिलता। उच्च वर्ग-जमींदार किसानों का 'अधिया' के नाम पर शोषण करता है। कृषक परम्परा के रूप में शोषण को चुपचाप सह लेता है। कवि ने पूँजीवाद के क्रूर रूप का चित्रण किया है-

"पूँजीवाद ने महत्त्व नष्ट कर दिया सब का
जीवन का जन का, समाज का, कला का
बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता।"[7]

एक अन्य जगह और देखिए -

"एकाधिकार के पंजे से
जीवन के सारे व्यापार
धीरे-धीरे अब
समाते चले जा रहे है
जैसे जैसे लड़ाई का वेग, बल और दिन
बढ़ता चला जाता है
वैसे वैसे एकाधिकार भी धरातल पर
बढ़ता चला जाता है।
अधिकाधिक संख्या में लोग इधर आये दिन
सर्वहारा होते चले जा रहे हैं
और पूँजी खीच खींच करके सब दुनिया की
मुट्ठी भर पूँजीपति पहले से अधिक मोटे

होते चले जा रहे हैं।"[8]

कवि ने शोषित-वर्ग को अत्याचारियों का विरोध करने के लिए प्रेरित किया है, क्योंकि कवि को शोषित-वर्ग से ज्यादा आत्मीयता थी। उन्होंने कहा है कि बेचारा बने हुए नहीं रहना है। संघर्ष करके दुनिया से अंधकार रूपी पूँजीवाद को मिटाना है-

"तू अत्याचारियों के अत्याचार से न डर
किस को न महाकाल सता कर चला गया
साम्राज्य उपनिवेश अब भी खोज रहा है
हे मुक्त भूल मत कि कृपा कर चला गया
हमने भी दु:ख को देखा है आँखे मिलाई हैं
अब भी कहीं मत कहो आ कर चला गया।

X X X

दुनिया से अंधकार हटा और पौ फटी
स्वर कौन प्रभाती के उठा कर चला गया।"[9]

आगे कवि कहते हैं कि इतिहास भी गवाह है कि पूँजीवाद शुरू से ही शोषण करता आया है, बेचारे निर्धन, मजदूर, गरीब लोग पूँजीपतियों का प्रहार सहते रहते हैं -

"पूँजीवाद का इतिहास कहता है
साम्राज्यवाद घोषित करता है
कुल का अभिमान और सुख-संग्रह
करने का वैयक्तिक उत्साह इसका उत्तेजक है
कोई सम्बन्ध-मर्म कहीं नहीं
अलग अलग सब अपने सुख-दु:ख में बहते हैं
और जो प्रहार उन पर होते हैं सहते हैं।"[10]

यदि क्रोंच पक्षी के विरह ने वाल्मीकि को कवि बनाया, तो त्रिलोचन को कवि बनाने का श्रेय है, उस मजदूर को जो दिन भर श्रम करके भी अपने परिवार के लिए दो जून की रोटी भी नहीं जुटा पाता, उस सर्वहारा वर्ग को जो पूँजीपति के शोषण से ग्रसित रहा, उस कृषक को जो सबके लिए अन्न

उपजाता है और कई बार खुद भूखा सो जाता है। किन्तु युग परिवर्तन के साथ उस उपेक्षित वर्ग में क्रान्ति का संचार हुआ है तथा आवाज संसार के किसी भी कोने से क्यों न उठी हो, उसकी आवाज सब जगह गूँज उठी है। साहित्य में भी उसकी आवाज भरपूर मात्रा में सुनाई दी। कवि ने 'फ्रांस' शीर्षक के माध्यम से फ्रांस की स्थिति स्पष्ट की। कवि ने कहा कि एक बार जो गिरकर भी संभल जाए जीत उसकी निश्चित है। पहले विश्वयुद्ध में फ्रांस बुरी तरह आर्थिक रूप से बर्बाद हो चुका था किन्तु वह दोबारा सँभला और द्वितीय विश्व युद्ध में अपने को पूरी तरह संभाल लिया। वे लिखते हैं-

"फ्रांस गिर गया था। कभी किसी दिन
धूल झाड़कर खड़ा हो गया।
क्या गुलाम वह रह सकता है?
जिसमें कुछ इज्जत बाकी है,
और रंगों में खून रवाँ है,
दिल में कुछ हिम्मत बाकी है,
जिसको अपनी आन याद है,
जिसको अपनी शान याद है.
जिसको अभिमान याद है।"[11]

अर्थात कवि ने सर्वहारा, शोषित वर्ग, निम्न वर्ग में उत्साह जगाया है कि तुम भी कर सकते हो जब फ्रांस ने कर दिखाया। कवि ने कहा है कि तुम भी कर सकते हो जब फ्रांस अपनी धरती से विदेशी (जर्मनी) को हटा सकता है भारत भला गुलाम क्यों रहे, यह अप्रत्यक्ष रूप से भारतवासियों के लिए जागरण नाद था।

5.2 क्रांति की भावना :-

समाज में क्रान्ति लाने के लिए शक्तिप्रयोग को भी उचित तथा आवश्यक समझ कर कवि चेतावनी देते हुए कहता है कि अन्याय से डर कर रहने में जीवन के विकास की सम्भावनाएं शून्य हो जाती है, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना वीरता का लक्षण है, तभी तो जीवन में आने वाली आपत्तियों को दूर करके विकास पथ को समृद्ध किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त त्रिलोचन की मान्यता है -

"यो प्रारब्धवाद से
कुछ भी होता नहीं, अगर औरों से कीना
रक्खोगे तो क्या पाओगे, खेत खाद से
उर्वर होता है जीवन भी आघात से
विकसित होता है, बढ़ता है उत्पातों से।"[12]

प्रारब्धवाद तथा कर्मवाद में कोई विरोध नहीं, संचित कर्मशक्ति ही प्रारब्ध का निर्माण करती है, वर्तमान में किए गए कर्म के प्रभाव से प्रारब्ध का प्रारूप घटता-बढ़ता रहता है। जीवन में आनेवाले आघातों और उत्पादों से प्रगति काम न तो टूटता है और न अवरुद्ध ही होता है। विकास का क्रम निरन्तर चलता रहता है और आघातों के क्रम से व्यक्ति की क्षमता कम नहीं होती। उनसे मानव का उत्साहवर्धन होता है और वह निर्भय होकर अपने पथ पर आरूढ़ रहता है। किसी से उधार ली हुई शक्ति या किसी का दयापात्र होकर प्राप्त की गई क्षमता न तो जीवन को टिकाऊ सहायता प्रदान करती है और न जीवन को सार्थक बनाती है। इससे मानव में आत्मग्लानि का भाव दृढ़ होकर उसे निर्बल बनाता है।

मानव की क्रियाशीलता एवं जीवन का निरंतर विकासक्रम ये दोनों ही प्रवाह की अनिवार्यता में निहित रहते हैं, कवि संदेहरहित होकर भाव प्रकट करता है-

"कोई कुछ भी कहे सुने, परिवर्तन-धारा
बड़े वेग से बहती है, पल भर को रुकना
शक्य नहीं है प्राप्य कहाँ है यहाँ किनारा,
बहना है सब को तरंग में सोता चुकना
नहीं जानता है।"[13]

त्रिलोचन क्रांति के वैचारिक तथा क्रियात्मक दोनों पक्षों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। सोच में परिवर्तन आना अति आवश्यक है, यदि हमारी सोच न बदलेगी तो हमारी क्रिया पद्धति में परिवर्तन होना मात्र कल्पना होकर रह जायेगा। क्रांति के इन दोनों पक्षों की सहचारिता प्रगति का अपरिहार्य सत्य है। यह एक दूसरे पर आधारित रहते हुए प्रगति पथ का निर्माण करते रहते हैं। इस संदर्भ में त्रिलोचन जी कहते हैं -

"हर्ष को बाँट दो
खाइयाँ पाट दो
और सन्देह को
मूल से काट दो
पाँव की छाप छोड़ो न भूलों भरी।"[14]

जब व्यक्तिगत सम्बन्धों को आर्थिक आधार पर तोला जाता है तो जीवन का मूल्य घट ही नहीं उलट जाता है। ऐसी परिस्थिति में कवि की इच्छानुसार हर्ष को बाँट कर, सन्देह को मूल से काट कर, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की दूरियों को नष्ट करके जीवन में समता स्थापित कर पाना कठिन हो जाता है। आगे वे कहते हैं -

". . . खड़ा खेत में है जो मोथा
मैं उस को उखाड़ डालूँगा- ज्वर है फसली।"[15]

उपरोक्त काव्य पंक्तियों के संदर्भ में त्रिलोचन जी आम व्यक्ति के संदर्भ में कहते हैं कि वह साहस को टूटने नहीं देता, समाज में अनावश्यक तथा अप्रत्याशित, खेत में उग रहे मोथों की भाँति, तत्त्वों को समूल नष्ट करने सम्बन्धी अपने को टूटकर बिखरने नहीं देता; उसके द्वारा सड़ी गली समाज व्यवस्था को परिवर्तित कर देने में ही लोक-जीवन का कल्याण है। समाज में व्यक्तियों के बीच में तथा चारों ओर जो ऊँच-नीच के विचारों की दीवारें खड़ी हो गई है उनका नष्ट हो जाना उत्थान के लिए अनिवार्य है। इस कार्य को टालना या इसमें आलस्य करके चुपचाप बैठ जाना अति हानिकारक सिद्ध होगा। इसी काव्य-संग्रह में निम्नांकित पँक्तियों द्वारा यही संदेश दिया गया है -

"मुक्ति चाहते हो तो आओ धक्के मारे
और ढहा दें... स्तब्ध खड़े हो
किस दुविधा में, हिचक छोड़ दो, जरा कड़े हो
आओ, अलगाने वाले अवरोध निवारे।"[16]

प्रगति के मार्ग में उपस्थित हो जाने वाले सभी अवरोधों को धक्के मार कर गिरा देने की मानसिकता त्रिलोचन के जीवन की उस साधना का अंग बन चुकी थी, जो उनकी यात्रा का राजपथ

बन कर उन्हें सदैव आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती थी। आगे की पंक्तियों में इसी संकल्प को और दृढ़ता के साथ दोहराया गया है-

"क्या तुम रुक जाओगे
नहीं करोगे ऊँची क्या गरदन अभिमानी
बाँधोगे गंगोत्री में गंगा की धारा
क्या इन दीवारों के आगे झुक जाओगे।"[17]

क्रान्ति के सभी सिपाहियों को यह बता कर चेतावनी दी गई है कि जिस प्रकार गंगा की प्रबल धारा को उसके उद्गम गंगोत्री में ही रोकना असम्भव है, उसी प्रकार देश के युवाओं को क्रान्ति-पथ पर आगे बढ़ने से मना कर पाना कठिन है। कवि उनका ध्यान केवल एक ही आवश्यक अभियान की ओर आकर्षित करता चलता है कि ये समाज के गौरवशाली उत्थान के लिए अपने सिर को ऊँचा किए हुए ही आगे बढ़ें।

इस आवश्यकता को कवि ने अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'धरती' में ही उत्साह भरी भाषा का प्रयोग करते हुए प्रकट कर दिया है- युवकों तथा समाज के शोषित लोगों का आह्वान जिस कार्य के लिए किया गया वह 'व्यक्तिवाद' तथा 'पूँजीवाद' को नष्ट करने हेतु ही है, क्योंकि लोक-जीवन इन्हीं शोषण करने वाली पद्धतियों के पँजों में जकड़ा हुआ तप्त हो रहा है। 'नव युग' के लोगों से आग्रह करते हुए कवि कहते हैं -

"नव निर्माण करो तुम जग का
जीवन का, समाज का, मन का।"[18]

जिन तीन स्तरों पर नव निर्माण करने का आग्रह इन पंक्तियों में किया गया है ये हैं जीवन, समाज व मन इन तीनों में मन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल है, बिना मानसिक परिवर्तन के जीवन व समाज को परिवर्तित करना सोचा भी नहीं जा सकता है। मन की पाठशाला में ही विचारों का प्रथम मंथन किया जाता है, तत्पश्चात् उन्हें जीवन में उतार कर उन्हें अपना बनाया जाता है, इसके लिए साहस तथा त्याग की भूमिका निर्मित होती है। "जीवन इस योग्य हो जाता है कि समाज को परिवर्तित करने के लिए यह ठोस माध्यम बन जाता है तभी "पग ध्वनि में गर्जन जीवन का" सुनाई देने लगता है और जीवन "विपुल शक्तियों का निधान बन कर जो कर" दिखाने में उपयुक्त हो जाता है वही हो

जाता है। मन का परिवर्तित होना वैचारिक परिवर्तन से भिन्न है, इसलिए कि विचार बौद्धिक प्रक्रिया की उपज हुआ करते हैं, जब कि मन जीवन की आन्तरिक अवस्था का परिचायक है। अतः मन उस क्रिया का द्योतक है जिसे तन्मयता समझा जाता है।"[19] कवि का यहाँ तात्पर्य है व्यक्ति का लोक-मानस के साथ तन्मय हो जाना, इस स्तर पर घटित हुआ परिवर्तन समाज में जन-जीवन के प्रति अपनापन जाग्रत कर देता है और तब व्यक्ति समाज के दुख-सुख को अपना दुख-सुख अनुभव करने लगता है।

5.3 सामाजिक-आर्थिक विषमता का चित्रण :-

आर्थिक विषमता ईश्वरीय देन नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था की देन है, जिससे एक वर्ग अमीर हो जाता है और दूसरा गरीब। अपने आर्थिक परिवेश से साहित्यकार भी अछूता नहीं रहता "काव्य का स्रष्टा कोई स्वप्न मानव नहीं बल्कि दैनंदिन जीवन में संघर्षों में संलग्न आर्थिक परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित और उसे जूझता हुआ यथार्थवादी मानव है।"[20] सामाज में स्थित विपन्नता से उत्पन्न समस्याओं को वह साहित्य में प्रस्तुत करके वर्ग संघर्ष द्वारा आर्थिक विपमता को दूर करने का प्रयत्न करता है। अपनी सर्जन प्रक्रिया के समय वह आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए जन साधारण को उन शक्तियों की ओर प्रेरित करता है, जिससे विषमता दूर हो। आर्थिक विकास में बाधक सभी तत्त्वों से निपटने की शक्ति उसके साहित्य में निहित रहती है। अपने देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझाकर साहित्यकार उसे नयी दिशा देता है, जिससे आम आदमी भी जीवन को बचाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। आधुनिक साहित्य में आर्थिक चेतना का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर हुआ है। भारतेन्दु युग से ही आर्थिक जटिलताओं एवं आर्थिक विपन्नताओं के मूल कारणों को साहित्य के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। परन्तु मार्क्स एंगेल्स की विचारधारा ने आर्थिक विषमता के इस युग में जलती हुई आग में घी का काम किया और फिर आज के साहित्यकार के सामने मानव के सर्वांगीण विकास का प्रश्न है। इसलिए आर्थिक पहलू पर विचार किये बिना वह समाजवादी समाज की स्थापना का आदर्श सिद्ध नहीं कर सकता। अंग्रेजों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था पर किये गये प्रहार, पूँजीपतियों के हथकण्डे एवं औद्योगिक सभ्यता के बीच पिसते हुए आम आदमी के दर्द को वह संपूर्ण संवेदनशीलता के साथ रचना में उतारता है।

किसी भी देश के सामाजिक जीवन की नींव वहाँ की आर्थिक व्यवस्था होती है। भारत में औद्योगिक विकास ने पूँजीवाद को जन्म दिया, जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित होने लगी और समाज मुख्यतः दो भागों में विभाजित हो गया। मिल तथा मजदूर वर्ग, जिसे शोषक और शोषित वर्ग भी कहा जाता है। इन दोनों वर्गों के बीच विद्वेष की भावना फैलने लगी, क्योंकि अपने श्रम का विक्रय करके भी श्रमिक वर्ग को जीवन जीने की सारी सुविधाएँ बड़ी कठिनाई से मिलती थी। उन्हें, शहरों के घिनौने परिवेश में अपना अभिशप्त जीवन काटना पड़ता था। जबकि पूँजीपति धन के जोर पर श्रम को क्रय करके अत्यधिक लाभ उठाते। इन दोनों के मध्य एक शिक्षित मध्यवर्ग था, जो अर्थ की दृष्टि से निम्न वर्ग के साथ था, परन्तु उसकी इच्छाएँ उच्चवर्गीय स्तर का जीवन बिताने की थी, जिससे उसकी दशा निम्न वर्ग से अधिक चिन्ता की थी। क्योंकि निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति विषम होने के कारण महत्त्वाकांक्षाएँ भी सीमित थी, परन्तु मध्यवर्ग अपनी दिखावटी मर्यादा के कारण पिस रहा था। खोखली आर्थिक स्थिति में भी मिथ्या, झूठा प्रदर्शन और झूठी शान-शौकत की इच्छा इनकी हीन भावना की प्रतीक थी। इस कारण मध्यवर्ग की स्थिति इतनी खराब थी, क्योंकि उच्च वर्ग से इनका बौद्धिक स्तर तो ऊँचा था, परन्तु धन के अभाव के कारण उच्च वर्ग इन्हें निम्न समझता था। इसलिए उच्च वर्ग के वैभव के प्रति इनमें असन्तोष था और झूठे दिखावे से अपने साथ समृद्ध होने का ढोंग करते थे।

निम्न वर्ग जीवन भर शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कड़ी मेहनत करता है परन्तु फिर भी जीवन की जरूरी चीजें कपड़ा, रोटी और मकान जैसी इच्छा भी पूरी नहीं हो पाती। अतः उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग की भावनाओं के साथ अन्त तक खिलवाड़ करते रहते है। इसी कारण पूँजीपति वर्ग के प्रति निम्न वर्ग में घृणा का भाव बढ़ता जा रहा है, क्योंकि पूँजीपति अपने क्षुद्र स्वार्थो के लिए श्रमिकों की मौत तक करवा देते हैं। पूँजीपति या उच्च वर्गधन-सम्पदा के बल पर सारी व्यवस्था पर नियन्त्रण बनाए हुए हैं।

मध्यवर्ग दो वर्गों के मध्य स्थित है। एक तरफ उच्च वर्ग है तो दूसरी तरफ निम्न वर्ग । हिन्दी शब्द सागर में मध्यम वर्ग के विषय में कहा गया है "जो दो विपरीत सीमाओं के बीच में हो। जो गुण, विस्तार, मान आदि के विचार से न बहुत बड़ा हो, न बहुत छोटा।"[21] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "मध्यम वर्ग सामन्तवादी व्यवस्था में नहीं पाया जाता था, क्योंकि उस समय जमींदार तथा कृषक का

सीधा सम्बन्ध था. किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन सूत्र को संभाल सके। इस वर्ग में नौकरीपेशा, शिक्षक, क्लर्क तथा अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धि-प्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्ति के प्रायः समस्त विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में होता है।"[22]

मध्यवर्ग प्रगतिशील वर्ग है। इस वर्ग के सहारे ही समाज प्रगतिशील बनता है। निम्नवर्ग अपनी छोटी-छोटी जरूरतों को पूरा करने में लगा रहता है, तो उच्च वर्ग के पास इतना समय नहीं है कि वह सामाजिक गतिविधियों में हिस्सा ले सके इसलिए मूल्यों, मर्यादाओं और सामाजिक गतिविधियों का उत्तरदायित्व मध्य वर्ग पर आ जाता है। यह वर्ग बुद्धिजीवी होने के

कारण सामाजिक क्रियाकलापों का पोषक है। मध्यवर्ग को समाज में कहीं भी होने वाली हलचल अवश्य ही प्रभावित करती है। इस वर्ग में डॉक्टर, प्राध्यापक, वकील, अभिनेता व अन्य मध्यम व्यवसायी व्यक्ति आते हैं। यह सब विभाजन आय और पद को ध्यान में रखकर किया। गया है।

मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या उच्च वर्ग से ज्यादा है तथा निम्न वर्ग के रूढ़िग्रस्त जीवन की अपेक्षा यह वर्ग शिक्षित व विचारशील होता है। मध्य वर्ग न तो पूर्णतः आधुनिक है और न ही पूर्णतः रूढिग्रस्त यह उन दोनों के मध्य चक्कर लगाता रहता है। मध्य वर्ग का व्यक्ति उच्च वर्ग के जीवन को अपनाना चाहता है लेकिन आर्थिक दृष्टि से मजबूर होने के कारण यह सब स्वप्न बनकर रह जाता है। निम्न वर्ग के जीवन स्तर को अपनाने में वह शर्म महसूस करता है। अर्थाभाव होने के कारण मध्यवर्ग अपने बच्चों की पढ़ाई सही ढंग से पूरी नहीं करवा पाता लेकिन फिर भी उच्च वर्ग या निम्न वर्ग की अपेक्षा मध्यम वर्ग में शिक्षा का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार होता है। मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति का विमर्श करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि मध्यम वर्ग का आर्थिक पक्ष सुदृढ़ नहीं होता। आधुनिक पक्ष में सुदृढ़ता न होने के कारण यह वर्ग हमेशा जीवन में घोर कठिनाई का सामना करता है। आर्थिक समस्याओं ने मध्यवर्गीय व्यक्ति की कमर को तोड़ दिया है। उसके सामने बेरोजगारी की समस्या है। मध्यवर्गीय लोगों में सामाजिक दिखावे की भावना विद्यमान रहती है और इसे पूरा करने के लिए यह वर्ग अपनी आय से भी ज्यादा व्यय कर डालता है जो इसके लिए हितकर न होकर हानिकारक सिद्ध होता है।

मध्यवर्गीय अभावग्रस्त जीवन की विपन्नता तथा विसंगतियों को त्रिलोचन ने अपने 'चैती' नामक काव्य-संग्रह की कविता नन्हें में बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है। ऊपर-ऊपर से बहुत ही साधारण लगने वाली कविता अपनी अतल गहराई में बहुत ही मर्मस्पर्शी है, वह अंत:श्चेतना में पैठ जाती है। हवाई जहाज के लिए जिद करने वाले नन्हें के बारे में बताते हुए अभावमय सामान्य जीवन की विपदाओं की बात सरलतापूर्वक करते हैं.

"नन्हें ने सिर पर हवाई जहाज देखा
तो हठ पकड़ा
पापा, पापा
हवाई जहाज मुझे भी ला दो
मैं भी उड़ाऊँगा
कैसे समझाए कोई बच्चे को
वह क्या जाने हवाई जहाज
उसका बाप भी
बस देखा करता है और
उसे पाने का
स्वप्न तक नहीं देखा उसने
किसी दिन
पापा, हवाई जहाज
जाओ, अभी ला दो
हम उसे उड़ाएंगे।"[23]

कवि ने समाज के मध्यवर्ग का यथार्थ वर्णन किया है। 'चैती' काव्य-संग्रह में त्रिलोचन ने व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों के द्वारा समष्टिगत तत्त्वों को पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। कवि का व्यक्तिगत जीवन नितांत वैयक्तिक नहीं होता बल्कि वह रचना-प्रक्रिया द्वारा मन की चिंता, अकुलाहट को व्यक्त करते हुए सामाजिक चिंतन को भी उजागर करता है। रचनाकार में बसे व्यक्ति की पीड़ा को व्यक्त करते हुए त्रिलोचन सोचने लगते हैं कि रॉयल्टी के थोड़े से पैसे के

लिए भी कितनी मुसीबतें और तकलीफें उठानी पड़ती हैं? कवि को इस बात की प्रतीति होती है कि प्रतिभा, भरसक प्रयत्न आदि के बावजूद उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई, वह उपेक्षित ही रहा। समाज में साहित्यकार भी मध्यमवर्ग में आते हैं लेकिन उनकी स्थिति भी कुछ ठीक नहीं है-

"ऐसे में कोई यदि प्रिय कवि है
तो यह उस कवि के लिए अच्छा है।
कविता से मिलता ही क्या कुछ
रॉयल्टी के थोड़े पैसे मिल जाये यही बहुत है
पैसों का अर्थ आज कौन नहीं जानता
(मांग कर खाना असंभव है, देगा कौन)
चर्चा हो तो भी कम लाभ नहीं
भाषा बाजार की है बात मगर जी की है।"[24]

इस प्रकार कवि ने समाज में कवि की यथार्थ स्थिति तथा आर्थिक विपन्नता का वर्णन किया है। त्रिलोचन की दृष्टि में केवल निम्न वर्ग का व्यक्ति ही दलित पीड़ित नहीं है बल्कि मध्य वर्ग विशेषतः निम्न मध्यवर्ग में भी अभावमय जीवन है। 'तुम्हें सौंपता हूँ' इस काव्य-संग्रह की कविता 'रैन बसेरा' का अभागा आर्थिक विषमता के कारण अतिथि को घर नहीं बुला पाता।

कवि की सहृदयता वर्षों से पीड़ित और उपेक्षित समाज के सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है। पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा अभिशाप बेकारी और गरीबी है। इस व्यवस्था के तीखे, स्पष्ट एवं आलोचनात्मक चित्र त्रिलोचन ने अपने काव्यान्तर्गत खींचे हैं। यह आलोचनात्मक कवि है और उनकी रचना उस 'जनपद का कवि हूँ' में कवि की आलोचनात्मकता का साफ-साफ प्रमाण दिखाई देता है। काव्य में उनकी कविताएँ अपने स्पष्ट खरेपन के लिए विख्यात हैं और उन्होंने प्रकृति को भी जीवन संघर्षो की कटुता के सन्दर्भ में रखकर देखा है। निम्न मध्यवर्ग के प्रगतिशील कवि के जीवन को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। जैसे-

"उस जनपद का कवि हूँ, जो भूखा-दू:खा है,
नंगा है, अनजान है, कला नहीं जानता।"[25]

इन पंक्तियों में कवि अपने माध्यम से जनस्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। कवि ने लम्बे जीवन संघर्ष को जिया है। साथ ही उनकी कविता में उपस्थित पात्रों ने भी उनका अपने विषय में कहना है कि जिस जनपद से जुड़ा हूँ, वहाँ की जनता गरीबी तथा मुखमरी का जीवन यापन कर रही है। यह मेरी तथा मेरे जनपद के जन-जन की यथार्थ स्थिति है।

त्रिलोचन प्रगतिशील काव्यधारा के जनकवि हैं। कवि की पक्षधरता को (जनता के प्रति) उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। त्रिलोचन मानव-संघर्ष के कवि हैं। मानव-संघर्ष वर्ग-संघर्ष के अन्तर्गत आता है। उनकी मानवीय सहानुभूति उन्हें मानव से जोड़े रखती है। ये अपने पात्रों की पीड़ा को सूक्ष्मता से महसूस करते हैं। उनके काव्य घरती में संकलित कविता 'भोरई केवट के घर' में 'भोरई' पात्र एक कृषक है और उसके जीवन में दैनिक जीवन की जरूरतों का भी अभाव रहता है। देश में बिना कारण चली आ रही लड़ाई की वजह से उसका किसानी जीवन प्रभावित हुआ, खाने-पीने की वस्तुओं के दामों में बढोतरी हुई है और उन वस्तुओं को खरीद पाना भोरई जैसे कृषक के लिए बहुत मुश्किल है इस सामाजिक-आर्थिक पीड़ा तथा विषमता से वे बहुत अधिक व्यथित हुए। वे कहते हैं —

"भीतर की प्राणवायु सब बाहर निकाल कर
एक बात उसने कही
जीवन की पीड़ा भरी
बाबू, इस महँगी के मारे किसी तरह अब तो
और नहीं जिया जाता
और कब तक चलेगी लड़ाई यह?"[26]

क्योंकि त्रिलोचन ऐसी स्थिति झेल चुके हैं। इसलिए ही वे जनता के पक्षधर कवि हैं। इस कविता में कवि आगे कहता है कि 'भोरई' की पीड़ा सिर्फ इस कारण से नहीं है, बल्कि बड़े राष्ट्रों और पूँजीपतियों ने भी उसके जीवन को कष्टदायक बना दिया है, क्योंकि ये दोनों मिलकर कूटनीति चालें चलकर गाँव के किसानों को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचा रहे हैं, जिससे उनका जीवन प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। भोरई की पीड़ा को कवि कुछ इसप्रकार से प्रस्तुत कर रहे हैं -

"इस अकारण पीड़ा का मोरई उपचार कौन सा करता

वह तो इसे पूर्व जन्म का प्रसाद कहता था
राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति
पूँजीपतियों की चालें
वह समझे तो कैसे!
अनपढ़ देहाती, रेल-तार से बहुत दूर
हियाई का बासिन्दा
वह भोरई।"[27]

ऐसे ही 'दिगंत' काव्य-संग्रह में संकलित सॉनेट 'कस्मै देवाय' में कवि जन के दुःख को ऐसे अनुभव करते हैं और कहते हैं-

"क्रान्ति उन्हीं लोगों के पास पला करती है,
दुःख के तम में जीवन ज्योति जला करती है।"[28]

इसप्रकार त्रिलोचन के काव्यों में हमें आम जन की सामाजिक-आर्थिक विषमता, दुःख तथा पीड़ा के दर्शन होते हैं, जिसके आधार पर समाज की यथावत स्थिति को भलिभाँति समझकर, कवि के अंतर्मन के स्थित पीड़ा के माध्यम के विषमता का दृश्य स्वरूप रेखाटन कर प्रस्तुत किया है।

5.4 आर्थिक विपन्नता(गरीबी) का चित्रण :-

प्राचीनकाल से लेकर आज आधुनिक काल में भी समाज में आर्थिक विपन्नता का बीज फैला हुआ है। पूरे संसार में दो वर्गों में विभक्त है एक वर्ग वह है जो सुविधा सम्पन्न जीवन जी रहा है। दूसरा वर्ग है जो अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पा रहा है। दूसरे वर्ग में विपन्नता (गरीबी) इस कदर बढ़ गई है कि व्यक्ति भूख की वजह से काल का ग्रास बन रहे हैं। इन ह्दय दहला देने वाली परिस्थितियों में आर्थिक संकट के साथ-साथ वर्ग विपन्नता ने अपना सिर उठा लिया। इस शोषण कालीन युग में इस व्यवस्था के कारण समाज में आर्थिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई अमानवीय यातनाओं, प्रताड़नाओं को सहन करने वाले इस शोषित वर्ग के पास अपनी स्थिति, हालत सुधारने के लिए क्रान्ति, संघर्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं है। विभिन्न देशों में हुई क्रान्तियाँ इस बात का प्रमाण है। स्वामी और गुलाम, उच्च कुल और निम्न कुल, जमींदार तथा

कृषक वर्ग, संघ के अधिकारी और मजदूर अर्थात् शोषण करने वाले तथा शोषित वर्ग हमेशा एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। आर्थिक विपन्नता के कारण तत्कालीन समाज में अमीर और गरीब के बीच की दूरी बढ़ती गई। इस खाई में पूँजीपति और पूँजीपति बनता जा रहा है, निर्धन वर्ग और निर्धन होता जा रहा है। 1917 में रूसी क्रान्ति के बाद विश्व ने पूँजीवादी की निरंकुशता को ललकारा। पूँजीवादी व्यवस्था ने हर देश के समाज में जिस तरह की अति फैला रखी थी. जिस विषमता को स्थापित कर रखा था, उससे पूरा विश्व त्रस्त था। अभिव्यक्ति का समय आते ही सभी ने अपने-अपने ढंग से बात रखी -

"साँप के समान जब कुछ पूँजीपति
अपने विषबल का आतंक फैलाते हुए
शेष रह जाएँगे,
तब जनता उनसे उस धन का उद्धार करके
जीवन के नए भवन
निर्माण करेगी।"[29]

धनार्जन व्यक्ति जहाँ स्वयं ऊँची-ऊँची भव्य तथा शानदार महलों में शान से रहता है वहीं उसका कुत्ता भी निर्धन वर्ग से बेहतर सुविधा प्राप्त करता है। गरीब व्यक्ति तो कड़कड़ाती सर्दी की रातों में खुले आसमान के नीचे धरती को अपना बिछौना बनाता है। लेकिन पापी पेट की भूख को किस प्रकार शांत करें, भोजन न मिल पाने के कारण मौत उसे गले लगा लेती है। धनाभाव मानव जीवन में सबसे बड़ा अभिशाप है। आर्थिक रूप से विश्व व्यापार, उदारवाद और वैश्वीकरण की अंधी दौड़ में श्रमजीवी मजदूर वर्ग, गरीब व्यक्ति संकट के दौर से गुजर रहा है। आर्थिक विपन्नता और विषमता लगातार बढ़ती जा रही है। जिसके कारण युवा-वर्ग की विचार क्षमता केवल रोटी की अर्थव्यवस्था के संघर्ष तक सीमित होकर रह गई। इसी कारण उनके मन में कुण्ठा, व्याकुलता, अधीरता आती है। इस स्थिति से मनुष्य आत्महत्या कर बैठता है। त्रिलोचन ने अपनी कलम शोषितों के लिए उठाई, ये लिखते हैं कि उन्हें सुख की चाहना नहीं भर पेट भोजन ही उनके लिए परम सुख है। इस शोषित वर्ग के मनुष्यों को जीने का पूरा अधिकार है, क्योंकि वे इसी समाज का अंग है। उन्हें दुखी पीड़ित देखकर शेष समाज सुखमय रह सकेगा यह असम्भव है। ठीक वैसे ही जैसे घर की दीवारों पर

कोई नमी लगी हो या कहीं गर्दा जमा हो या सामने की नाली में कीड़े कुलबुला रहे हों, तो घर में सुख से बैठ नहीं सकते। इसलिए कवि कहते हैं-

"कोई भूखा हो तो उसको लाकर रोटी
दो मत लम्बी-चौड़ी बात बनाओ इसकी.... उसकी...।"[30]

आज भारत उस दोराहे पर खड़ा है। जहाँ एक ओर पश्चिमी सभ्यता में डूबा चंद शहरी अमीरों का कम्प्यूटर युग वाला इण्डिया है, तो दूसरी ओर के फुटपाथों एवं झोपड़पट्टियों में रहने वाला दो समय की रोटी को तरसता ग्राम्य भारत। पहला भाग जो एक चौथाई से भी कम है वही आज शासक है एवं दूसरा भाग जो तीन चौथाई से अधिक है वह शोषित है। ऐसे लगता है भारत बीस प्रतिशत धनाढ्य लोगों का ही है जबकि अस्सी प्रतिशत गरीबी से नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों का राष्ट्र के निर्माण में कोई हिस्सा नहीं है। आर्थिक विषमता और विपन्नता हमेशा कहती है कि भारतीय बजट निर्धन वर्ग की मजबूरियों, असमर्थताओं, निर्धनताओं को जल्द ही दूर करेगा भारतीय उद्योग खुलेंगे, खुली प्रतियोगिता होगी, वस्तुओं के भाव गिरेंगे, रोजगार भी आसानी से मिलेगा आदि। ये नेताओं के झूठे, कोरे आश्वासनों को हम जानते हैं। आज भी आम जनता का शोषण उसी तरह हो रहा है न जाने कब आर्थिक विपन्नता से हम ऊपर उठ सकेंगे। लोगों में मानवता के प्रति विश्वास जागृत कर पायेंगे। आज भी समाज और विपन्नता से जूझता नज़र आ रहा है। निर्धन और धनी वर्ग में यह संघर्ष उस समय तक बना रहेगा जब तक सभी वर्ग-भेद समाप्त नहीं हो जाते हमारे समाज में निर्धनता एक गम्भीर समस्या मानी जाती है। निर्धनता का अर्थ स्पष्ट करते हुए गिडिंग्स ने कहा हैं- "निर्धनता व्यक्ति की वह दशा जिसमें वह अपर्याप्त आय अथवा विवेकहीन व्यय के कारण जीवन का स्तर ठीक नहीं रख पाता जिससे उसकी मानसिक तथा शारीरिक कुशलता बनी रहे तथा अपने आश्रित व्यक्तियों को सामाजिक स्तर के अनुसार कार्य करने के योग्य बना सके।"[31]

त्रिलोचन असहाय लोगों की वेदना को अभिव्यक्ति प्रदान की है। चाहे वह मजदूरी हो. दरिद्र वृद्धा हो, कृषक हो, गरीबी से जूझता बुद्धिजीवी। एक स्थान पर दिविक रमेश लिखते हैं- "मेरी नजर में त्रिलोचन की कविताएँ संघर्ष के लिए तैयारी कर लेने वाले पक्ष से अधिक जुड़ी हैं। विषम परिस्थिति में व्यक्ति जी सके, टूटे नहीं, अपने को हीन न समझे और विपदाओं को सहते हुए खुद को मजबूत बनाए आदि, त्रिलोचन की कविता का मूल लक्ष्य है।"[32] उन्हें शोषित वर्ग के प्रति पूरी हमदर्दी है।

इतना ही नहीं पूरा विश्वास है कार्ल मार्क्स की तरह कि आज जिन हाथों को काम करने के बावजूद उपेक्षा मिल रही है. उसका शोषण किया जा रहा है। एक दिन उन्हें सर्वोपरि स्थान मिलेगा। पर कब मिलेगा इसकी प्रतीक्षा है। एक जगह ये लिखते हैं-

"हाथों के दिन आएँगे। कब तक आएँगे,
यत हो कोई नहीं बताता।
सुख की रोटी वे कब खाएँगे,
सुख से कब सोएँगे, उसको कब पाएँगे,
जिसको पाने की इच्छा है। हरने वालो
हर-हर कर अपना-अपना घर भरने वाले,
कहाँ नहीं है, हाथ कहाँ से क्या लाएँगे
हाथ कहाँ हैं वंचक हाथों के चक्के में,
बंधक है बंधुए कहलाते हैं धरती है
निमर्म पेट पले कैसे। इस उस मुखड़े की
सुननी पड़ जाती है धौसा के धक्के में।"[33]

अर्थात् कवि ने कभी न हारने की बात कही है। 'बाँट-बूँटकर खाओ' की पंक्ति आर्थिक विषमता और विपन्नता को दूर करने के लिए कहा है। त्रिलोचन ने पूरी जिन्दगी गरीबी की वेदना के लिए कहा है। त्रिलोचन ने पूरी जिन्दगी गरीबी की वेदना को सहा और समझा इसलिए वे आम लोगों, गरीब लोगों की मजदूरों की दशा को समझा। उन्होंने समाज को जिस पैनी दृष्टि से देखा वह साधारण कवि के पास नहीं होती।

5.5 पूंजीपति वर्ग के प्रति आक्रोश :-

पूंजीपति वर्ग से तात्पर्य है-'उच्च वर्ग'। 'उच्च' शब्द का अर्थ है- "ऊँचा-श्रेष्ठ"[34] अर्थात् समाज का वह भाग जो सामाजिक-दृष्टि से उच्च माना जाता है तथा अपने धन-दौलत के कारण समाज में अपना श्रेष्ठ स्थान निर्धारित करता है। उच्च वर्ग के पास अत्यधिक घन होने के कारण यह ऐश्वर्यपूर्ण व विलासी तरह का होता है। इस वर्ग को प्राप्त सुख-सुविधाओं, धन-वैभव, ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत

करने के कारण उसे उच्च माना जाता है। उच्च वर्ग के पास आवागमन हेतु बड़ी-बड़ी गाडियां, नौकर, अच्छे मकान, होते हैं। उच्च वर्ग में सामाजिक मान्यताओं के प्रति स्नेह का भाव कम ही रहता है। उच्च वर्ग समाज में होने वाली क्रान्ति में कम से कम भाग लेता है क्योंकि उस वर्ग का प्रयोजन अर्थ प्राप्त करना है। इसके लिए यह वर्ग मजदूरों का शोषण, अत्याचार करता है।

उच्चवर्ग, जिसमें पूँजीपति विशेषकर उद्योगपति भी शामिल हैं। वे श्रमिकों, मजदूरों के साथ प्रत्येक तरह का अमानवीय, अनुचित व्यवहार करते हैं। पूँजीपति शब्द की उद्भावना अर्थ-व्यवस्था के समाजवादी आलोचकों ने उन्नीसवीं शताब्दी में की थी। "पूँजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति और पूँजी का समर्थक है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी सभ्यता एवं संस्कृति का एकमात्र आधार अर्थवाही है। इसके अनुसार प्राचीन सभ्यता एवं सम्बन्धों का अन्त हो जाता है। पिता-पुत्र पति-पत्नी, शिक्षक-शिष्य आदि के परम्परागत सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं केवल अर्थमूलक ही शेष रह जाते हैं। इस वर्ग में आवश्यकता से अधिक धन सम्पन्न लोग सम्मिलित है। प्रधानतया पूँजी के स्वामी पूँजीपति ही उच्च वर्ग का निर्माण करते हैं।"[35] जब पूरे संसार में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का जन्म हो रहा था तो हमारा देश इससे कैसे दूर रह सकता था। अंग्रेजी सरकार भी औद्योगिक विकास करना नहीं चाहती थी. लेकिन यहाँ की सामन्ती व्यवस्था के बिखराव की परिस्थितियों में सम्पूर्ण भारत में इस प्रवृत्ति को फैलने का मौका मिला। जिससे भारत में पूँजीपति वर्ग का विकास तेज गति से हुआ। उच्च-वर्ग में उच्चाधिकारी, बड़े व्यवसायी, औद्योगिक प्रतिष्ठानों के मालिक आते हैं। उच्च वर्ग अधिक से अधिक शक्तिशाली होने के लिए समाज में मिलावट, रिश्वत, भ्रष्टाचार, कालाधंधा, जमाखोरी जैसे अनैतिक कार्यों को स्वयं तो करता ही है, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग को भी अपने साथ मिलाने का तथा उनका शोषण करने का प्रयत्न हरदम करता रहता है। क्योंकि उच्च वर्ग में भौतिक मूल्यों के प्रति अतिरिक्त लगाव प्रेम विद्यमान रहता है।

त्रिलोचन ने अपनी रचनाओं में समाज की विषमताओं और विसंगतियों का यथार्थ चित्रण किया है। उनकी रचनाओं में सामाजिक विषमता का मूल कारण वर्ण, जाति और वर्ग की विशेषता रही है। समाज हमेशा असमानता, भेदभाव, शोषण और अंधी श्रद्धा पर आधारित है। इन्होंने पूँजीपति वर्ग को दलित वर्ग, उत्पीड़क वर्ग का शोषक बतलाकर, उनके प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है। पूँजीपति वर्ग कैसे गरीब लोगों का खून चूसते है, इस संदर्भ वे कहते हैं -

"और पूँजी खींच-खींच करके सब दुनिया की
मुट्ठी भर पूँजीपति पहले से अधिक मोटे
होते चले जा रहे हैं।"[36]

कवि ने इसके साथ ही शोषित वर्ग को पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने का बल प्रदान करते हुए कहा है कि-

"यह क्रम रुकेगा नहीं. शोषण थम सकेगा नहीं
जब तक चढ़ा ऊपरी का राज्य है
तब तक यह मनुष्य-जीवन फल-फूल सकेगा नहीं
पूँजीवाद जिस डाल पर बैठता है
वही डाल काटता है, सर्वनाश करता स्वयमेव
अतुलित धन-राशि पर
साँप के समान जब कुछ पूँजीपति
अपने विष बल का आतंक फैलाते हुए शेष रह जायेंगे
तब जनता उनसे उस धन का उद्धार करके
जीवन के नये भवन
निर्माण करेगी।"[37]

त्रिलोचन अवध जनपद में भारतीय कृषक परिवार में पैदा हुए, इसलिए उनकी कृतियों मैं कृषक और भारतीयता का गुण साफ से दिखाई देता है। अवध की धरती में जन्मा यह कवि यथार्थवादी विचारधारा का कवि है। 'धरती' से लेकर 'ताप के ताए हुए दिन' जैसी रचनाओं में उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं चिन्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इन्होंने अपने काव्य-संग्रहों में अर्थ से सम्बन्धित समस्याओं और उससे जूझने के उपाय विषयों का यथार्थ, सूक्ष्म तथा मार्मिक वर्णन किया है। इनके अलावा अन्य विषयों का भी वर्णन यथार्थता से किया है। रचनाओं में यथार्थता का प्रयोग करना ही इस कवि का तथा उनकी विलक्षण रचनाओं का विशिष्ट गुण है। त्रिलोचन ग्राम्य जनता के कवि हैं और ग्राम्य जनता का यथार्थ तथा मार्मिक स्वर अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को सुनाया है। उन्होंने अपनी प्रतिभा और सृजनात्मकता के माध्यम से रचनाओं में ग्राम्य लोकजीवन

और ग्राम्य लोगों की समस्याओं बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा, भूखमरी का यथार्थ वर्णन किया है। उदाहरण के लिए 'धरती' काव्य-संग्रह ऐसी ही समस्याओं को व्यक्त करता है। 'धरती' काव्य-संग्रह में ही एक दलित कविता है। 'भोरई केवट के घर में' दलित नायक भोरई की दयनीय आर्थिक स्थिति का वर्णन किया है और समाज में उसकी यह स्थिति पैदा करने वाले गाँव के ही क्रूर पूँजीपति वर्ग की भर्त्सना की है-

"मानव को मानव के
सुख-दुःख का कुछ ध्यान नहीं है
उससे व्यक्तिवाद पनपा है-
उससे पूँजीवाद हुआ है
इन्हें नष्ट कर शोषित मानव,
शाप काट दो जग-जीवन का।"[38]

कवि किसानों के विकास में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं जमींदारों को, महाजनों को जिनकी निर्दयता उनके जीवन को दूभर बना देती है। दोनों हाथों से लूटकर वे उन्हें दीन और असहाय बना देता है। कवि उन्हें शोषक और पिशाच मानता है क्योंकि वे गरीबों के खून से सम्पन्न होते हैं-

"तुम्हें इसकी शिकायत किसलिए हो रोजी की तलाश किसे नहीं है
रोटी ही विजय है जीवन की यदि भूखा हारा पा जाए
उसे देखने वाले देखेंगे जिन्हें दिल है वही उसे समझेंगे
फुरसत जो कभी मुसकाने की आफत का मारा पा जाए
पर औरों के जो बनाता है अपना भी आप बना लेगा
अनुकूल मसाला जो पा जाए और चूना गारा पा जाए
चुप देख के दोष उसे मत दो कोयल का काम ही गाना है
अभी जान लड़ा कर गाएगी यदि पेट को चारा पा जाए
किसी सेठ के दिल में आँका है उसे कितनी चिंता रहती है
कैसे दुनिया का माल मता सारा का सारा पा जाए।"[39]

अर्थात् कवि कहता है कि रोटी ही सबसे ऊपर है, खाली पेट कुछ नहीं हो सकता जो मजदूर औरों के लिए महल बनाता है, वह अपने घर के सपने देखता है और कहता मैं भी अपना घर बना लूँ,

अगर चूना गारा पा लूँ और कहता है कि किसी सेठ साहूकार को किसी की चिन्ता नहीं है उसे ज्यादा से ज्यादा अपनी तिजोरी भरने की चिन्ता है। कवि कृषक यथार्थ स्थिति से परिचित है कि कृषक की महता और उसका गौरव क्या है वह जानता है कि युगों से उपेक्षित और नीरस जिन्दगी काटने वाला कृषक वास्तविक रूप से देवता है। उसके महत्त्व, उसकी आवश्यकताओं को नकार कर आगे बढ़ना, किसी भी देश के लिए असम्भव है। जो कृषक परिश्रम करके, अपने पसीने से फसल पैदा करके, महाप्रभुओं को अन्न प्रदान करता है, उसकी उपेक्षा मूलतः मानवता की उपेक्षा होगी।

भूख और गरीबी का सम्बन्ध बहुत ही पुराना है, क्योंकि एक गरीब व्यक्ति ही भूखमरी के कारण मरता है। यह एक दर्दनाक और भयावह स्थिति है। यह तो सर्वविदित है कि एक पूँजीपति व्यक्ति के सामने पेट की आग सम्बन्धी भूख कुछ नहीं होती। यह स्थिति भी श्रमिक और मजदूरों को डसती है। आधुनिक युग में इससे तो अच्छा है कि हम सभी इस युग को आधुनिक न कहकर पूँजीपतियों का युग कहें तो अधिक बेहतर होगा। क्योंकि ये ऊंचे दर्जे के अमीर व्यक्ति सर्वहारा वर्ग के लिए सिवाय शोषण के कुछ नहीं करते। एक मजदूर की भूख उनके लिए कोई मायने नहीं रखती। पूँजीवाद ने सब नष्ट कर दिया। इस पर त्रिलोचन जी कहते हैं कि पूँजीवाद को नष्ट किए बिना कुछ नहीं हो सकता है-

"पूँजीवाद ने महत्त्व नष्ट कर दिया सबका
जीवन का, जन का समाज का, कला का
बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता
ज्ञान-विज्ञान से किसी प्रकार
कोई कल्याण नहीं हो सकता।"[40]

त्रिलोचन शोषित वर्ग के पक्षधर तथा पूंजीपति वर्ग के विरोधी रहे है। उनकी काव्यान्तर्गत पूंजीपति के प्रति आक्रोश एवं जनता का संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। त्रिलोचन शोषित जनता के निकट आकर, जिनके दुःख दर्द को कविता में उन्होंने मौलिकता से उभारा है। वे किसी भी राजनीतिक दल या सत्ता वर्ग से नहीं जुड़े बल्कि उनकी कवि दृष्टि मूलतः शोषित, दलित एवं उत्पीडित वर्ग की पक्षधर रही है।

5.6 संघर्ष की भावना :-

त्रिलोचन का इस गरीब देश के गाँवों से सीधा सम्बन्ध था। उनका बचपन गाँवों में ही बीता, यही कारण है कि त्रिलोचन ने ग्राम्य दशा को समझा। ये आजीवन गरीबी से लड़ते रहे। गाँव की गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी, आर्थिक शोषण, मध्यवर्गीय पारिवारिक विडम्बनाओं व अन्तर्विरोधों से स्वयं गुजरे हैं। त्रिलोचन के काव्य में आर्थिक संघर्ष यथार्थ के विविध रूप देखने को मिलते हैं। त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत देश के लोगों की आर्थिक तंगी तथा गरीबी के दर्द का वर्णन है। सदियों से यहाँ के आदमी अधभूखे, अधनंगे जीवन बिताने को मजबूर रहे हैं। जहाँ गरीब आदमी जिन्दा रहकर भी मरता रहता है। त्रिलोचन के मन में सहानुभूति ही नहीं प्यार भी है। इन्होंने कृषक जीवन के सामान्य व्यक्ति का उसकी उपेक्षा का उसकी गरीबी का उसकी तकलीफों का मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है। वर्तमान युग में एक ओर अमीर लोग है जिनके पास धन तो बहुत है पर उनका मन बहुत सिकुड़ा हुआ है। ये अपनी छाया में किसी को नहीं लेते दूसरी ओर मेहनत करने वाले सच्चे इन्सान, मजदूर हैं जिन्हें पैसे की सूरत देखे बहुत-बहुत दिन हो जाते हैं। इनका अमीर लोगों या पूँजीपति लोगों के द्वारा शोषण किया जाता है।

एक गरीब व्यक्ति या श्रमजीवी जी-तोड़ मेहनत करता है। सारी उम्र एक शोषित व्यवस्था के तहत निकाल देता है और आखिर में उसके हाथ कुछ नहीं लगता। त्रिलोचन ने अपने काव्य में मजदूर और कृषक की स्थिति का खुलकर यथार्थ चित्रण किया है। उनका मानना है कि यह वर्ग कब तक अन्याय, अत्याचार सहन करेगा। वे कहते हैं कि संघर्ष करना चाहिए, छोटे से छोटा व्यक्ति भी संघर्ष कर सकता है। मजदूर वर्ग को चुपचाप नियति को स्वीकारना नहीं चाहिए बल्कि अत्याचार शोषक करने वालों के खिलाफ संघर्ष करना चाहिए-

"उनको हँसती हुई मनुष्यता कहाँ भाई,
शोक ही को उन्होंने ला यहाँ बसाया है।
दु:ख को दंभ को ईर्ष्या को, युद्ध लिप्सा को,
नष्ट करने के लिए नव मनुष्य आया है
अब अधिक दिन नहीं अन्याय न यह उत्पीड़न
वर्ष के अन्त में अन्त इनका भी तो आया है।"[41]

कवि ने अपने मन की आग को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है कि अन्याय अत्याचार का अन्त जरूर होता है और नव मनुष्य का जन्म होता है। मजदूर वर्ग और कृषक के लिए रोजी-रोटी की भी एक गंभीर समस्या है। रोजी-रोटी का प्रश्न आज के युग में बहुत ही भयंकर समस्या बन गया है। यह समस्या शहरों की अपेक्षा ग्राम्य क्षेत्रों में बहुत ही विकराल है। आर्थिक असमानता से जो व्यक्ति गरीब है, वह दिन-प्रतिदिन और भी गरीब होता जा रहा है और जो व्यक्ति साधन सम्पन्न तथा पैसेवाला है वह और भी अमीर होता जा रहा है। उसने उत्पादन के सभी साधनों पर अपना आधिपत्य जमा लिया है तथा गरीब व्यक्तियों को अपनी क्रूर भुजाओं में जकड़ लिया है। इस प्रकार निर्धन व्यक्तियों को, किसानों को, दलितों को, मजदूरों को रोजी-रोटी की समस्या से रूबरू होना पड़ता है-

"जब नून तेल लकड़ी समस्या हो तब हुआ,
लेकर कला को कुछ निखार कोई क्या करे।"[42]

पूँजीपति व्यवस्था ने समाज व्यवस्था को इतना जटिल बना दिया है कि व्यक्ति के लिए रोजी-रोटी की समस्या वर्तमान समय में सुरसा की तरह मुँह फैलाए खड़ी है। त्रिलोचन जी के काव्य में गरीबी की समस्या सर्वत्र व्यापक है। उनके काव्यों को पढ़ने के बाद लगता है त्रिलोचन आम आदमी के सरोकारों के कवि हैं। उनकी रचनाएँ पढ़कर तो ऐसा महसूस होता है कि त्रिलोचन ने गरीबी के संघर्ष को देखा है, भोगा है और जिया है-

"'भिक्षा से क्या मिलता है।' 'जीवन' क्या इसको,
अच्छा आप समझते हैं। दुनिया में जिसको,
अच्छा नहीं समझते हैं, करते हैं, पूछा
पेट काम तो नहीं करेगा। 'मुझे आप से ,
ऐसी आशा न थी।' 'आप ही कहे, क्या करूँ,
खाली पेट भरूँ, कुछ काम करूं कि चुप मरूँ'।"[43]

अर्थात् भीख माँगते उसी त्रिलोचन को देखा कल 'उस जनपद का कवि हूँ' कविता के द्वारा त्रिलोचन जी की आर्थिक दशा कैसी हो यह दर्शाया है और कुछ भी करने से पहले पेट के लिए रोटी का होना जरूरी है यह यथार्थ वर्णन किया है।

गरीब किसानों और मजदूरों के जीवन का यथार्थ वर्णन त्रिलोचन के प्रथम संग्रह धरती से लेकर 'जीने की कला' काव्य-संग्रहों के काव्यान्तर्गत स्थित पात्रों के माध्यम से ग्राम्य लोक-जीवन का यथार्थ चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने पहले काव्य-संग्रह 'धरती' में गरीब किसानों व मजदूरों के संघर्षमय तथा श्रमशील जीवन का यथार्थ चित्रण किया है, जिसका प्रमाण इस संग्रह की पंक्तियों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है -

"है धूप कठिन सिर-ऊपर
थम गयी हवा है जैसे
दोनों दूध के ऊपर
रख पैर खीचते पानी
उस मलिन हरी धरती पर
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी
है अचल पवन, साँसें चल
चल रहा पसीना अविरल
चलती है बेड़ी प्रतिपल
विश्राम नहीं है उनकी
है आज नहीं उनको कल
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी।'[44]

अर्थात् कृषक और उसकी पत्नी दोनों अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए मिलजुल कर एक साथ खेत में अविराम काम करते हैं और उनके इस सामूहिक श्रम में उनका परस्पर प्रेम भी स्पष्ट दिखाई देता है। कृषक और उसकी पत्नी गर्मियों की प्रचण्ड धूप लगने पर भी खेत में मिलकर काम करते हैं और जब सिर पर अधिक धूप लगने लगती है, तो किसी पेड़ की छाँह में बैठकर दोनों विश्राम करते हैं। इन पंक्तियों के माध्यम से कवि ने गाँव के किसानी जीवन का यथार्थ वर्णन किया है। इसके साथ ही कवि ने मजदूर किसानों को संघर्ष करने के लिए भी प्रेरित किया है-

"ओ तू नियति बदलने वाला
तू स्वभाव को गढ़ने वाला
तूने जिन नयनों से देखा
उन मजदूर किसानों का दल-
शक्ति दिखाने आज चला है।"[45]

एक अन्य जगह पर मजदूर वर्ग को एकजुट होकर पूँजीपति वर्ग से संघर्ष करके अपने अधिकार लेने चाहिए कि प्रेरणा देते हैं-

"जिसने जीवन को अपना कर
अखिल संकटों को ललकारा
जिसने जीवन के पल पल को
किया जागरित और सँवारा
वही समूह बना पुरुषार्थी
जीवन-शक्ति समझ पाया है
बरगद की छाया के भीतर
नहीं अन्य तरू बढ़ पाया है।"[46]

कवि ने उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से मजदूर वर्ग को पराधीनता को तोड़ने के लिए अपने पौरुष का करतब दिखाकर नूतन निर्माण करने के लिए प्रेरित किया है अर्थात् संघर्ष करके अपनी शक्ति को पहचाने के लिए कहा है।

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। स्वतन्त्रता से पहले देश में किसानों की दशा अच्छी नहीं थी और इससे भी नीचे मजदूर लोग आते हैं, जिनका जीवन आर्थिक वर्ग-वैषम्य के कारण अभावग्रस्त था। किसानों और मजदूरों पर हुकूमत करने वाले पूँजीपतियों ने इनका जीवन बर्बाद कर दिया था। कृषक और मजदूर सुबह से शाम तक जी-तोड़ मेहनत और संघर्ष किया करते थे और वह जो कुछ भी अपनी मेहनत से उत्पादित करते, उसे पूँजीपति अपने अधिकार में ले लेते थे। ऐसी स्थिति में किसानों के जीवन में गरीबी हमेशा बनी रहती थी। कृषक अपने खेतों में अधिक श्रम करता था, लेकिन पूँजीपति उनकी तपस्या का उचित श्रमिक मूल्य उन्हें नहीं देते। यह पूँजीपतियों द्वारा किसानों

का आर्थिक शोषण करना है। किसानों की भाँति मजदूर भी इनके शोषण, अन्याय, अत्याचार का शिकार होते रहे, क्योंकि ये मजदूरों से अपने मिल एवं कारखानों में अधिक समय तक श्रम करवाते तथा उसके बदले में सही जीवन बसर करने के लिए उचित श्रमिक मूल्य भी नहीं देते। इस प्रकार के शोषण से कृषक तथा मजदूर का जीवन समाज में अधिक प्रभावित हुआ। यह स्थिति आज भी स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र देशवासियों के साथ भी है। कवि ने पूँजीपतियों को साँप के जहर जैसा बताया है। जैसे-

"सामंती युग की स्वाभाविक मौत न पाई
ईश्वर ने, पूँजीपतियों ने, सामंतों ने,
उसे मार डाला, उसकी खा गए कमाई,
देश देश में जो संचित थी विषदंतों ने,
पूँजीवादी साँप के जहर को फैलाया
यह समाज के रंग रंग में हड़कंप मचाता
दुआ आज भी काम कर रही है, बन पाया
नहीं किसी से कुछ, रोगी कराहता जाता।"[47]

अर्थात् कवि ने ईश्वर की मृत्यु कविता के माध्यम से पूँजीपतियों की यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है।

कृषक संघर्षशील तथा श्रमशील होता है और यही कारण है कि वह प्रकृति के किसी रूप में भयभीत नहीं होता, बल्कि हर मौसम में तथा हर परिस्थिति में मेहनत करके खेती करने में आनन्दमग्न रहता है। इसी तरह की 'धरती' काव्य-संग्रह की एक कविता है 'भोरई केवट के घर में' कवि ने कृषक की दयनीय, असहाय स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। इस कविता का नायक आर्थिक रूप से कमजोर है। जैसे-

"ऐसा जान पड़ा जैसे भोरई निरूपाय और असहाय
आकण्ठ दु:ख के अभाव के समुद्र में पड़ा हुआ।
उसकी विकट लहरों के थपेड़े सह रहा था।"[48]

त्रिलोचन जी ने मजदूर वर्ग व श्रमिक वर्ग की स्थिति का यथार्थ वर्णन किया है। पूँजीपतियों की भी कपट नीति का वास्तविक चित्रण किया है और इनसे संघर्ष करके मजदूरों और किसानों को अपने हक के लिए उचित श्रमिक मूल्य के लिए संघर्ष करने को प्रेरित किया है। एक अन्य जगह पर कवि ने पूँजीपतियों के शोषण का विरोध करने के लिए मजदूर वर्ग को मुक्ति के लिए प्रेरित किया है। कवि ने पूँजीपति वर्ग को दीवार कहकर कटाक्ष किया है। त्रिलोचन कहते हैं कि अगर मुक्ति चाहते हो तो दीवार रूपी पूँजीपति वर्ग को तोड़ना होगा। आगे त्रिलोचन ने रक्त ध्वज' का वर्णन किया है, वह रूस की क्रान्ति का प्रतीक लाल झण्डा है, जिसके लिए उस युग में आहवान किया था कि दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ लाल झण्डे के नीचे आओ। इस पर कवि लिखते हैं-

"तुम करो नष्ट सब भेदभाव
तुम हरो निखिल जग के अभाव
सब बाधा हर
होकर तत्पर
नव साहस भर
तुम विजयी बनकर अपना नियमन आप करो
जीवन की संचित व्याकुलता सब ताप हरो।"[49]

त्रिलोचन ने अपना ध्यान कृषक की पत्नी की स्थिति पर भी डाला है। उसके शारीरिक सौन्दर्य पर नहीं उसकी श्रमशीलता पर पति के साथ सहभागिता पर कवि ने अपनी कलम से कृषक पति-पत्नी का जो चित्र उकेरा है, वह निस्संदेह त्रिलोचन जी के लोकमर्मज्ञ हृदय की संवेदना और उनके सफल शिल्पकार का प्रमाण है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार ही अर्थ की धुरी पर घूम रहा है। इस प्रकार त्रिलोचन का काव्य भी आर्थिक संघर्ष से अछूता नहीं है बल्कि ये कहा जाए तो और बेहतर होगा कि त्रिलोचन का काव्य मजदूर गरीब, कृषक के आर्थिक संघर्ष का काव्य है। इनके काव्य में रोजी-रोटी के प्रश्न को उभारा गया है। यह प्रश्न वर्तमान समय में भी एक ज्वलन्त मुद्दा है। कवि के काव्य में श्रमिक की जी तोड़ मेहनत का अवलोकन कर सकते हैं। उद्योगपतियों एवं साहूकारों का जो दृष्टिकोण आम जनता के प्रति रहा है इसके भी वास्तविक

उदाहरण त्रिलोचन के काव्य में मिलते हैं। सचमुच यह सारा विवरण त्रिलोचन के काव्य के आर्थिक सरोकारों की नानाविध व्यंजना करता है।

5.7 शोषण का विरोध:-

कार्लमार्क्स ने प्रमुख रूप से तीन वर्गों की परिकल्पना की। पहले वर्ग को उन्होंने 'बुर्जुआ' या 'शोषक-वर्ग' कहा है और दूसरे को ' शोषित-वर्ग' की संज्ञा दी। शोषक एवं शोषित वर्ग के संघर्ष से ही कालान्तर में तीसरे वर्ग का जन्म हुआ जिसे मार्क्स ने उसे 'मध्यवर्ग' कहा है। इस प्रकार "वर्तमान समाज आर्थिक दृष्टि से तीन वर्गों या श्रेणियों में विभक्त है - उच्च वर्ग, मध्यवर्ग, तथा निम्न वर्ग। उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग शोषक या शोषित, पूँजीपति या श्रमिक के नाम से भी जाने जाते हैं। संसार के सभी पूँजीवादी देशों में उक्त तीन श्रेणियों विद्यमान है।"[50] हिन्दी शब्द सागर के अनुसार निम्न वर्ग "समाज का निचला व पिछड़ा हुआ वर्ग है।"[51] निम्न वर्ग का अर्थ है- समाज का वह पात्र जो आर्थिक आधार पर उच्च से निम्न की ओर जाते हुए तीसरे स्तर पर आता है। इस वर्ग के अन्तर्गत समाज के वे लोग आते हैं, जिनका समस्त जीवन उच्च तथा कुछ सीमा तक मध्यवर्ग की सेवा में बीत जाता है। इस वर्ग के अन्तर्गत घरेलू नौकर कृषक, मजदूर, चौकीदार आदि आते हैं। निम्न वर्ग अथवा श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति का कारण है पूँजीवाद पूँजीपति निम्न वर्ग, श्रमिक की आन्तरिक और बाह्य दोनों ही शक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग करता है। अपने पैतृक सम्मान पर मर मिटने वाला और घरेलू कार्यो में दक्ष व्यक्ति वर्ग-भेद जैसी समस्याओं में फँसकर केवल निम्न स्तर का मजदूर बनकर ही रह गया है। यह वर्ग हमेशा मेहनत करने में विश्वास रखता है। यह वर्ग दूसरे वर्गों की अपेक्षा अधिक शारीरिक मेहनत, मशक्कत करता है तथा आर्थिक दृष्टि से उक्त दोनों वर्गों से कम महत्त्वपूर्ण समझा जाता है और वास्तविकता भी यही है निम्न वर्ग की अधिकतर समस्याओं का केन्द्र अर्थ होता है। धनाभाव के कारण अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्ति के लिए विद्यालय न भेजकर मजदूरी करने भेजना पड़ता है।

जैसे- "बहुत व्यग्र बुआ के पास खड़ा खड़ा मैं
उससे किताबें नई लेने के लिए पैसे मांग रहा था,

X X X

बुआ ने कहा: आज मदरसे तुम चले जाओ, मास्टर से कह देना :
पैसे आज नहीं मिले, कल तक मिल जाएँगे।
तब तक माँ आई और उसने कहा: रोज-रोज कहती हूँ,
पढ़ लिखकर क्या होगा, पढ़ना अब बन्द करो इसका, घर काम करे।"[52]

अर्थात् स्वयं कवि के परिवार की आर्थिक स्थिति खराब थी। जिससे त्रिलोचन की माँ पुस्तकों के पैसे माँगने के बदले त्रिलोचन को कहती कि क्या करेगा पढ़कर काम करना शुरू कर दे। निम्न वर्ग जीवन भर शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कड़ी मेहनत करता है परन्तु फिर भी जीवन की जरूरी चीजें कपड़ा, रोटी और मकान जैसी इच्छा भी पूरी नहीं हो पाती। अतः उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग की भावनाओं के साथ अन्त तक खिलवाड़ करते रहते है। इसी कारण पूँजीपति वर्ग के प्रति निम्न वर्ग में घृणा का भाव बढ़ता जा रहा है, क्योंकि पूँजीपति अपने क्षुद्र स्वार्थी के लिए श्रमिकों की मौत तक करवा देते हैं। पूँजीपति या उच्च वर्ग धन-सम्पदा के बल पर सारी व्यवस्था पर नियन्त्रण बनाए हुए हैं।

त्रिलोचन ने अपने काव्यान्तर्गत मजदूरों, शोषितों, किसानों इत्यादि को काव्य-नायक बनाकर, उनके प्रति कवि ने विशेष सहानुभूति तथा पूँजीपति के होनेवाले अत्याचारों के प्रति विरोध व्यक्त किया है। 'मैं तुम्हें सौंपता हूँ' काव्य-संग्रह में संकलित कविता 'रामचन्द्र दुबे' में कवि ने गाँव में व्याप्त सूदखोरी के प्रति संकेत किया है। कवि बताते हैं कि रामचन्द्र दुबे पैंसठ वर्ष से कुछ अधिक ही होंगे, भोली-भाली जनता में ये पूजनीय भी हैं साथ ही ढोंगी तथा आडम्बरी भी। कवि उनके ऋण उधार देकर धन कमाने पर बड़ा ही सुन्दर व्यंग्य किया है-

"ब्याज कमाते थे ऋण देकर धन क्यों खोएँ
किसी बड़े को बड़ा ऋण दिया, ब्याज न आया,
X X X
फेरे करते रहे, पाँव उनके खिया गए
दूबे ने भी देव दया से जटा कटाई।"[53]

अर्थात गरीब लोग आर्थिक स्थिति के संकट को कम करने के लिए ब्याज पर रुपये लेते थे लेकिन बेचारे रामचन्द्र दुबे जैसे सूदखोरी की ढोंगी प्रवृत्ति की वजह से दोगुना आर्थिक संकट झेलना

पड़ता था। यह स्थिति आज भी जीवित है। त्रिलोचन ने निम्न वर्ग अर्थात् शोषित वर्ग की यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है, देखिए -

"बोछारे खा-खा कर
दीवारें सील गयीं
इनमें अब रहते भय लगता है
दक्खिन के टोले में
रामनाथ का मकान
बैठ गया -
यह कहो तो पसु पुरानी बच गए
अब कल क्या खाएँगे
सुनते हैं, उत्तर की ओर, रामपुर में
पानी पैठ गया है
लोग ऊँची जगहों में जा-जाकर ठहरे हैं
कुछ पेड़ों पर चढे
इधर-उधर देखते हैं
वर्षा का तार अभी नहीं थमा
यह कैसा दुर्दिन है।"[54]

कवि ने निम्न वर्ग एवं शोषित समुदाय की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन किया है। त्रिलोचन को आशा है कि आज वर्ग का शोषण हो रहा है, उनके दु:खों का अन्त बहुत पास है-

"सूर्योदय अब दूर नहीं है, और रात का,
उतर चला है रंग। बादलों के वे टुकड़े,
अब कुछ-कुछ हिल-डोल रहे हैं, जैसे उखड़े,
हुए लोग अवसाद फेंक कर नई बात का,
कल्पित रूप निहार रहे हों...।"[55]

त्रिलोचन की सम्वेदना गरीब लोगों के साथ है, जिस आदमी ने अपने अपमान की अपने प्रति समाज के उपेक्षा भाव की कभी चिन्ता नहीं की। जिसका मन और मस्तिष्क इन्हीं शोषण, अत्याचार, अन्याय में जी रहे लोगों के लिए समर्पित रहा। वह भला सत्तापोषियों या पूँजीपतियों की रहमत, दया क्यों माँगेगा? वे तो लिखते रहे उन लोगों के विरुद्ध जिन्होंने समाज और देश की पूरी व्यवस्था को ही बर्बाद कर दिया। इस संदर्भ में वे कहते हैं -

"यह केवल दलितों की नालिश सुनता है
उनकी कहता है, यह धनिकों का
कुछ भी ध्यान नहीं करता है। यदि यह ऐसा,
ना करे और तेरह दे-दे तो इसको पैसा,
न घटे, ये कहता है गायक दल बनियों का,
जो हो, किन्तु त्रिलोचन जैसा रह आया है,
वैसा उसने जान बूझकरअपनाया है।"[56]

कवि शोषित वर्ग की (गरीब वर्ग) की पक्षधरता करते हैं। मार्क्स ने नारा दिया कि दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ क्योंकि इस एकता के बल पर ही वे अपनी शोषित जिंदगी से उभर सकेंगे- वैसा ही सूत्रपात त्रिलोचन की कविता में है-

"खाद्य स्वल्प था। मैंने कहा उठा लाओ,
बॉट-बाँटकर खाओ। फिर तलाश में चारो,
ओर बिखर कर जाओ ये चिन्ताएँ मारो,
जो जड़ बना रही हैं, विचरो, विहंसो गाओ,
खून पसीना एक करो, फिर जो कुछ पाओ,
लेकर जल्दी आओ और कभी मत हारो,
कठिन भूख से तर कर दुःख जलाधि से तारो,
अन्य जनों को लाओ मजधार में बचाओ।"[57]

त्रिलोचन ने आर्थिक यथार्थ बोध के वर्ग-भेद, वर्ग संघर्ष, बेरोजगारी, मजदूरों-श्रमिकों की स्थिति और समस्याएँ इत्यादि अनेक पक्षों की भरपूर आलोचना की है। त्रिलोचन ने गरीबी को देखा

परखा और मंच पर पूँजीवाद के अत्याचार, अन्याय और मजदूर व किसानों के शोषण के चश्मदीद गवाह रहे हैं। 'वर्ग संघर्ष' त्रिलोचन के लिए 'मार्क्सवाद दर्शन नहीं जीवन का यथार्थ है। इसलिए त्रिलोचन के काव्य के पात्र कृषक हैं, श्रमिक हैं, भोले-अनपढ़ ग्राम्य हैं। कवि की संवेदना पूर्ण रूप से अपने श्रम पर निर्भर रहकर अपनी जीविका कमाने वाले साधारण तथा गरीब जनता के साथ है। वह व्यक्ति चाहे कृषक हो, गरीब मजदूर हो या अन्य कोई। त्रिलोचन की पैनी दृष्टि से कृषक जीवन का और दलितों का कोई भी चित्र नहीं छूटा है। ये इन दोनों का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन करते हैं। त्रिलोचन किसानों को जीते-जागते मानव समुदाय के रूप में देखते हैं। उनके काव्यान्तर्गत गरीबी, शोषण, और उत्पीड़न के शिकार, कृषक खेतीहर मजदूर और इन खेतीहर मजदूरों में भी स्त्रियों की जीवन-दशा का यथार्थ वर्णन किया है। उन्होंने देश की अशिक्षा को गरीबी को, जात-पाँत के भेदभाव को, नारी के पिछड़ेपन को कृषि की स्थिति को अपने काव्य में यथार्थ वर्णन किया है। अन्ततः कह सकते हैं कि सामाजिक व्यवस्था की गतिशीलता के व कार्यकुशलता के लिए इन वर्गों में सामंजस्य होना जरूरी है। अगर वर्गीय तालमेल नहीं होगा तो हमारी सामाजिक व्यवस्था चल नहीं पायेगी और व्यवस्था के न चल पाने की वजह से मनुष्य-मनुष्य में मनमुटाव व विषाद जन्म लेने लगेगा।

5.8 समसामायिक समस्याओं का चित्रण :-

समसामायिक समस्याओं में मुख्य रूप से बेराजगारी, गरीबी, अराजकता, सामाजिक उपद्रव, अशांति, द्वेष, चोरी आदि समस्याएं आती हैं। जब समसामायिक समस्याएं विकराल रूप धारण करती है, तब समाज में अस्थितता, अशांति तथा शासन के प्रति आक्रोश उभरकर सामने आता है। इन समस्याओं में मुख्य समस्या है- बेरोजगारी। बेरोजगारी का वर्तमान स्वरूप अंग्रेजी राज्य की देन है। उन्होंने बड़े सुनियोजित ढंग से देश का कच्चा माल ले जाकर मशीनों द्वारा तैयार माल बनाया और देश के कुटीर उद्योग धन्धों तथा हस्तकला का विनाश कर डाला। काम करने वाले हाथ बेकार हुए और इसी से बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई। लार्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति ने भी बेकारी बढ़ाने में कमी नहीं छोड़ी। अंग्रेजी पढ़ा-लिखा युवा वर्ग अपनी बाबू गिरी में श्रम की महत्ता को भूल गया। मशीनी यन्त्रों के कारण एक व्यक्ति बहुत सारे व्यक्तियों जितना कार्य करने लगा। इन सबके परिणामस्वरूप जो बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है, उसका परिणाम निकलता है चोरी, अराजकता,

उपद्रव, अशान्ति, घृणा, द्वेष और कभी-कभी क्रान्ति भी। भारतीयों का सपना था कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर, हमें भरपेट भोजन मिलेगा, पर हुआ इसके विपरीत। आज भी बहुत से युवक पढ़ लिखकर सड़क नापते हैं। हर स्थान पर हर कार्यालय पर बोर्ड देखकर झल्लाते हुए डिग्रियाँ फाड़ने तथा आत्महत्या करने पर मजबूर होते हैं। इस स्थिति में दोष हमारी व्यवस्था का है दिन-रात मेहनत करके पढ़ने वाला विद्यार्थी अपने सुखद भविष्य की कल्पना करता है। लेकिन रोजगार विभाग में लम्बी लाइन देखकर विभिन्न प्रकार की सिफारिशें देखकर चुपचाप निराश लौट आता है। इन्टरव्यू (साक्षात्कार) के समय योग्य व्यक्ति केवल सिफारिश के अभाव में पिछड़ जाता है। अयोग्य व्यक्ति पद के लिए योग्य न होते हुए भी सिफारिश तथा पैसे की योग्यता के बल पर चुन लिया जाता है। प्रायः साक्षात्कार से पूर्व ही निर्णय कर लिया जाता है कि पद किसको दिया। इसका परिणाम होता है- नवयुवक आत्महत्या तक की सोच लेते हैं, क्योंकि उन्हें हर पथ पर निराशा ही हाथ लगती है। देश में बेरोजगारी की समस्या इतनी बढ़ गई है कि हर पढ़ा-लिखा युवक निराश ही दिखाई देता है। बढ़ती जनसंख्या, घटता उत्पादन, आवश्यकता की पूर्ति के लिए संसाधनों की कमी के परिणामस्वरूप महँगाई आसमान छूने लगी है, जिसके प्रभाव से सामाजिक अर्थव्यवस्था चरमरा गई है। महँगाई का प्रभाव मानव ही नहीं मानव से संबंधित जीव जन्तुओं पर भी पड़ने लगा है देखिए-

"उससे बहुत बातें हुई
शायद कोई बात छूट नहीं सकी
इतनी बातें हुई
भीतर की प्राण वायु सब बाहर निकाल कर
एक बात उसने कही
जीवन की पीड़ा भरी
बाबू इस महँगी के मारे किसी तरह अब तो
और नहीं जिया जाता।
और कब तक चलेगी लड़ाई यह।"[58]

अर्थात् कवि ने इन पंक्तियों के माध्यम से महँगाई का जो रूप समाज में विद्यमान है, उसका वर्णन किया है।

कवि ने बताया है कि अब महँगाई इतनी बढ़ गई है कि अब तो अकेले व्यक्ति का जीवन भी दूभर हो गया है -

"कमाता एक था परिवार पूरा चैन करता था
अकेले का भी जीवन अब तो दूभर होता जाता है
सभा में आँख मूँदी नित्य का दुःख दर्द गायब था
कहा नेता ने अब संसार सुन्दर होता जाता है
बड़ों को छोटा छोटों को बहुत छोटा बना डाला।"[59]

एक अन्य जगह पर गरीब व्यक्ति की स्थिति देखिए –

"तब तक देखा तुम को इस तरह उस पेड़ के तले
आम बीनते। अनुभव किया, पुकार रही है
प्यास, सुखा कर तालू को। फिर पैर ले चले
पास तुम्हारे। जाकर बोला, प्यास ली है।"[60]

एक गरीब आदमी इतनी मेहनत करता है लेकिन दो समय की रोटी भी नहीं जुटा पाता। भूख की वजह से होठों पर पपड़ी है। लेकिन रोटी न होने के कारण आम खाकर ही गुजारा कर लेता है। जब गरीब आदमी थोड़ी-सी देर के लिए आराम करने के लिए पेड़ों की ठण्डी छाँव में है तो वहीं पर स्वर्ग मान लेता है। इस प्रकार इन पंक्तियों के माध्यम से गरीब व्यक्ति की दशा का वर्णन किया है कि इस महँगाई वाले समय में कड़ी से कड़ी मेहनत करने के बाद भी गरीब व्यक्ति पेट भर खाना नहीं खा सकता। यह स्थिति वर्तमान में भी है। एक अन्य जगह पर 'उस जनपद का कवि हूँ' काव्य-संग्रह की कविता 'भोरई केवट के माध्यम से महँगाई का चित्रण किया है -

"बाबू इस महँगी के मारे किसी तरह अब तो
और नहीं जिया जाता
और कब तक चलेगी लड़ाई यह?"[61]

त्रिलोचन के काव्यान्तर्गत समसामायिक समस्याओं अंतर्गत गरीबी तथा लाचारी का बड़ा व्यापक वर्णन मिलता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणाम तथा गरीब जनता का शोषण उनके मन में बार-बार कौंधता रहा। यह सब इन पंक्तियों में देखने को मिलता है। युद्ध की वजह से सारा देश त्राहि-त्राहि कर रहा था। महँगाई इतनी बढ़ गई थी, जिसके कारण जनता का जीना दूभर हो गया था।

'भोरई केवट' जैसे गँवार व्यक्ति की महँगाई से लड़ने की हिम्मत समाप्त हो चुकी है। 'भोरई केवट' त्रिलोचन के ग्राम्य जीवन की गरीबी की झलक मात्र है। उनके 'नगई महरा' में 'नगई कहार' का पूरा परिवार जी तोड़कर परिश्रम करता है तब जाकर उसे दोनों वक्त का भोजन मिलता है। जैसे-

"सूखे पत्ते वहाँ बहुत सारे थे, नगई ने भाड़ बैठा दिया
दिन में साँस मिलने पर भाड़ को जगाता था। दूर-दूर
से भुजाने वाले आ जाते थे।

X X X

नगई ने गाँव के / तीन चार घंटों तक / पानी थाम लिया था
कभी वह भरता था। कभी धरती भरती थी

X X X

पूरा परिवार मैंने देखा / पैरों पैरों है।"[62]

कवि की इन पंक्तियों में ग्राम्य अर्थव्यवस्था की झलक बड़े ही जीवन्त शब्दों में मिलती है। अगर कठिन परिश्रम नगई का पूरा परिवार न करता तो उसे पेट भर भोजन नहीं मिलता।

केदारनाथ सिंह, धूमिल, शमशेर, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, इन सभी के साथ त्रिलोचन ने भी गरीबी तथा बेरोजगारी के दर्द को सहा। त्रिलोचन पर शोध-कार्य करते हुए उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं को जानने का मौका मिला। इनके जैसे प्रतिभाशाली, बुद्धिजीवी, मेहनती कवि को भी आजीविका के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। इन्होंने अपने जीवन में बेरोजगारी की पीड़ा को भोगा और उसे अपनी रचनाओं के द्वारा यथार्थमयी अभिव्यक्ति प्रदान की। दरअसल हुआ यह है कि प्रगतिवादी दौर में पूँजीपति व्यवस्था के अन्तर्गत मशीनीकरण की प्रक्रिया में आम आदमी को सामान्य स्तर का जीवन-यापित करना बड़ा ही मुश्किल लगने लगा। गाँव से शहर की ओर जाने वाले व्यक्ति का जीवन भी अभावमय जीवन जीने के लिए अभिशापित हो गया। अशिक्षा, अभाव, बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण महँगाई के कारण रोजगार के साधन जुटा पाना मुश्किल से मुश्किल हो गया। ऐसे में लोगों ने पगडंडियों के रास्ते का इस्तेमाल करना शुरू किया। पूँजीवादी व्यवस्था, भौतिकता और वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था तथा मीडिया ने आम आदमी के सुख-चैन को छीनकर

हड़पकर उसे पूँजी संग्रह की स्पर्धा में फेंक दिया, जहाँ वह छटपटाहट, अकुलाहट की जिंदगी जी रहा है जिसे आज की भाषा में शॉर्ट-कट कहते हैं।

कवि 'धरती' काव्य-संग्रह की कविता 'तुम्हें पुकार रहा है कोई' के माध्यम से व्यक्ति को हौंसला देते हुए कहते हैं -

"अभी तुम्हारी शक्ति शेष है
अभी तुम्हारी साँस शेष है
अभी तुम्हारा कार्य शेष है
मत अलसाओ
मत चुप बैठो
तुम्हें पुकार रहा है कोई
अभी रक्त रग-रग में चलता
अभी ज्ञान का परिचय मिलता
अभी न मरण प्रिया निर्बलता
मत अलसाओ
मत चुप बैठो
तुम्हें पुकार रहा है कोई।"[63]

काव्य-संग्रह 'तुम्हें सौंपता हूँ' की कविता 'रैन बसेरा' में कवि ने अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि आज हमारे पास इतने संकट है, स्थिति इतनी बुरी है कि अध्यापक को भी रहने के लिए जगह नहीं मिलती। व्यक्ति, रोटी, कपड़ा मकान जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पा रहा है -

"मैंने पूछा
आप कहां आजकल हैं
बोले, जूनियर हाईस्कूल में
प्रिंसीपल
मैंने कहा, और फिर भी

आपको मकान नहीं मिलता।"[64]

तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार के कारण जनहित की योजनाओं का सही तरीके से कार्यान्वयन नहीं हो सका जिसका वही स्वरूप आज भी विद्यमान है। अर्थ के कुछ हद तक सीमित होने के कारण युवा वर्ग को बेरोजगारी जैसे अभिशाप का सामना करना पड़ा। कवि का अनुभव है कि बेकारी की समस्या से जूझने के लिए स्वयं लोगों को इकट्ठा होकर प्रयत्न करना होगा। 'गधे की याद' (ताप के ताए हुए दिन) कविता में कवि कहता है कि पूँजीपतियों को शोषण, अत्याचार, अन्याय करने की आदत पड़ी है, साथ ही निम्न वर्ग को भी गधे की तरह जी तोड़ मेहनत करके मरने की आदत पड़ गई है। उन्हें स्वयं बेरोजगारी का अनुभव होने के कारण ये अच्छी तरह जानते हैं कि उसकी दाहकता क्या होती है? बेरोजगारी जैसी समस्या से युवा वर्ग बिल्कुल टूट जाता है। कवि क्षोभ प्रकट करते हुए धांधली का वर्णन करते हैं-

"छोड़ा है सरकार ने गेहूँ का व्यापार
हुआ मंडियों में शुरू व्यापारी त्यौहार
व्यापारी त्यौहार लगा है तुलने लगा गल्ला
दर्शक डांडी देख चकित है अल्ला अल्ला
फखरूद्दीन अहमद को यह थोड़ा है
बातों के घोड़े को संसद में छोड़ा है।"[65]

ऐसी स्थिति हमारे समाज में इसलिए आती है क्योंकि हम अपने देश को सही ढंग से चलाने में असमर्थ हो जाते हैं। भूख, गरीबी, अभाव ने भारत की जनता को त्रस्त किया है। इसप्रकार त्रिलोचन ने अपनी काव्य-पंक्तियों के माध्यम से समसामायिक समस्याओं का यथावट रेखाटन कर, पाठकों के समक्ष ज्वलंत चित्रण प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रशासन, पूँजीपति, सर्वहारा वर्ग, अर्थव्यवस्था, आम व्यक्ति की पीड़ा, आंतरिक क्लेश, अंतर्गत व्दंव्द, मानसिकता तथा सामाजिक स्थिति हूबहू दिखायी देती है।

5.9 अन्याय-अत्याचार का विरोध :-

प्रगतिवाद के विरोधियों ने हमारे समाज की विषमताओं से अनेक बार टूट जानेवाले, किन्तु उठ सकने में समर्थ व्यक्तित्व पर मरणासन्न से अनेक पूँजीवाद की प्रवृत्तियों को थोपा और उन्हीं को मानव-जीवन के शाश्वत सत्य के रूप में प्रस्तुत करना शुरू किया। त्रिलोचन शास्त्री ने इन दोनों प्रवंचनाओं से बचते हुए जीवन के यथार्थ को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया और उसके अन्तर्विरोधों के बीच ही उसकी पूर्णता देखने की कोशिश की। इसलिये उनकी कविताओं की भावभूमि व्यापक और उनकी अनुभूतियों में सच्चाई और गहराई है। उनके काव्यान्तर्गत सुख-दुःख, ऊब-खीझ, प्रकृति, प्रेम, स्थूल, सूक्ष्म, सभी को काव्य का विषय बनाया है। कवि के यथार्थवाद में न कहीं भावुकता है, न झूठा आशावाद, न काल्पनिक संघर्षों के अमूर्त चित्र है, न मारो-काटो की ललकार है। वहाँ जनशक्ति में आस्था है, संघर्ष के लिए आह्वान है, मुक्ति आन्दोलन के गीत भी है। लेकिन यह चेतावनी है कि 'सोच समझकर चलना होगा' उपदेश और आह्वान 'धरती' काव्यान्तर्गत अधिक रहा है, बाद के संग्रहों में कम।

'महाकुंभ के सॉनेट' अंतर्गत भारतीय जीवन की उस संगठित संहारक शक्ति की जबर्दस्त भर्त्सना है, जो धर्म, शासन और संपत्ति के मेल से बढ़ती जा रही है। ये सॉनेट कवि त्रिलोचन जी के पूरे काव्य व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग है। निम्नलिखित सॉनेट देखिए-

"कहीं यज्ञ होता था, कहीं पाठ होता था,
कहीं दान होता था, कहीं कसा होती थी,
कहीं कुचाल देखकर हृदय काट होता था,
कहीं अनीति देखकर मर्म व्यथा होती थी,
कहीं इष्ट की पूजा यथा-तथा होती थी,
कहीं लाभ के लिए लूटी-सी मची हुई थी,
कहीं ठगी छल बल से नई प्रथा होती थी,
कहीं किसी की सेज काँट की रची हुई थी,
कहीं सरलता भोलेपन में बची हुई थी,
कहीं किसी को कोई जन ललकार रहा था,

कहीं किसी की कोठी धन से हची हुई थी,
कहीं अभागा करमकटा झख मार रहा था,
कही विमान रवाते थे या घहराते थे,
कुंभनगर के नभ में झंडे फहराते थे।"[66]

इन सॉनेटों में बहुत ही संक्षेप में त्रिलोचन ने जनता के विराट स्वरूप से लेकर शोषण-तंत्र के सभी पेंचों का उद्घाटन किया है। सभी महाकुंभ सॉनेटों की मुख्य चिंता यही है- 'कब स्वतंत्र होगी यह जनता टूटी हारी।' त्रिलोचन ने पच्चीस सॉनेटों के ज़रिए ठेठ भारतीय जीवन की एक दशा सामने रखी है, वह भी बिलकुल मूर्त रूप में, जिसमें आपके काव्य-पंक्तियों के माध्यम से अन्याय-अत्याचार को विरोध दिखाई देता है।

मार्क्सवादी वैचारिक दृष्टि के प्रति गहन आस्थावान इनका काव्य सामान्य रोजमर्रा की तथाकथित अकाव्यात्मक स्थितियों में कविता को पहचानना सहजता का ही एक पहलू है। कविता है, तो वहाँ लेकिन खामोश है। इस खामोशी को वही सुन सकता है जो स्वयं मार्मिकता की अभिव्यक्ति को संकोच से करता है। मार्मिकता जीवन का ही एक रूप है। वह जीवन से अलग कोई ऐसी वस्तु नहीं जो असहज या असामान्य हो-मार्मिकता सहजता है, विचलन नहीं। त्रिलोचन जी की 'सब्जीवाली बुढिया' शीर्षक कविता इसका प्रमाण देती है। त्रिलोचन जी के सभी संग्रहों में इसी सहज स्वाभाविक मानवता का दृढ़ अवलंब है।

त्रिलोचन जी के काव्य का संवेदना पक्ष पूर्णतः स्वस्थ प्रबल है। वे जितना अपने चिंतन एवं लेखन में प्रगतिशील थे उससे कहीं अधिक अपने जीवन में भी जनवादी थे। स्वयं कठिनाइयों एवं गरीबी से गुज़रने के कारण ही शायद वे गरीबों एवं पीड़ितों की वेदना को अच्छी तरह समझ लेते थे। जीवन की कटुताओं से भिडकर भी संतुलन और मानसिक शांति बनाए रखना त्रिलोचन जी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। कवि की सारी अनुभूतियाँ एक उदात्त नैतिक चेतना से परिचालित हैं। अतः उसमें न तो कहीं झिझक और उलझन है, न ही मानसिक घुमडन और अंतर्विरोध दिखाई देता है। कवि में नैतिक सच्चाई बहुत प्रबल होने के कारण ही वह सामाजिक लक्ष्य के प्रति उन्मुख है। इसलिए वे कह सकते हैं-

"जो अपनी धुन पर न्योछावर अपना सब कुछ कर देते हैं
जग-जीवन के लिए स्वयं को निर्भय हो बलि कर देते हैं

जिसका कदम-कदम जीवन की जय-यात्रा का प्रिय प्रतीक है
मैं सगर्व सोल्लास निरंतर उन लोगों का गुण गाता हूँ।"[67]

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से कवि अतृप्त तथा दुःखी है और साथ ही साथ पीडाग्रस्त गरीबों के प्रति उनमें सहानुभूति भी। आगे पूँजीवादियों के प्रति दबा हुआ रोष भी व्यक्त है -

"दुःख क्या है जो पास पैसा है
ऐसे हाथों में जाम होता है।"[68]

"दुःख से दबे हुए मानव' ही इनका मुख्य विषय है। उनके दुःख, अन्याय-अत्याचार और परेशानियों को लेकर उनके भार को हलका करना ही त्रिलोचन काव्य का प्रधान उद्देश्य है। वे कहते हैं-

"दुःख से दबे हुए मानव, आ आ, मैं ले लूँ
तेरा सब दुःख, तू हल्का होकर सिर ताने
आसमान में, इस दुनिया को अपनी माने
जिसको अपनी नहीं मानता किसको दे लूँ
तेरा ईर्ष्या-द्वेष-कपट-पाखंड-उसे लूँ
और डाल दूँ तुरंत महासागर के थाने।"[69]

उपर्युक्त पंक्तियाँ कवि निराला की याद दिलाती है, जो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ 'गरलपेयी' रहे हैं। अपने को और अपने दुःख को भूलकर अन्य के दुःख में पिघलनेवाला कवि हृदय मौलिक रूप से सामाजिक है। बेजुबान गरीब जनता की जुबान बननेवाला कवि त्रिलोचन मानवीय संवेदनाओं का सफल चितेरा है। 'अरघान' संग्रह इस बात की गवाही देता है। इस संग्रह में त्रिलोचन की बहुत ही सफल कविताएँ संकलित हैं। वस्तुतः त्रिलोचन की कविता की संरचना हिन्दी भाषी अंचल के लोकसाहित्य, उसकी बातचीत और भाषा से इतने घनिष्ठ रूप से जुडी है कि उसे उससे अलग करके रूढ़ साहित्यिक मानदण्डों पर नहीं परखा जा सकता। जीवन की समग्रता और संघर्षों के वह केवल दर्शक नहीं, उसके हिस्सेदार भी है। यही कारण है कि उनकी कविता का अनुभव-संसार और उनकी कविता का स्वरूप हिन्दी के दर्शक-कवियों से अनेक स्तरों पर भिन्न नज़र आता है। त्रिलोचन की कविता एकदम अलग उल्लास और आशा की नहीं, करुणा की कविता है। उनकी कविता की संवेदना, करुणा और सूक्ष्म दृष्टि इस पूरे कालखण्ड का सबसे विश्वसनीय दस्तावेज है।

"आ शून्यता का सन्नाटा
गूँज रहा है धड़कन में दिल की, फिर काटा
कैसे दुर्गम मार्ग, जहाँ वह अरुण न खिलता।"[70]

उनकी यह करुणा, यह पीड़ा नृशंस दमन से उपजी पीड़ा और करुणा ही है। त्रिलोचन अपने लघु काव्यान्तर्गत पूँजीवादी व्यवस्था, उनके अन्याय-अन्याचार और सामन्त शाही अवशेषों के कारण जो प्रतिक्रियाएं पैदा होती हैं, संवेदना पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनको अपने काव्यान्तर्गत स्थान देते हैं। निराशा, अकेलापन या ऊब की गहन अनुभूति उनके गीतों और काव्यान्तर्गत दिखाई पड़ता है। कवि के गीतात्मक काव्यान्तर्गत यह प्रवृत्ति दिखती है -

"मौन के गहरे सागर में
गहरे गहरे निसिवासर डूब रहा हूँ
जीवन की जो
उपलब्धियाँ हैं
उनसे मन-ही-मन ऊब रहा हूँ।"[71]

सामान्य वैषम्य और दैन्य से कवि त्रिलोचन क्षुब्ध हैं। मानवीय पीड़ा, अन्याय-अत्याचार और वेदना से उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है। मानव के प्रत्येक दु:ख से उसको सहानुभूति है। इस संदर्भ में वे कहते हैं —

"जब जब दु:ख की रात घिरी तब तब मैंने गाना
खुलकर गाता रहा, अंधेरे में स्वर मेरा
और उदात्त हो गया. सीखा नहीं छिपाना
मैंने मन के भाव।.......
दु:ख के गाने कंठ-कंठ के हैं पहचाने
सब के प्राण तड़पते हैं जाने-अनजाने।"[72]

इस पुरानी जर्जर पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था को त्रिलोचन ने 'पुराने विश्व के पुराने पाप' कहा है। कवि एक नये वर्ग-रहित भारत की खोज की कामना करता है जो एकदम नया हो-असमानता, अन्याय-अत्याचार, शोषक, शोषित, गरीबी, भ्रष्टाचार सब से मुक्त हो। 'यह चिंता वह चिंता' कविता की काव्यपंक्तियों के माध्यम से वे कहते हैं-

"नये विश्व की रचना हमको ही करनी है
इस पुराने विश्व के पुराना पाप
जीवन के पुण्य खाये जा रहे हैं
जीवन का त्रास हटे ऐसी जुगत करनी है
फिर अपने भारत की खोज में
अपना बेडा लेकर पहुँचेंगे किसी जगह नये लोग
कोलंबस वही है।"[73]

कवि त्रिलोचन शोषित मानव एवं समाज के प्रति अपनी गहरी संवेदना प्रकट करता है तथा उनकी यथार्थ एवं दयनीय स्थिति को उजागर कर लोगों को उनके प्रति संवेदनशील बनाता है। लेकिन कवि मात्र इतने तक ही संतोष नहीं कर लेता अपितु वह इन स्थितियों के जनकों के विरुद्ध उन्हें खडे होने के लिए उत्साह दिलाता है तथा क्रान्ति का आह्वान करता है। कवि यह जानता है कि समाज की शोषित स्थिति को बनाने वाला तथा अन्याय-अत्याचार करनेवाला कोई दूसरा नहीं अपितु साम्राज्यवादी पूँजीवादी शोषण एवं समाज के उच्चवर्गीय व्यक्ति है। अतः वह इनके विरुद्ध क्रान्ति की आवाज़ उठाता है। वह समाज एवं मानव की शोषित स्थिति को समाप्त करने हेतु हिंसात्मक क्रांति का भी सहारा लेने से नहीं हिचकता। सत्यता तो यह है कि जब शोषण की सीमा अपने चरम पर पहुँच जाती है तब विद्रोह का जन्म लेना स्वाभाविक एवं निश्चित है और शोषितों के समक्ष एक ही राह बचती है, अन्याय करनेवाले तथा अत्याचारियों से लड़ते हुए स्वयं समाप्त हो जाना। इसप्रकार कवि त्रिलोचन के विभिन्न काव्य-संग्रहों में विद्यमान कविताओं अंतर्गत पूँजीपति समुदाय के निम्नवर्ग अर्थात शोषित वर्ग पर किये गए अन्याय-अत्याचार से हम परिचित होते हैं, जिसे कवि ने बेहद सटिकता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

5.10 नयी आशा का सौंदर्य :-

त्रिलोचन की रचना का देशकाल औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत का है। निश्चय ही यह समय औपनिवेशिक शासन व्यवस्था से मुक्ति का है। इसमें भारत और भारत के आमजन की अनुगूंज व्याप्त है। इस मुक्ति में जहां एक तरफ आधुनिकता का दबाव है वही दूसरी

तरफ देशज के साथ भी अनूठा संबंध है। कुछ इतिहास का भी सच है। इसी बीच साहित्य अपनी जमीं की तलाश करता हुआ यथार्थ और कल्पना, यथार्थ और आदर्श के बीच आवाजाही करता है। त्रिलोचन के काव्य संसार में इस आधुनिकता और ग्राम्य संस्कृति की अर्थवत्ता को सहज समझा जा सकता है। भारत की यह विड़म्बना है कि उसने राष्ट्रीयता के रूप में समग्र चेतना का खंडित रूप पाया है। सन् 1947 का वह खंडित रूप है। इस खंडित भारत का अखंड रूप मानव सभ्यता-संस्कृति को हमेशा के लिए ही खंडित कर दिया। आज भी वह अखंडित का जाप जपते हैं लेकिन 'मैं' और 'तुम' में विभाजित है। इसके लिए समग्र चेतना और सम्यक दृष्टि के अभाव को आधार बनाया जा सकता है। 'मैं' और 'तुम' का विभाजन के बीच एक ही सूत्र है-अखंडित का भाव निर्माण करने वाला। वह मनुष्यत्व है। इसकी प्रकृति और प्रकृति के साथ सम्बद्धता ही मानवीय सभ्यता-संस्कृति को एक नया रूप दे सकता है। आधुनिकता और परंपरा के बीच इतिहासबोध की संपृक्त गहरी समझ से ही भारत का संपूर्ण-सम्यक समृद्धि और समग्र विकास का भविष्य रच सकता है। साहित्य की इसमें अहम् भूमिका है। त्रिलोचन की कविता ऐसी ही मानवीय सभ्यता-संस्कृति का बोध कराती है। उनकी 'मैं-तुम' कविता संपूर्ण मानवीय संस्कृति के साथ-साथ समग्रता की मांग करती है। इसीलिए वे लिखते हैं :

"मानव का सारा सौन्दर्यबोध जब विकास करता है
तब इनका अपना क्या योगदान रहता है
आंखे ही इसे देख सकती है
मैं उसी समग्रता को देखने का आदी हूं
खण्ड में समग्र नहीं आता नहीं आ पाता
खण्ड सामने हो तो अखण्ड का महत्व क्या
अच्छी-अच्छी बातों के अर्थ बदल जाते हैं
मन किसी का बदल जाय तो सबकुछ एकाएक
उलटपुलट जाता है।"[74]

इसका अभिप्राय यह है कि मानव जीवन के विकास को उसकी समग्रता में ही देखा जा सकता है। त्रिलोचन की यही समग्रता, आशावादी दृष्टि और उसकी पक्षधरता को भी निर्धारित करती है।

गोबिन्द प्रसाद के अनुसार "मैं और तुम (कवि-समाज) की परस्परता व अन्तःसम्बद्धता के सूत्रों को व्याख्यायित करती है-यह कविता। अनात्म में आत्म तथा निर्वैयक्तिकता में वैयक्तिकता की पहचान करता हुआ कवि अपने को शब्द-शब्द में देखने का आग्रह करता है।"[75] कवि का यह आग्रह कितना सार्थक और निरर्थक है यह तो उनकी कविता का सौन्दर्य ही बताता है। शब्द उनकी अभिव्यक्ति भी है और सार्थकता भी। जिसमें जीवन की संपूर्णता निहित है। 'मैं और तुम' कविता की संवेदना मानव जीवन की संवेदना है जिसमें श्रम भी है, सामूहिकता भी है, प्रकृति भी है और आधुनिकता भी। यही कविता के अवधारणात्मक सरोकार का चरितार्थ भी है। इसमें पक्षधरता की पहचान भी है। इसीलिए कवि कहता है: 'मैं' सबका मैं है/ वैसे ही 'तुम' है, जिसमें जीवन की संवेदना और उसके सरोकारों का अद्भुत समन्वय है। इसमें लाभ-हानि जैसे शब्दों का, जिसका आज घर-घर प्रचलन है की कोई गुंजाइश नहीं है। यह दृष्टि और साथ का अंतर है। जिसके कारण 'मैं' और 'तुम' का फर्क है और इसी से एक-दूसरे से बचते बचाते, दृष्टि चुराकर चलते हैं। लेकिन कवि यह सब जानता है, सुख-दुःख आदि सबकी भाषा को जानता है तभी तो वे कहते हैं-

"मैं भी आसपास कहीं होता हूं
और तुम्हारी सांसों की भाषा समझता हूं।"[76]

एक कवि की संवेदना हर एक प्राणी और समाज के हर एक वर्ग के बीच में कैसी रमती है। इसे यहाँ आप देख सकते हैं। वह उन्हें अपने में समाहित पाता है और उसकी अभिव्यक्ति बन साहित्य में उभरना चाहता है। समाज में उनकी आवाज़ बनना चाहता है और अपनी सर्वज्ञता को बताना चाहता है। हर्ष-विषाद, सुख-दुख, आराम-विराम, मेहनत-मजदूरी, इच्छाएं-आकांक्षाएं, स्वप्न-संघर्ष आदि सभी में वह जन-जन की आवाज बनना और उसकी उपस्थिति का अहसास कराना, एक सार्थक साहित्य की पहचान है। त्रिलोचन की कविता उसी उपस्थिति और अहसास की कविता है। किसानी जीवन की संस्कृति और उस कृषक जीवन के विविध स्वरूपों के साथ-साथ उसके विविध रंगों को कविता के एक-एक शब्दों में पिरोया है, जिससे पूरी कायनात की सभ्यता-संस्कृति का

फलसफ़ा तैयार होती है। या यूं कहें कि मानव की सभ्यता की नींव ही कृषक संस्कृति रही है। कृषि ने ही मानवीय सभ्यता-संस्कृति का व्यवस्थित रूप तैयार किया है। लेकिन विड़म्बना यह है कि आज अन्नदाता ही भूखा सोता है। उनकी दशा बद से बदतर होती जा रही है। इसकी चिंता किसी को भी नहीं है। त्रिलोचन की काव्य संवेदना उन्हीं कृषकों की संस्कृति से बात करती है जिसपर पूरा व्यक्ति समाज और राष्ट्र बड़ा होता है। उसपर देश का भविष्य टिका हुआ है। द्रष्टव्य हैं कविता की ये पंक्तियां -

"और यह भी जानता हूं-मानव की सभ्यता
तुम्हारे ही खुरदरे हाथों में नया रूप पाती है।
और यह नया रूप आनेवाले कल के किसी नये रूप की
भूमिका है और यह भूमिका भविष्य का
संविधान बनती है वैसे का जैसे समाज सारा आज तक
आदिम समाज का विकास है,
आदिम समाज की अनेक बातें आज भी क्या नहीं हैं
व्यक्ति या समूह या समाज में
कहीं किसी जनपद में राज्य में राष्ट्र में
और फिर राष्ट्रों में
....
मैं तुम से, तुम्हीं से बात किया करता हूं
और यह बात मेरी कविता है।"[77]

इतना ही नहीं, यह कविता त्रिलोचन की काव्य संवेदना और कविता की वैचारिकी की प्रतिबद्धता के सौन्दर्य को उजागर करती है। जीवन जीने की सार्थकता और गतिमान जीवन के बीच नये-पुराने, उतार-चढ़ाव की कहानी है यह कविता। इसके बनने और बनाने में जीवन की मुस्कुराहट है। इस श्रम सौन्दर्य के साथ संगीत की गुनगुनाहट से जीवन का संगीत तैयार हो जाता है। इसी से सभ्यता-संस्कृति का विकास होता है। इस सभ्यता-संस्कृति के केन्द्र में व्यक्ति ही तो हैं लेकिन वह व्यक्ति यदि अकेला होता है तो कितना असहाय होता है। क्या अकेलापन और असहायपन कवि का

दर्शन है? यदि यह दर्शन है तो त्रिलोचन के दर्शन में सभी असहाय और अकेला व्यक्ति है। गोबिन्द प्रसाद के शब्दों में, "वास्तव में यह अकेलापन उधार का लिया हुआ न होकर भारत के अधिकांश उस ग्राम्य समाज का सच है जहां दो पैसे का हिल्ला ढूंढ़ने के लिए आदमी अपने बाल बच्चों से दूर परदेश आ जाता है। अस्तित्ववादी अकेलेपन की छाया से कोसों दूर इस अकेलेपन में कुछ ऐसी संघर्षशील रचनात्मकता है जो 'रातोंरात धूल में कोई फूल उगा दे।"[78] त्रिलोचन व्यक्ति के अकेलेपन को और सामूहिकता दोनों को एक साथ देखते हैं। सामूहिकता से वे व्यक्ति और उससे जुड़े सभी व्यवस्था-तंत्रों को जोड़ते हैं और नर-नारी के रूप में उसे रेखांकित करते हुए मानव समाज का निर्माण करते हैं, लेकिन इस सब के बीच व्यक्ति के अकेलेपन को कभी नहीं भूलते हैं। और इसी अकेलेपन को मेले में भी अलग-अलग होने के भाव से जोड़ते हैं। त्रिलोचन वे लिखते हैं -

"व्यक्ति ही तो मूल है यहां वहां जो कुछ है
लेकिन व्यक्ति कितना असहाय है अकेले में।"[79]

लेकिन उनका यह अकेलापन किसी भूल का पश्चाताप है? क्या उनकी सामूहिकता मानवीय सभ्यता-संस्कृति की स्वतंत्रता का परिचायक है? स्वतंत्रता से समूह में शांति और अमन की भावना निर्मित होती है। लेकिन इस प्रक्रिया में भूल भी होती है और जब इस भूल को ठीक कर लिया जाता है या कर दिया जाता है तो सारी पृथ्वी पर शांति और अमन-चैन का जीवन खिल उठता है। यही तो सत्य है। इस सत्य के यथार्थ से ही पृथ्वी पर जीवन सौन्दर्य है और जिसकी रक्षा करना मानव का कर्त्तव्य है। अन्यथा विनाश की कहानी लिखेगी यही धरती। त्रिलोचन यहां पूरी तरह से भविष्यद्रष्टा की तरह उपस्थित होते हैं। पर्यावरण और पर्यावरण तंत्र दोनों से ही जीवन का सौन्दर्य है। यूं कह लीजिये कि पूरी सभ्यता-संस्कृति ही पर्यावरण तंत्र पर टिकी हुई है इसलिए वे लिखते हैं-

"इस पृथिवी की रक्षा मानव का अपना कर्त्तव्य है
इसकी वनस्पतियां, चिड़ियां और जीवजन्तु
उसके सहयात्रा हैं इसी तरह जलवायु और सारा आकाश
अपनी अपनी रक्षा मानव से चाहते हैं।"[80]

त्रिलोचन अपनी काव्यदृष्टि से इस बड़े संकट को महज छः पंक्तियों में कितनी सहजता से कह देते हैं कि मनुष्य के जीवन की रक्षा जिन वनस्पतियों, जलवायु आदि से होती है। वह भी मनुष्य

से अपनी रक्षा चाहते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ तो सर्वनाश होगा और इस सर्वनाश में मानवता पूरी तरह खत्म हो जाएगी। क्या यह पर्यावरण संकट मानवीय संकट का उद्घोष नहीं? त्रिलोचन की काव्य संवेदना मनुष्यत्व का साग्रह करती है। वह उसे जीवन में उतारने और संभालकर संजोने की बात करती है। ऐसा ही आग्रह वे 'फूल मेरे जीवन में आ रहे हैं' कविता में करते हैं और उसे संभालने एवं संजोने की बात करते हुए वे कहते हैं-

"सुरभि हमारी यह, हमें बड़ी प्यारी है।
इसको संभालकर जहां जाना ले जाना
इसे तुम्हें सौंपता हूं।"[81]

इसी क्रम में त्रिलोचन शब्दों और शब्दार्थ को जीवन की आवश्यकताओं की आपूर्ति का साधन मानते हुए अभिव्यक्ति की स्वंतंत्राता की बात करते हैं। यह अभिव्यक्ति सिर्फ एक माध्यम ही नहीं होता है बल्कि इसमें मानवीय विकास और इतिहास को देखा जा सकता है। 'ध्वनि ग्राहक' कविता में वे समाज में उठने वाली आवाजों को 'भाषा' देते हैं और 'अंधेरे को अंधेरे' कहने की साहस करते हैं अन्यथा जब आजाद भारत में सत्ता के मुठभेड़ की ताकत जनता में नहीं है तो औपनिवेशिक भारत में उसकी क्या गति थी उसका सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा ही संकट-अभिव्यक्ति के संकट और खतरे के समय में त्रिलोचन की कविता एक नई आशा, अभिलाषा आदि के लिए लड़ते हुए समाज के साथ खड़ी है और समाज में उठने वाली ध्वनियों को पकड़ती है। उससे चिढ़ने वालों को चिढ़ाती हुई कहती है कि उसकी बुद्धि कहीं हैं खोई है। हरियाली नहीं होने पर भी उसे हरियाली कहने की हिमाकत नहीं करते हैं। हरियाली से उनका अभिप्राय कृषक और कृषक जीवन की संस्कृति से रहा है। और किसानों के जीवन पर राजनीति की रोंटी सेंकने वालों को सीधे धत्ता बता देते हैं जो किसानों की विकास योजना को बड़े-बड़े होर्डिग में लगाकर सच्चाई से मुंह फेर लेते हैं। ऐसी सोच और नीति को त्रिलोचन की कविता सीधे सवाल के कठघरें में खड़ा करती है।

यहाँ स्वतः यह सवाल स्पष्ट होता है कि 'दृष्टि' और 'दृष्टिकोण' में कौन किसके पक्ष में खड़ा है और क्या सोचता है? भारतीय समाज में विकास की गति-अधोगति का कारण यही दृष्टि और दृष्टिकोण है जिसपर चलकर समाज और देश का विकास किया जा सकता है। इस क्रम में धुर्तता और मक्कारी के नये-नये तरीके बना लिए गये हैं, जिससे आमजन, कृषक -मजदूर की गति रूक गई

और वे विकास की राह में पीछे रह गये हैं। इस पाखंड की पहचान त्रिलोचन को है और उनकी कविता इसकी तरफदारी नहीं करती है। इसीलिए वे लिखते हैं कि 'यह नवीन ऐयारी मुझे पसंद नहीं है।' सत्ता के समक्ष सच कहने का साहस होना चाहिए। वर्तमान में जिस तरह से 'सत्य की गला घोटू' संस्कृति प्रचलन में है और सेवा, सिफारिश आदि के माध्यम से आमजन के अधिकार को लगातार खत्म किया जा रहा है; ऐसी परिस्थिति में त्रिलोचन की कविता हाथ-पर-हाथ रखकर चुप रहने की खिलाफत करती है और नई आशा, अभिलाषा, चित्रों के साथ नई भाषा को चुनने की संवेदना निर्माण करती है।

इस प्रकार त्रिलोचन की कविता 'फेरीवाले, रिक्शावाले, कृषक, मजदूर, चम्पा, भगताया नगई महरा, भिखरिया आदि की आवाज बनती है और उसे शब्द देती है। 'शब्द' अभिव्यक्ति भी है और भाषा भी। भाषा के बिना जीवन मरण-सा होता है। वह मानवीय सभ्यता-संस्कृति का भी परिचायक है। इसी से जीवन में हलचल होती है। इच्छाएं, आकांक्षाएं, स्वप्न, संघर्ष और इतिहास सब कुछ बनता-बिगड़ता है। शब्दार्थ में ही जीवन का स्पंदन है और वही समाज की गतिशीलता भी है। इसके बिना तो सब कुछ खो जाता है। जीवन का अंत मान लिया जाता है। इसीलिए कवि लिखता है कि 'सबकुछ भाषा' है और 'भाषा की अंगुलि' पकड़कर ही मानव मानवता की सीढ़ी चढ़ा है। उनका हृदय झंकृत हुआ है और उनमें नई अभिलाषा भी आकार ली है जिससे विकास की गाथा की कहानी जुबानी सवत्रों प्रकाशमय हुई है। समाज में क्रिया और क्रिया के माध्यम से गतिशीलता और गतिविधियां सम्पन्न हुई हैं। कवि 'भाषा बहता नीर' की भांति भाषा की लहरों में जीवन की हलचल को देखता है और कूपमंडूपता से मुक्त होकर संगीत की ध्वनि में क्रिया की संम्पन्नता को देखता है जिससे जीवन में बल का संचार होता है। इसीलिए कवि कहता है-

"भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है,
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।"[82]

यहाँ भाषा की सरंचना और उस संरचना में जीवन की क्रियाओं की संपन्नता की शक्ति देखी जा सकती है। अर्थात ध्वनि यानी आवाज में ही कर्म का सौन्दर्य है और उसी में शक्ति निहित है। बिना कर्म की शक्ति और आगाज को यदि ध्वनात्मक स्वरूप नहीं दिया जाए तो फिर गूंगा, बहरा समाज कभी उसकी सुनता भी नहीं है। न ही वह आत्मलोचन करता है और न ही उसकी

अभिव्यंजना ही। ऐसी स्थिति में उसकी सार्थकता कैसे सिद्ध हो सकती है। अभिव्यक्ति का विश्लेषण-आत्मविश्लेषण 'सत्यम, शिवम्-सुन्दरम' की अभिव्यंजना है। बिना अभिव्यक्ति पाये तो कभी सत्यम-शिवम-सुन्दरम की सार्थकता और उसके सरोकारों को नहीं समझा जा सकता है। 'शब्दों में' ही सब कुछ जीवन का समाहित है। शब्द कभी व्यर्थ नहीं होते हैं। वह किसी भी कभी उत्तर की चाह नहीं करते हैं। परंतु वे रसायन की उत्पाद की तरह समाज में नया स्वरूप और उस स्वरूप की अभिव्यंजना करते हैं। वे विभिन्न रूप-रंगों में ढले होते हैं। कभी मनचाहा तो कभी अनचाहा। लेकिन वे हमेशा ही नये चित्रों और नये रंगों में अपनी दस्तान बया कर ही देते हैं। त्रिलोचन उससे मुक्त होकर अपनी अनुभूतियों और अनुभवों को शब्दों में ढालते हुए उसे कागज पर उतारते हैं। इसे वे डंके की चोट पर कहते हैं-

"अब मैं लिखा करता हूं।
अपने अनतर की अनुभूति, बिना रंगे चुने।
कागज पर बस उतार देता हूं।"[83]

अर्थात त्रिलोचन का काव्य रचना संसार बिना किसी साहित्यिक आंदोलन के रंग में रंगे अपनी कोरे अनुभूति के रासायनिक स्वरूप में ढला हुआ है। त्रिलोचन ने भाषाओं के माध्यम से 'अगम समुद्रों का अवगाहन' किया है लेकिन उन्हें तो 'मानव जीवन की माया' ही सदा मुग्ध करती है। निश्चय ही इसमें इतिहास और माया-भाषा में अंतर किया जाना चाहिए। त्रिलोचन ने इतिहास की जगह 'माया' में लिपटे मनुष्य की साधना को केन्द्र बनाया है। त्रिलोचन की आंखों में निराला हैं और उसी की परंपरा में उसे देखते हैं। "महात्मा तुलसीदास की आंखों में राम हैं। महाप्राण निराला की आंखों में तुलसी हैं और उन्नतप्राण त्रिलोचन की आंखों में निराला हैं। तीनों को परिस्थितियों ने खूब पीसा है पर उन्होंने मनुष्य के तन और मन को नापने के मानदण्ड कभी छोटे नहीं किए। 'परमार्थिक' विश्व में यह संभव ही नहीं है कि मानदण्ड छोटे किये जा सकें। यह संभावना तो 'आर्थिक' विश्व में ही है।"[84] इससे यह स्पष्ट होता है कि श्री वासुदेव सिंह उर्फ त्रिलोचन की वैचारिकी तुलसीदास की परंपरा की है और उनकी काव्यचेतना भी उसी 'रसायनिक घोल' की उपज है। "त्रिलोचनजी आर्थिक रूप से भले ही विपन्न रहे हों पर उनकी कविता भारतीय परंपरा सम्मत काव्य विवेक से इतनी समृद्ध है कि उन्हें किसी मतवाद के सांचे में ढालना हमेशा मुश्किल रहा है। वे

मानव के इतिहास पर नहीं, उसकी माया पर मुग्ध कवि हैं।"[85] परन्तु वास्तविकता तो यह है कि त्रिलोचन जनवादी कवि हैं। उनकी विचारधारा भी मार्क्सवादी है।

वर्तमान में पर्यावरण संकट को एक मानवीय संकट के रूप में रेखांकित किया गया है। नदियां सूखती जा रही हैं। दिनप्रतिदिन जल संकट गहराता जा रहा है। इसके बावजूद भी मनुष्य लगातार अपनी महत्वाकांक्षा की आपूर्ति हेतु दिन-प्रतिदिन पर्यावरण का दोहन करने पर लगा हुआ है। इससे पूरी मानवीय सभ्यता-संस्कृति एक संकट से घिर चुका है। इस गहराते संकट का चित्राण साहित्य में मिलता है। त्रिलोचन मनुष्य पर नदियों के ऊपर बांधकर उसके दोहन को 'कामधेनु' के रूप में रेखांकित करते हैं -

"नदी ने कहा था; मुझे बांधों
मनुष्य ने सुना और
आखिर उसे बांध लिया
मनुष्य दुह रहा है
अब वह कामधेनु है।"[86]

उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से कितनी सहजता से त्रिलोचन मनुष्य की दोहन की प्रवृत्ति को रेखांकित करते हैं और नदियां जो एक प्रकृति प्रदत्त मानवीय सभ्यता-संस्कृति का प्रतीक है। उसके दोहन से मानवीय जीवन कितना प्रभावित हो रहा है और कितने तरह की समस्याएं आज उत्पन्न हो रही हैं। इस सबका जिम्मेदार मनुष्य स्वयं ही है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में त्रिलोचन नये शिल्प और नई भाषा सरंचना के लिए जाने जाते हैं। उनकी यह नई शैली है -'सॉनेट'। लेकिन वे परंपरा की रचना शैली से अलग नहीं रहे हैं। परंपरा से चली आ रही-गीत, बरवै, ग़ज़ल, चतुष्पदियां और कुण्डलियां आदि भी रचे हैं। 'तुलसी बाबा भाषा मैंने तुमसे सीखी। मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो।' कहकर भारतीय साहित्यिक जनमानस की परंपरा से अपने आप को आबद्ध-सम्बद्ध करते हैं। उनकी कुछ कहानियां और आलेख भी है। मगर उनकी पहचान बतौर एक प्रतिष्ठित कवि की ही है। 'जनपद' कवि की है, जिसे वे डंके की चोट पर कहते भी हैं। इसी नाम से उनकी एक कविता भी प्रकाशित है जिसका शीर्षक है-'उस जनपद का कवि हूं'। यह कविता जनपद ही नहीं पूरी भौगोलिक धरा और वसुंधरा में मानव जीवन की कहानी कहती

है,जिसे विकास की कोई भी जानकारी नहीं। आज भी वह भूखा, नंगा, दीनहीन, अनजान, कलाविहीन जनसमुदाय की तरह जीवन जी रहा है। वह इस चकाचौंध दुनिया को सपने की तरह देखता है। उस विचार को भी उसे त्यागने की जरूरत है जिसे आज तक वह ढोता चला आ रहा है। तुलसीकृत रामायण पढ़ने-सुनने और नारायण-नारायण जपने से कोई धरम नहीं होता है। उससे समझने की जरूरत है। अपनी असफलता और मनोरथ विफल होने जो आज तक करता आ रहा है उससे त्याग करना अनिवार्य है क्योंकि उस विचार से किसी का भला नहीं हो सकता है। वे विचार रह भी नहीं गये है जिसे वह ढोता चला आ रहा है। इससे उनकी मनोरथ पूरा होने वाला नहीं है। उसके आंसू को उससे पोछा नहीं जा सकता है। कवि की चिंता यही है। वे लिखते हैं-

"अलग नहीं मानता, उसे कुछ भी नहीं पता
दुनिया कहां से कहां पहुंची; अब समाज में।"[87]

यह जो वैचारिक बदलाव की बात त्रिलोचन करते हैं। वस्तुतः उनकी यह चिंता जीवन में बदलाव की चिंता है। उनका काव्य संसार बदलाव को स्वीकार भी करता है और उसकी चिंता भी करता है। 'भीख मांगते उसी त्रिलोचन को देखा कल' और 'वही त्रिलोचन', 'चीर भरा पाजामा' और 'उस जनपद का कवि हूं' आदि कविताएं एक-दूसरे के पूरक हैं और सभी को एक साथ देखने पर त्रिलोचन की चिंता और उस चिंता से मुक्त होने की आकांक्षा; दोनों को समझा जा सकता है। उसे महसूस किया जा सकता है। वस्तुतः यह चिंता एक मनुष्य की चिंता है। उसके जीवन की चिंता है। उनके उद्यम की चिंता है। इसी में उनका संघर्ष भी है जिसके बदौलत वह अपनी जिंदगी को बदलने का प्रयत्न करता है। वे कहते हैं -

"ठोकरें दर-ब-दर की थीं हम थे,
कम नहीं हमने मुंह की खाई है।
कब तलक तीर वे नहीं छूते,
अब इसी बात पर लड़ाई है।" [88]

यही त्रिलोचन का आत्मसंघर्ष है और उस समाज का, उस जनपद का भी। जिसमें गरीबी है, धूल है, फूल है, शूल है और जिसका आंचल मैला है। जिसके तन पर कपड़ा नहीं, पेट में दाना नहीं है, सिर पर छत नहीं है और जो जीवनपथ पर निरंतर चलायमान है, गतिमान है, बिखरा हुआ है

जिसकी जिंदगी भट्ठी में लगातार तप रही है। जिन्हें 'पथ पर फुर्सत कहां?', और 'दीनता' देह से लिपटी है। यह उन्हीं का संघर्ष है जिसके बल पर त्रिलोचन जीवन की समस्याओं को दूर करना चाहते थे अन्यथा आदमी तो अपना जीवन जैसे-तैसे जी ही रहा है। त्रिलोचन की कविता में उनके आत्मसंघर्ष की कहानी है। वही त्रिलोचन की कविताएं इसका उदाहरण है जिसमें उनकी स्वानुभूति है और इसमें समाज का वह यथार्थ भी सम्मिलित हो जाता है, जो वैसी हालात को जी रहा है और उस यथार्थ से गुजर रहा है। आर्थिक तंगी का ऐसा पोट्रेट बहुत कम ही देखने को मिलता है जैसा कि त्रिलोचन ने खींचा है। यह भारत का सामाजिक यथार्थ है।

त्रिलोचन भाषा की संरचना और बुनावट से लगातार चिंतित कवि है। नया-नया प्रयोग वे लगातार करते रहे हैं। आमजन की बात आमजन की भाषा में जानना और फिर उससे जगह देना बहुत बड़ी बात है। त्रिलोचन इससे लगातार जूझते हैं। उनकी कविता 'अपना घर' इसी की अभिव्यक्ति है। यह कविता पूरी तरह से भाषा की बात करती है। ऐसी भाषा जिसे सभी जन अपना समझे और ऐसा घर बनाए जिसे सभी अपना समझे। 'महल खड़ा करने की इच्छा है-शब्दों का' में अभिव्यक्ति की आजादी, संपर्क भाषा की पूरी अवधारणा छिपी हुई है। 'पथ पर चलते रहो निरंतर' जीवन में 'सुनापन' और 'निर्जन' पथ पर चलते हुए, पथिक के आत्मसंघर्ष और अथक प्रयत्न के उपरांत सार्थकता के साथ उत्तर देने की कविता है। 'जल से हिल जाने पर कैसे तल की छाया' कविता धार्मिक सत्ता, आत्मा-परमात्मा पर आधारित है जिसमें 'आत्मा' खत्म होने पर सब कुछ खत्म हो जाने की पूरी संभावना है। 'तल' और 'जल' आत्मा-परमात्मा का द्योतक है। त्रिलोचन की रचना शैली की एक खास मिजाज यह है कि उसमें प्रश्नोत्तर है। वे लगातार सवाल करते हैं। यह एक सजग कवि की पहचान है, जो जग-जीवन की गतिविधियों से परिचित हों और जो परिचित होंगे वही सवाल भी करेंगे। जो अपरिचित होंगे वे कहां से सवाल करेंगे। इसी कविता में वे आत्मा की तलाश करने वाले सभी व्यक्ति से सवाल करते हैं -

"अपनी चमक दिखा कर, कहां गया वह आत्मा
जिसकी सब तलाश करते हैं; जिसकी रेखा
नहीं बनी लेकिन सत्ता का शोर हो गया
सारे जग में, आत्मा ही तो है परमात्मा।"[89]

यहां स्पष्ट यह देखा जा सकता है कि त्रिलोचन यह साबित करना चाहते थे कि 'आत्मा' और 'परमात्मा' सिर्फ और सिर्फ सत्ता संघर्ष है। त्रिलोचन के काव्य संसार में तुलसीदास, बुद्ध, गांधी, आदि की ध्वनि सुनाई पड़ती है। उनके विचारों पर उनकी अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों दिखाई देती है। 'महाकाश का कलश' कविता में जिस प्रकार से 'घट के भीतर घट हैं' और जीवनचक्र को घट, चाक, पृथ्वी, सूरज आदि बिम्बों के माध्यम जीवन की संपूर्णता का चित्रण है। यही भाव उनकी एक अन्य कविता 'सप्त बालचन्द्री आयस पुल राजघाट' में भी दिखायी देता है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि त्रिलोचन जीवन की सच्चाई को जीना चाहते थे परंतु वह कितना सार्थक हुआ; यह कहना मुश्किल है। क्योंकि आज त्रिलोचन नहीं हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि उनकी कविता जीवन जीने और अपनी इच्छानुसार जीने की चाहत की अभिव्यंजना है। जीवन के संघर्ष और उसकी सीमाओं के बीच स्वयं निर्णय की अभिव्यक्ति है। जिसमें चिर-परिचित, जीर्ण-शीर्ण, सबका साथ जीवन के मधुरतम संगीत गुनगुनाने की परिकल्पना है। इसी आत्मसंघर्ष की कड़ी में उनकी कविता 'जीवन का एक लघु प्रसंग' को भुलाया नहीं जा सकता है। यह कविता एक गद्य काव्य है लेकिन पूरी तरह से वासुदेव सिंह से त्रिलोचन बनने-होने की कविता है। यह कविता उनकी शिक्षा-दीक्षा की दास्तान है और उनके संघर्ष की खासकर आर्थिक तंगी, पैसों की समस्याओं के कारण उत्पन्न शिक्षा में बाधाओं की कहानी है जो कि भारत वर्ष में गरीबी और शिक्षा के संबंधों की पड़ताल करती है। 'गोया' जो गरीब है उनके लिए शिक्षा पाना कितना मुश्किल है। किताबों की समस्याएं मूलतः पैसों की हैं जिससे उनकी पारिवारिक स्थिति को समझा जा सकता है कि त्रिलोचन के परिवार वालों की आर्थिक तंगी क्या रही होगी? विवरणात्मक संवाद शैली की यह कविता उनके जीवन में उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों की तस्वीर खींचती है। अपनी बुआ के द्वारा पूछे गये सवाल के जबाव में त्रिलोचन की सहजता और उनकी मां एवं बुआ की विवशता पूरी तरह से उजागर होती है। भारत के गांवों की उस मानसिकता का परिचायक है यह कविता, जिसमें शिक्षा की बात सेकेण्डरी होती है पहले पेट की आग बुझाने के लिए काम और पैसा कमाने का उद्यम की बात होती है। 'मक्खी लीलना' एक मुहावरा है जिसका आशय होता है कि कोई भोजन का कोई प्रबंध नहीं है। इसका दूसरा पहलू है कि कोई कामधंधा नहीं है। दोनों ही स्थिति में कवि का आत्मसंघर्ष भारत की उन गरीबों का आत्मसंघर्ष हो जाता है जिन्होंने 'मक्खी मारा है और मक्खी लीला है।' इससे ज्यादा खतरनाक यह

सोच रही है कि 'पढ़-लिखकर आखिर फलाने विक्षिप्त' हो गए। त्रिलोचन ने उस भारतीय सोच को दर्ज किया है जिसके कारण जनपद में अशिक्षा फैलती रही है। इसकी पुष्टि बहुजन आत्मकथाओं में दर्ज अशिक्षा के संदर्भों से भी होती है जिसमें यह कहा जाता है कि ज्यादा पढ़ने-लिखने से आदमी पागल हो जाता है। तुलसीराम कृत 'मुर्दहिया' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके बावजूद यह मां और बुआ की चेतना ही है कि वे त्रिलोचन को पढ़ने की छूट देती है। उनको उम्मीद है कि विद्या माता ही उसे निरखें और परखें, उसकी रक्षा एवं पालन-पोषण करें। बुआ का कथन द्रष्टव्य है-

"मैंने श्रद्धा से, प्रेम से, निष्ठा से,
विद्या को दान कर दिया है;
जानबूझ कर दान कैसे फेर लूं,
ऐसा कभी नहीं हुआ-
विद्या माता ही अब इसको निरखें-परखें।
रक्षा और पालन-पोषण करें।" [90]

इससे यह स्पष्ट है कि विद्या से जीवन में निखार आता है और उसकी रक्षा होती है और जीवन की सार्थकता भी उसी में है। यानी यूं कह सकते हैं कि आदमी का पालन-पोषण और उसके जीवन की रक्षा का कायदा सही रूप में विद्या से ही आता है। हुनर और ज्ञान से ही होता है।

त्रिलोचन की पारिवारिक पृष्ठभूमि कृषक जीवन की रही है और उनकी कविता का आयाम तथा फलक दोनों किसानी जीवन से सराबोर है। उनका पहला काव्य संग्रह 'धरती' इसका सद्यः प्रमाण है। जिसका प्रकाशन 1945 ई में हुआ था। गोबिन्द प्रसाद के अनुसार "इन काव्यान्तर्गत काव्य के प्रत्यक्ष व्यापार पर बल है जिसमें किसानी जीवन के सामूहिक श्रम व संघर्ष के चित्रों को सहज और अनलंकृत ढंग से बेबाक़ी के साथ रखा गया है।"[91] इसमें अकेलेपन का दर्शन नहीं है। प्रेम है, सामूहिकता है, धरती है और उस धरती के प्रति सामाजिक दायित्व भी है। वस्तुतः 'धरती' सामाजिक उत्तरदायित्व की रचना है। 'धरती' ही क्या अन्य रचनाओं में भी यत्र-तत्र त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत ढेरों चरित्र बिखरे पड़े हैं। इनमें अनपढ़ बच्ची चम्पा है, चित्रा जाम्बोरकर है, नगई महरा है, भोरइ केवट है, अछूत निषाद है, मंगल, निरहू, अवतरिया, सोनी और सुकनी है तो सब्जी बेचने वाली बुढ़िया भी है। इन काव्यान्तर्गत भारत के कृषक-मजदूरों और दुःख-सुख को सहती

संघर्षशील जनता की मुंह से बोलती तस्वीर अपने सरल रूपों में सामने आती है। इन चरित्रों में कवि की वर्गीय दृष्टि और विचारधारा को देखा जा सकता है। इन तमाम चरित्रों को जोड़कर भारत के 'आम आदमी' की तस्वीर बनती है। इन चरित्रों के विभिन्न पहलुओं को सामने रखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि "त्रिलोचन का कवि किस मनुष्य का निर्माण अपनी काव्यान्तर्गत करना चाहता है। किन मानव-मूल्यों को वे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनकी पक्षधरता कहां है। इन चरित्रों के माध्यम से उनकी काव्य दृष्टि में निहित यथार्थ के उस रूप को सहज लक्षित किया जा सकता है।"[92] यही त्रिलोचन की काव्यदृष्टि है, उनकी वैचारिकी है। साथ ही उनकी जातीय परंपरा और उसका विकास भी है, जो निरंतर जीवन पथ पर संघर्षरत है। जिनकी सांसों को आराम नहीं हैऔर जो दिन-रात समाज के कल्मष धोने में लगा हुआ है। इसीलिए त्रिलोचन जी कहते है-

"धन की उतनी नहीं मुझे जन की परवा है
जितनी। जो मुझ से खुलकर मन से मिलता है
मैं उसका वशवर्ती हूं। इस से खिलता है
मेरे प्राणों का शतदल। एक ही दवा है
जीवन के सौ रोगों की, चाहो तो ले लो
....
अपनापन सब पर पसार दो, खुलकर खेलो।"[93]

अर्थात् जीवन के विविध रंगों में से सिर्फ एक रंग ही जो सभी को आकर्षित करता है, वह अपनापन यानी प्रेम है। यह जो विविधता का रंग और प्रेम है उसकी अभिव्यक्ति 'सारनाथ' कविता है जहां प्रकृति और मानव जीवन की प्रकृति के बीच के समन्वय रूप है। साधारण में असाधारण का भाव त्रिलोचन की काव्यगत विशेषता रही है। वे छोटी-छोटी चीजों को उसी की सहजता में व्यक्त करते हैं जिसके कारण उपेक्षा का भाव पैदा होता है। 'मैं कृतज्ञ हूं' में बाजारवाद और बाजार में बिकाऊ का उल्लेख किया गया है। इस कविता में एक तरफ प्रिय कवि की बात है तो दूसरी तरफ बाजार में सब कुछ बिकाऊ है और पैसों का अर्थ इस बाजारवाद में कौन नहीं जानता है। जो इस बाजार की भाषा जानता है वह बाजारवाद में टिकता है लेकिन जिनके भाव उनके जीवन का भाव है। उसे बाजारवाद से क्या लेनादेना है। त्रिलोचन को इस बात पर गर्व है कि मेरे जैसे सपने किसी और

को नहीं है। इसी सपनों को वह अपनी कविता में संजोते हैं, उसे अभिव्यक्त करते हैं। यह अनुभूति और स्वप्न उनकी कविताओं को अन्य से अलग करती है। त्रिलोचन की काव्यानुभूति और दृष्टि दोनों ही आमजन के संघर्ष और स्वप्न हैं-

"मेरी कविताओं के सपने सब मेरे हैं
मुझे तो प्रसन्नता है
यदि मेरे सपनों को कोई भी नहीं कहता
मेरे हैं।"[94]

निश्चय ही यह कवि की स्वानुभूति है जो किसी से मेल नहीं खा सकती है और न ही कोई दूसरा उसे अपना कह सकता है। यही इतिहास का सत्य है और इस सत्य पथ पर चलना और सत्य कहना बहुत ही दु:साहस का काम होता है। यह साहस त्रिलोचन में है कि वे अपने काल की रचनाओं को काल्पनिक कहते हैं और समीक्षक द्वारा उस कल्पना को सत्यता के आधार पर स्वीकृति भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। साहित्य में कल्पना और यथार्थ के बीच रचनाओं को अपनी जमीं बनानी होती है। तत्कालीन लेखन में कल्पना की सवारी जो हो रही थी और साहित्यिक विद्वानों के द्वारा उसकी स्वीकृति जो रही है। त्रिलोचन उसे नकार रहे थे और भाषाओं के माध्यम से बलात जो इतिहास रचने की प्रक्रिया चल रही थी उस पर वे सवाल उठाते है-

"इतिहास ऐसा ही था
कैसा
नए नए इतिहास रचे जाया करते हैं
बल देकर कहते हैं भाषा में अपनी अपनी सभी लोग
इतिहास ऐसा ही था।"[95]

निष्कर्ष: इतिहास कुछ और नहीं, यह तथ्य आधारित दृष्टिकोण की स्वीकृति है। आप किस तथ्य को कैसे स्वीकार करते हैं और उसे किस रूप में ग्रहण और व्यक्त करते हैं। त्रिलोचन कविता के माध्यम से आमजन के आत्मसंघर्ष का इतिहास ही तो लिख रहे थे। उन लोगों का इतिहास जिसे भारतीय समाज में कभी जगह ही नहीं मिला है। जिनके संघर्ष को कभी श्रम ही नहीं समझा गया। जिनकी आवाजों की अनुगूंज संसद तक पहुंची ही नहीं। लेकिन वही भारतीय सभ्यता-संस्कृति का

निर्माता तथा कर्ताधर्ता रहा है। शब्द से अभिव्यंजित जीवन की तलाश उनकी कविता में है। इसके लिए वह काव्यशास्त्र के प्रतिमान को धत्ता बता देते हैं। यह तलाश नामवर सिंह के शब्दों में 'गैर-आधुनिक ही नहीं बल्कि प्राक्-आधुनिक' भी हैं त्रिलोचन। इसी अभिन्नतम सत्ता की चाहत का आस्वाद त्रिलोचन साहित्य की दुनिया में चाह रहे थे। चाहे वह रूप की हो या अंतर्वस्तु की, गांव हो या शहर, प्रकृति हो या कृत्रिम सभी में दिखायी देती है। त्रिलोचन के काव्य में ग्राम्य जीवन से लेकर शहर, परंपरा से लेकर आधुनिकता तक, मानव निर्मित सत्ता से लेकर प्रकृति सत्ता तक। सभी स्तर पर नवीनता की चाहत त्रिलोचन की काव्य संवेदना की मांग है। यह मांग देशज आधुनिकता और सरजमीं पर निर्मित साहित्यशास्त्र की भी है। भूख, अभाव और दारिद्रता आदि की गहरी अनुभूति त्रिलोचन की कविता में है। वे संपूर्ण जनपद का कवि स्वयं को घोषित करते हुए भूख-दुख और अन्याय-अत्याचार की बात करते हैं। यह आत्मसाहस उनके आत्मसंघर्ष का ही परिणाम है जो निर्भय होकर अपनी बात कहने को मजबूर करता है। लड़ने की शक्ति और साहस देता है। उनके इस संघर्ष में नारी-शक्ति की भी अहम भूमिका है, जिसे वे अपनी कविता में जगह देते हैं।

****

संदर्भ संकेत :-

1. मंगल किशोर पाण्डेय, हंस, 1946, जुलाई अंक, पृ. 12
2. डॉ. कुंवरपाल सिंह, ब्रजगरिमा (मथुरा). फरवरी-मार्च 1991. पृ. 30
3. त्रिलोचन शास्त्री, 'अनकहनी भी कुछ कहनी है', पृ. 75
4. आर. एन. सिंह, व्यष्टि अर्थशास्त्र, पृ. 19
5. पंडित जगन्नाथ, नागार्जुन का काव्य और युग अन्तः सम्बन्धों का अनुशीलन, पृ. 46
6. डॉ. संतोष शर्मा, प्रगतिशीलता की कसौटी पर त्रिलोचन, पृ.6
7. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 90
8. वही, पृ. 97
9. त्रिलोचन, 'गुलाब और बुलबुल', पृ. 103
10. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 98

11. डॉ. संतोष शर्मा, 'प्रगतिशीलता की कसौटी पर त्रिलोचन', पृ. 149

12. त्रिलोचन, 'नये जीवन का अमृत', पृ.14

13. वही, पृ. 15

14. त्रिलोचन, 'मेरा घर', पृ.31

15. त्रिलोचन, ' मैं उस जनपद का कवि हूँ', पृ. 93

16. वही, पृ. 97

17. वही, पृ. 97

18. त्रिलोचन-'धरती', पृ.14

19. डॉ. प्रताप सिंह-त्रिलोचन का काव्य लोक, पृ.128

20. मार्क्स ऐंगल्स, दा जर्मन आइडियोलोजी, पृ. 13

21. सम्पादक, श्याम सुन्दर दास, हिन्दी शब्द सागर, भाग-7, पृ. 272

22. स.डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, पृ. 288

23. त्रिलोचन,'चैती', पृ. 16

24. वही, पृ. 55

25. त्रिलोचन, मैं उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 30

26. त्रिलोचन, धरती- 'भोरई केवट के घर', पृ. 96

27. वही, पृ. 98

28. त्रिलोचन, सॉनेट- 'कस्मै देवाय', पृ.56

29. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, पृ. 98

30. त्रिलोचन, मैं उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 87

31. गिडिंग्स, समाजशास्त्र के सिद्धांन, पृ. 160

32. दिविक रमेश, साक्षात् त्रिलोचन, पृ. 130

33. त्रिलोचन, फूल नाम है एक, पृ. 98

34. स. रामचन्द्र वर्मा, संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. 111

35. डॉ. उर्मिल गंभीर, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 29

36. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 97

37. वही, पृ. 97

38. वही, पृ. 14

39. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, पृ. 96

40. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, पृ. 98

41. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, पृ. 35

42. वही, पृ. 92

43. त्रिलोचन, मैं उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 29

44. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 28

45. वही, पृ. 29

46. वही, पृ. 20

47. त्रिलोचन-'अरघान', पृ.79

48. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 96

49. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 17

50. मंजुलता सिंह, हिन्दी उपन्यासों में मध्य वर्ग, पृ. 4

51. डॉ. श्यामसुन्दरदास, हिन्दी शब्द सागर, पृ. 212

52. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 82

53. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 55

54. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, पृ. 82

55. वही, पृ. 92

56. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, पृ. 61

57. त्रिलोचन, फूल नाम है एक, पृ. 78

58. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 96

59. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, पृ. 102

60. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 93

61. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, पृ. 96

62. सं. केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 52

63. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, पृ. 40

64. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 105

65. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 20

66. त्रिलोचन, अरधान, पृ. 44

67. त्रिलोचन-'धरती', पृ. 108

68. वही, पृ. 112

69. त्रिलोचन, शब्द, पृ. 19

70. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 16

71. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 30

72. त्रिलोचन, दिगंत, पृ. 30

73. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 41

74. सं.केदारनाथ सिंह, पृ.35

75. वही, पृ.35

76. वही, पृ.36

77. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.32

78. वही, पृ. 33

79. गोबिन्द प्रसाद, कविता के सम्मुख, पृ. 127

80. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएं, पृ. 34

81. वही, पृ. 34

82. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.16

83. वही, पृ. 18

84. ध्रुव शुक्ल, त्रिलोचन संचयिता, पृ. 10

85. वही, पृ. 11

86. वही, पृ. 11

87. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 20

88. वही, पृ. 23

89. वही, पृ. 25

90. वही, पृ. 29

91. वही, पृ. 73

92. गोविन्द प्रसाद, कविता के सम्मुख, पृ. 100

93. वही, पृ. 101

94. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, पृ. 17

95. त्रिलोचन, चैती, पृ. 55

****

षष्ठ अध्याय

त्रिलोचन शास्त्री के काव्य का शिल्प पक्ष एवं संरचना

मानव के विकास के साथ ही साथ उसकी चेतना का भी विकास होता गया। विकसित चेतना के अनुसार ही उसकी रचना-प्रक्रिया भी विकसित होती गयी। किसी वस्तु की रचना को कला के नाम से समझा जाने लगा। रचना करने वाला कलाकार के नाम से अभिहित किया गया। कला जिस प्रणाली से प्रस्तुत की गयी उसे ही शिल्प कहा गया। इस प्रकार शिल्प कलाभिव्यक्ति की एक प्रणाली है। साहित्य के अन्तर्गत शिल्प-विधि का सम्बन्ध साहित्य की रूप योजना से लिया जाता है। साहित्य की रूप योजना जितनी अच्छी होगी, उसका शिल्प भी उतना ही प्रशंसनीय होगा। साहित्य के विभिन्न अवयवों और उसमें आये हुए विचारों एवं संघर्षों में सामंजस्य स्थापित करना शिल्प का प्रमुख कार्य है। इस प्रकार शिल्प का सम्बन्ध रचना प्रकार से है। शिल्प के द्वारा किसी भी वस्तु में सौंदर्य बढ़ जाता है। फलस्वरूप वह रोचक एवं हृदय-ग्राही हो जाता है।

कला के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ शिल्प का विकास सम्भव हुआ। मनुष्य की चेतना का विकास क्रमशः हुआ है। जिस युग में जिसप्रकार की चेतना रही है, उस युग में उसी प्रकार के शिल्प की अभिव्यक्ति हुई। मानव-मन की सौंदर्य-चेतना अपने विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई। इसलिए विभिन्न प्रकार के शिल्प का दिग्दर्शन हुआ। समाज के अन्तर्गत युगानुरूप परिवर्तन होते रहे। इसीलिए तदनुसार शिल्प में भी परिवर्तन होते गये। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के समय की मूर्तियाँ, अजन्ता और एलोरा के भित्ति चित्र, गुप्तकाल की अनेक कलाकृतियाँ आदि सभी अपने-अपने युग के अनुरूप शिल्प की अभिव्यक्ति करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि शिल्प का युग चेतना से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन काल के प्राप्य विभिन्न शिल्पों को देखकर तद्युगीन चेतना का आभास प्राप्त होता है। मानव जीवन को आनन्दमय करना ही शिल्प का प्रधान लक्ष्य होता है।

6. त्रिलोचन के काव्य में निहित शिल्प :-

6.1 शिल्प का अर्थ :-

'शिल्प' से तात्पर्य क्या है? यह बृहत हिन्दी कोश में बतलाया है- "शिल्प यह कला, हस्तकर्म, रूप, आकृति, निर्माण, सृष्टि, कर्म, हूनर, कारीगरी, युवा, दक्षता, अनुष्ठान आदि हैं।"[1] " 'शिल्प' से अभिप्राय है- हाथ से कोई चीज बनाकर तैयार करने का काम दस्तकारी, कारीगरी, कला सम्बन्धी व्यवसाय।"[2] 'शिल्प' का अर्थ है - शैली कार्य पद्धति, विशेष उपाय यंत्र। 'शिल्प' के लिए अंग्रेजी में 'Technic' तथा 'Technique' शब्द प्रचलित है। पहले का उपयोग 'एक विशिष्ट कला', 'दक्षता तथा कला के लिए होता है तथा दूसरे का प्रयोग 'यंत्र कला', 'अभिव्यक्ति या सृजन के ढंग' के लिए विशेष रूप से होता है। शिल्प विधि का उचित पर्यायवाची 'रूपाकार' है, जो किसी भी साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट आकार देता है। विषय वस्तु को कला रूप में ढालने की प्रक्रिया को 'शिल्प विधि' कहते हैं। उपर्युक्त विमर्श से स्पष्ट है कि शिल्प का अर्थ आलोचको ने रूप या रूपाकार के रूप में लिया है। डॉ. विवेक पालीवाल ने 'शिल्प विधि' का सम्बन्ध 'रचना की प्रक्रिया' से माना है, जो 'शिल्प' के अर्थ को सर्वाधिक अभिव्यक्ति देता है। उपर्युक्त विमर्श से स्पष्ट है कि शिल्प को रूप या रूपाकार से सम्बन्धित करना अयोग्य तथा अनुपयुक्त है। 'कला फर्म', 'विशेष उपाय इसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द है।' 'शिल्प' का अंग्रेजी पर्याय शब्द 'टेकनीक है। 'टेकनीक' का अर्थ है- दंग, विधान, तरीका जिसके माध्यम से कला क्षेत्र में काव्य की अभिव्यक्ति होती है।' इसप्रकार उपरोक्त अभिमतों के माध्यम से शिल्प का अर्थ स्पष्ट होती है।

6.2 शिल्प की परिभाषा :-

इस संसार के प्रत्येक घटना का कवि के संवेदनशील मन पर प्रभाव पड़ता है। जब इसी सत्य एवं सौन्दर्य को यह रेखांकित करता है, तभी कला का जन्म होता है। "अभिव्यक्ति का यही बाहय रूपाकार वह रचना है, जिसमें कवि की अनुभूतियों का मूर्त एवं सजीव चित्रण होता है। कविता का यही सत्य एवं सौन्दर्य पक्ष वस्तु पक्ष का तथा बाह्यरूप उसके "शिल्प पक्ष' का प्रतिनिधित्व करता है।"[3] " 'कथ्य' की अभिव्यक्ति विभिन्न उपकरणों द्वारा होती है। अभिव्यक्ति के यह माध्यम उपकरणों का संयोजन ही कला का रूप है और इस संयोजन का कौशल उसका 'शिल्प'।"[4]

6.3 शिल्पगत स्वरूप :-

'काव्य' यह सृष्टि सन्दर्भ में कवि के अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। यह अनुभूतियाँ सूक्ष्म हुआ करती हैं। अतः उन्हें रूपायित करने के लिए कवि को कथ्य का आश्रय लेना पड़ता है। यही काव्य का वर्ण्य-विषय बन जाता है, जो अपने रूपाकर में अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का वाहक बन जाता है। किसी भी कथ्य की पूर्णता 'शिल्प' के बिना संभव नहीं है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति काव्य नहीं होती क्योंकि उसके पास कथ्य को वर्णित करने के लिए शिल्प का अभाव होता है। केवल सिद्ध कवि ही कथ्य और शिल्प का उचित संयोग करने में सफल होते हैं। अतः कथ्य और शिल्प दोनों के सम्यक संयोग से ही अनुभूतियों की अभिव्यक्ति संभव होकर, काव्य सम्प्रेषणीय बनता है। शिल्प-विधान के अन्तर्गत शब्द प्रयोग, छंद, प्रतीक और बिम्ब, सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा एवं सपाटबयानी, व्यंग्य आदि का प्रस्तुतिकरण किया जाता हैं। त्रिलोचन के शिल्प-विधान के अन्तर्गत भी हम उक्त तथ्यों का ही विमर्श करेंगे। जिसमें -

6.3.1 शब्द योजना :-

शब्दों का भाषा अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शब्द ही भाषा को सार्थकता प्रदान करते हैं। भाषा की विशालता यह शब्दों के आधार पर निर्भर रहती है। कविता को अपना आकार शब्दों द्वारा ही मिलता है। काव्य-जगत में कवि अपनी अनुभूति को गहराई से विचारों को सम्प्रेषित करना चाहता है। जो कवि अपनी अनुभूति को जितनी सहजता एवं तीव्रता से संप्रेषित करने में सिद्ध होता है, वह उतना ही सफल कवि माना जाता है। सम्प्रेषण के लिए भाषा कवि की पहली शर्त होती है, जिससे उपयुक्त शब्द चयन ही इस भाषा को शक्ति प्रदान करता है। कवि जैसी अनुभूति को चित्रित करना चाहता है उस अनुभूति के अनुकूल ही शब्दों का प्रयोग भी उसके लिए उपयुक्त होता है। यदि कवि ऐसा करने में थोड़ा भी चूक जाता है, तो उसकी रचना सशक्त नहीं बन पाती। शब्दों का उचित प्रयोग ही कवि की कृति में सम्प्रेषण को सार्थक कर उसे (कृति) अविस्मरणीय बनाकर, उसके महत्व को द्विगुणित कर देता है। अतः किसी भी कृति की प्रतिष्ठा में भावानुकूल शब्दों के प्रयोग का काफी महत्व है।

छायावादोत्तर कवियों में त्रिलोचन ने प्रगतिशील यथार्थवादी धारा को समर्थन देते हुए भी काव्य-व्यापार में शब्द की सत्ता पर अत्यधिक बल दिया हैं। यह और बात है कि शब्द का अर्थ उनके लिए शब्द में निहित एक समग्र सम्पूर्ण जीवन भी होता है। त्रिलोचन ने शब्द की सत्ता की अनोखी

पहचान का प्रमाण देते हुए उसमें जो जीवन भरा है, वह एक निराली वस्तु है। शब्दों में जीवन भरने के लिए शब्दों में ही नहीं, जीवन में भी उसे उतारने की जरूरत होती है। अज्ञेय के लिए शब्द के उपयोग की सार्थकता शब्द के परिष्कार में रही है। त्रिलोचन के लिए शब्द का अर्थ है- "जीवन से घनिष्ठ साक्षात्कार। शब्द पर मोहित होनेवाले, शब्द में कीड़ा वैचित्र्य देखने वाले रीतिकाल में ही नहीं, आज के काव्य-रसिकों के बीच भी होंगे। किंतु शब्द या भाषा में 'जीवन की हलचल' भरी है, यह दृष्टि उन्हें नहीं प्राप्त हुई। त्रिलोचन ने शब्द, वाक्य तथा भाषा में निहित जीवनमर्म को उद्घाटित करने के लिए ही जैसे कविता का माध्यम चुना हो। त्रिलोचन ने तुलसी और गालिब से ही भाषा नहीं सीखी, अपने ठीक पहले के वरिष्ठ या अग्रज समकालीन कवि निराला से भी शब्दानुशासन का मर्म जाना है।"[5] त्रिलोचन शब्द के मर्म को जानते है, इसलिए वे शब्दों के विषय में अपने भावों को इस प्रकार प्रकट करते हैं -

"शब्दकार इन शब्दों में जीवन होता है
ये भी चलते-फिरते और बात करते हैं;
तोष, रोष-जब जैसे भावों से भरते हैं
तब वैसे ही अर्थों का व्यंजन होता है,
संगत शब्द अर्थ से अनुरंजन होता है।"[6]

त्रिलोचन के लिए कोई शब्द न तो छोटा है, न ही मूल्यहीन। त्रिलोचन के लिए शब्द वास्तव में उस समाज की जीवित सत्ता है, जिसमें वह प्रचलित है। शब्द उनके लिए जनता है। जैसे कोई जनता उनके लिए न तो हेय है, न तुच्छ वैसे ही वे शब्द के माध्यम से जनता का जीवित स्पंदित जन रूप में साक्षात्कार करते हैं और सुख-दुख में उसके साथ हो जाते हैं। "यह त्रिलोचन ही है जो 'चरकट', 'लूघर', 'धूम-धड़ाका, चिबिल्ला', 'सैलबिल्लू', जैसे शब्दों को इतिहास के से निकालकर, उनमें नवीनता भरते हुए चमका देते हैं। शब्दों से प्यार करना, उन पर दुलार बरसाना, उन्हें अपने अधिकार में करना, यह कोई त्रिलोचन से सीखे।"[7] त्रिलोचन शब्दों के अनुभूतियों को भलीभाँति जानने है, शब्दों के विषय में वे कहते हैं -

"उठी उई उँगली की ओर मैंने देखा
साँप और नेवला- दोनों गुत्थमगुथा,
दोनों एक दूसरे का अन्त कर देन पर

लगे हुए।"[8]

कवि ने 'गुत्थमगुथा' जैसे सामान्य से लगने वाले शब्द को कितनी सहजता एवं आत्मीयता से रखा है, यह देखने योग्य है। यह शब्द भाषा रचना में इस प्रकार मिल गया है कि इसका गँवारूपन जरा भी नहीं खटकता। यह त्रिलोचन की शब्द योजना का जादू है। वे अपने एक सॉनेट में कहते हैं कि इस धारा के दो रास्ते है-'एक भाव का तथा एक रूप का।' ये रास्ते भले ही दूर-दूर दिखते हो पर ये अति निकट हैं।

त्रिलोचन शब्द शिल्पी रहें है। वे शब्दों की साधना उन्होंने योगी की तरह की हैं। उनकी संवेदना शब्द को अधिक ग्राहय बनाती है। वे शब्द को ठीक वहां व्यक्त करते हैं जहां शब्द अपने पूरे अर्थ को खोलकर रख देता है। शब्दों का सार्थक प्रयोग जब वे करते हैं तब उनकी छवि काफी विलक्षण दिखाई देती हैं। शब्द यह शब्द न रहकर व्यापक परिवेश और चरित्र का आकार लेते हुए अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं -

"आई थी घटाएं अभी
नाच कर चली गई
बिजली की मशाल जल-जल कर
बुझ जाती थी
हवा सनसनाती थी।"[9]

उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से त्रिलोचन 'बिजली की मशाल', 'सनसनाती हवा' जैसे शब्द प्रयोग पूरे वातावरण, परिवेश को साकार करके रख देते हैं। ये शब्द स्वयं परिवेश या चरित्र से बने हुए दिखाई देते हैं। साथ ही इन शब्दों ने कवि की अभिप्रेत अर्थ छवि को बड़े ही मार्मिकता से प्रस्तुत कर किया है।

जीवित अर्थों वाले त्रिलोचन के शब्द ऐसे हैं, जिनसे उन्होंने "वर्ण गंध का काम लिया है और जिन्हें 'असहाय नहीं पाया है कभी किसी क्षण।"[10] लेकिन कभी-कभी अपने अभिप्रेत अर्थ को शब्दों में न भर पाने की विवशता भी कवि को छलती है। इस संदर्भ में वे कहते हैं-

"शब्दों में उन अर्थों को मैं कैसे लाऊँ
जो आमों की टहनी टहनी में फल बनकर

झूल रहे हैं।"[11]

त्रिलोचन के लिए शब्द कलात्मक सत्ता नहीं है उसकी आंतरिक रचना और अन्वेषण का सार है। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द को ही कविता किसी कलात्मक आग्रह में नहीं कहा गया है। त्रिलोचन की लोक भाषा के शब्दों के प्रयोग की कितनी गहरी पकड़ है, वे शब्द उन्हें एक विशिष्ट श्रेणी में ले जाते हैं। इस तथ्य को निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों द्वारा जाना जा सकता है-

"रज्जो कहती है बछड़ा ही वह
ब्याएगी, मेरा कहना है बछिया ही वह
ब्याएगी।"[12]

उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से 'बछड़ा, 'बछिया', 'ब्याएगी' जैसे शब्दों के प्रयोग को देखकर लोकभाषा के शब्दों पर त्रिलोचन का अधिकार दिखाई देता है।

त्रिलोचन शैली काफी भिन्न है। उनके अनुभवों की पूंजी बड़ी है, इसलिए शब्द-संपदा भी भिन्न प्रकार की है। इस दिशा में उनकी तुलना उनके समकालीनों में केवल नागार्जुन से की जा सकती है, जिनकी अनुभव-पूंजी, शब्द-सम्पदा अधिक विस्तृत है। त्रिलोचन ने लिखा हैं- " 'कैसे और कहां से शब्द अनाहत पाऊँ' उनका प्रयत्न 'अनाहत शब्द' की दिशा में रहा है। यह 'अनाहत' शब्द कबीर के 'अनहद' का आभास देता हुआ भी कोई रहस्यवाद नहीं है। 'अनाहत' यह शब्द है जो कहीं से आहत न हुआ हो... हम 'अनाहत शब्द' के प्रति कवि के भाव को सहज ही समझ सकते हैं।"[13] त्रिलोचन की शब्द संवेदना से परिचित होने के लिए विविध छन्दों तथा प्रकारों की भाषिक बनावट पर ध्यान देना चाहिए। शब्द की सार्थकता प्रयोग की सार्थकता में है। प्रयोग की विशिष्टता में नहीं। शब्दों के माध्यम से धड़कते हुए जीवन की परख या पहचान में है। छन्द और लय, उक्ति और अर्थ के भेद के बावजूद भाषा पर त्रिलोचन की पकड़ का ही उदाहरण है-

"मंजर गए आम कोइलिया न बोली,
आंख मूंदे पेट पर सिर टेक
गाय करती है घमौनी बन्धी जड़ से
पेड़ की छाया खड़ी दीवार पर है।"[14]

यह त्रिलोचन की भाषा इस तथ्य को उजागर करती है कि जाने-पहचाने शब्दों का भी चयन किया जाता हैं। इसके पीछे वस्तु की समझ और उसका अर्थ ध्वनि कार्य करता है। वे आगे कहते हैं -

"आठ पहर की टिप् टिप्
सड़क भीग गई है
पेड़ों के पत्तों से बुंदे
गिरती हैं टप् टप्
टप्।"[15]

कवि ने यहां पर 'टिप् टिप्', 'टप् टप्' जैसे शब्दों का बड़ी कुशलता से प्रयोग किया है। ये शब्द व्यंजनापूर्ण अर्थ ध्वनियां देते है। यह त्रिलोचन की शब्द-सम्पदा के सार्थक प्रयोग को प्रमाणित करता है। त्रिलोचन बिहारी से भी अधिक सजग और मितव्ययी सजग शिल्पी रहे है। उनके लिए कही जाने वाली बात का जितना महत्व है उसे साधकर कहने का उससे कम नहीं। वे अपनी भाषा में शब्दों से बेहद प्यार करते हैं। शब्द उनकी आवाज को बखूबी पहचानते हैं और फौरन उनके मन की बात भांप लेते है और आवाज देने पर वही आता है जो शब्द-प्रयोग के प्रति सबसे सटीक है। जैसे -

"कवि की सूझ-बूझ देखते ही बनती है। जैसे -
भरी रातों की....पथ.. लपका वह कौंधा
दीप्ति भर उठी आंखों में, इतनी, फिर हम तुम
कुछ भी पकड़ न सके डीठ से, छाया चौंधा।"[16]

त्रिलोचन ने यहां पर 'भरी रात भादों की कहा है। इस 'भरी' की जगह हम 'बादल छाई हुई रात' कहे तो इस 'भरी' का जो व्यंजित अर्थ है, यह नहीं मिलेगा। इससे समझा जा सकता है कि 'भरी' यहां कविता का शब्द है। "इस कविता में कवि ने जिस स्मृति की दृष्टि होने की बात कही है- 'बिजली' के माध्यम से, वह इस 'भरी' को सामान्य से विशेष अर्थ देकर संवेदना को व्यापक करते है।"[17] इसके साथ ही लपका, कौंधा, डीठ, चौंधा जैसे शब्दों को भी कवि ने बड़ी सजगता से अपनाया है। इस प्रकार कवि भावानुकूल शब्दों का चयन करने में सक्षम है। त्रिलोचन भाषा की बनावट और शब्दों का चयन वे बहुत गहराई से करते हैं। त्रिलोचन शब्द पर जोर देने और कवि केशव के या कुछ रीतिवादियों के और प्रगतिशीलों के जोर देने में फर्क है जो शायद शब्द को उस अर्थ में नहीं लेते जो

किताबी कौशल से कही अधिक जीवन और जीवनानुभव की अभिव्यक्ति की उत्कटता में ही कविता में आया करते हैं। लोक-भाषा के कुछ ऐसे विशिष्ट शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है, जो हिन्दी के बड़े पाठक-समाज के लिए दुर्लभ है। जैसे -

"मही की परत जमी
उसे पौने से लेकर
बट्टे में डालने लगे
बैलों को सानी में,
खिलाने के लिए।"[18]

यहां पर 'मही', 'पौने', 'बट्टे', 'सानी' जैसे लोकभाषा के शब्दों के अर्थ समझने के लिए साधारण पाठक को थोड़ी असुविधा अवश्य महसूस होगी। हिन्दी की समकालीन कविता का पाठक या अध्यापक जब तक हिन्दी की बोलियों के शब्द भण्डार से परिचित नहीं होता तब तक त्रिलोचन की इन पंक्तियों के अर्थ को समज़ नहीं सकता।

त्रिलोचन ने लोकभाषा के शब्दों का भरपूर इस्तेमाल किया हैं, जिसे निम्नांकित उदाहरण के माध्यम से देखा जा सकता है-

"सम्बन्धों की छिछालेदर
घर में न हो गांव भर में होती थी
बाप दादों का कुटका
बछैया छोड़कर नगई ने छोड़ दिया
मंडई डाली चिरानी पट्टी में आकर।"[19]

यहाँ पर 'छिछालेदर', 'कुटका', 'मंडई', 'बछैया' आदि शब्दों का प्रयोग बड़ी सहजता से कवि ने किया है। इस कविता का काव्य बोध, अर्थ, भाषा एवं शब्द संसार वास्तविक हैं कि पढ़ने पर आन्तरिक सुख की प्राप्ति होती हैं। 'मुँह-मुँह देखे', 'भलमनई', 'खुचड़-अढ़कन, 'संझा', 'घरनी', 'घरौवा' 'गोहन लगुई', पैरों पैरों है', 'पानी थामना', 'टुन्न-पुन्न' इस प्रकार के विशिष्ट शब्द त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत भरे पड़े हैं। कौनसा शब्द कैसे बनता हैंऔर कैसी ध्वनि निकलती है, कौनसा शब्द कितने व्यापक प्रभाव वाला है इसे बखूबी जानने के प्रयत्न में त्रिलोचन अपनी कविता में लेते जाते है।

त्रिलोचन दरअसल एक प्रयोगशील कवि रहे हैं फिर भी प्रयोग के लिए प्रयोग करने के ये आग्रही नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने अंग्रेजी, फारसी या अन्य हिन्दीतर भाषाओं के शब्दों का प्रयोग काफी कम किया हैं।

त्रिलोचन का शब्द-ज्ञान व्यापक तथा विस्तृत रहा है। वे तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी आदि सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में करते हैं। उनका शब्द-ज्ञान जितना व्यापक है, उतने ही ये शब्द प्रयोग के बारे में भी जागरूक है। सही शब्द को सही स्थान पर रखना उनकी कला की एक विशेषता है। वे शब्द को शरीर से ही नहीं, उसकी आत्मा से भी पहचानते हैं। उनकी शब्द-सम्पदा के विषय में कान्ति कुमार जैन ने ठीक ही लिखा हैं- "सूरदास के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि वे वात्सल्य रस का कोना-कोना झांक आए हैं। त्रिलोचन के लिए आचार्य शुक्ल के ढब में मुझे कहना हो तो मैं कहूंगा त्रिलोचन हिन्दी और उसकी बोलियों के शब्द भण्डार का कोना-कोना झांक आए हैं।"[20] त्रिलोचन जैसी विपुल शब्दावली तत्सम-तद्भव के सम्मिश्रित प्रभाव में मिली-जुली शैली, निराला या नागार्जुन की रचनाओं में मिलती हैं। उनके काव्य में आए विभिन्न प्रकार के शब्दों के स्वरूप को समझने के लिए उनकी आत्मा में झांकना जरूरी होगा। तभी उनका मर्म समझा जा सकता है। उनके शब्दों की कोटियों के कुछ उदाहरण अलग से रेखांकित करने योग्य है-

तत्सम- 'शिष्टाचार'[21], "विश्राम"[22], 'भृगु प्रहार', 'क्षण', 'अखण्ड', 'सिन्धु'[23], 'अमृत', 'शेष', 'विश्व'[24], 'शिशिर', 'अलक्षित', 'कल्पनामय'[25] आदि।

तद्भव- 'हाथ'[26], 'नयन', 'नई'[27], 'पत्ते'[28], 'पेड़', 'अनेक', 'गुच्छा'[29], भीड़' 'लेटा देता'[30], 'पहाड़' 'उर', 'भटके', 'अटके'[31] आदि।

देशज- 'डॉसों', 'मसे', 'दुहता'[32], 'चाओं, 'काढ़ने', 'सतवारे अठवारे', 'चौपायी', 'चौगड़ा'[33], 'झरबेरी', 'भाड़' 'घरौया', 'गोहन लगुई', 'घरनी'[34], "बियाह', 'भंड़ई', 'बछैया'[35] आदि।

विदेशी- 'गुलामी', 'शव', 'अत्याचार', 'आज़ादी', 'बज्र'[36], 'अफ़सोस', 'आखिर', 'कलेजा', 'बलाय', 'दिल'[37], आदि फारसी के शब्द है। इसके साथ ही अंग्रेजी के भी कुछ शब्द देखे जा सकते हैं--'डियर', 'सिनेमा'[38], 'ट्रकें'[39], रिकॉर्ड'[40], 'मिस', 'लिफस्टिक'[41], 'कार' आदि शब्दों को लिया जा सकता है।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की शब्दों पर कड़ी पकड़ है। वे शब्दों को अपनी अभिव्यक्ति में लाते समय काफी सतर्कता बरतते हैं। शब्दों को बड़ी ही सहजता से त्रिलोचन

अपने काव्य में स्थान देते हैं। वे सच में ही शब्द-साधक, शब्द योगी और शब्द-शिल्पी एवं शब्द निर्माता हैं।

6.4 भाषागत-सौष्ठव :-

भाषा यह अभिव्यक्ति का माध्यम है। वह हमारी विचारों को प्रस्तुत करनेवाली तथा चैतन्य का दर्शन करानेवाली मानवीय शक्ति है। भाषा का निखरा हुआ संवेदनशील रूप मनुष्य के पास ही है। इसलिए भाषा और मनुष्य के ज्ञान की किसी इकाई का अध्ययन अपने आप में व्यापक महत्व रखता है। कवि जब अपने अनुभूत को सम्प्रेषित करना चाहता है तो उसकी पहली आवश्यकता भाषा होती है। भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति का अनुभव दूसरे तक पहुंचता है। इसी से यह सम्प्रेषण का सार्थक सेतु सिद्ध होता है। भाषा के विषय में रघुवीर सहाय के संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका में श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय ने लिखा हैं- "काव्य के जो भी गुण बताये जाते हैं या बताये जा सकते हैं, अन्ततोगत्वा भाषा के ही गुण हैं। इस धारणा की और भी स्पष्ट अभिव्यक्ति तार सप्तक के द्वितीय संस्करण के कवि वक्तव्य 'पुनश्च' में इस प्रकार हुई है, काव्य सबसे पहले शब्द है। शब्द का ज्ञान तथा शब्द की अर्थवता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृतिकार बनाती है। इतना ही नहीं सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यहीं से निकलते है, इसी में युग संपृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिल सकता है।"[42] इस प्रकार भाषा का महत्व असंदिग्ध है। भाषा कवि कर्म की प्रथम और अनिवार्य शर्त है।

त्रिलोचन हिन्दी के अलावा अंग्रेजी, फारसी, उर्दू तथा बंगला आदि भाषाओं के अच्छे जानकार है किन्तु जैसे कि वे मानते हैं, उन्होंने इस भाषा का अध्ययन ज्ञानार्जन के लिए किया है। इसके बावजूद इन भाषाओं के प्रभाव से मुक्त होकर वे एक भिन्न काव्य भाषा का विकास करते हैं। त्रिलोचन एक जन पक्षधर कवि है इसलिए भी सहज और सरल भाषा का प्रयोग उनका अभिष्ट रहा है। उनकी इस सहज बोधगम्य भाषा का स्वरूप देखा जा सकता हैं -

"मैंने जब देखा, अब इन हाथों से अपने
मैं भी कुछ कर सकता हूँ, फौरन अपनाया
सफल जनों का ढंग, सुखी का सुख अपनाया

फिर भी न तो फल, मिला न सुख
सांस के तप ने, मुझे तपा डाला।"[43]

इसप्रकार की सादगीपूर्ण, सरल भाषा के त्रिलोचन हमेशा प्रश्नयकर्ता रहे हैं। कविता के लिए अपेक्षित भाषा के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए त्रिलोचन का कथन इस प्रकार हैं - "कविता लिखते समय शब्दकोशों से भारी भरकम शब्द खोजकर कविता में रोपने के बजाय इसे जिंदगी की भाषा से ग्रहण करना चाहिए। कविता में नए मुहावरें और लोकोक्तियों का प्रयोग हो। भाषा स्थानीय सन्दर्भ से प्रवाहित होती है, जिनको समझने के लिए अलग-अलग व्याख्या तथा टिप्पणियों का सहारा आवश्यक हो जाता है। भाषा का सम्बन्ध आंतरिक विकास से भी होता है। किसी भाषा की गहराई में उतरना हो तो अपने क्षेत्र के ग्राम्य लोगों से मिलिए, उनका सुख-दुख बाटिए और उनसे बातचीत कीजिए। अनपढ़, अशिक्षित लोगों के बीच में रहिए, भाषा का मूल और सही रूप वहां मिलता है। इससे भाषा को नया रूप मिलता है। यही सहजता कविता को मूल्यवान और अधिक सार्थक बनाती है। सामान्य जन के सम्पर्क में कवि रहें तो अच्छी कविता लिख सकता है। प्रत्येक भाषा और बोली का अलग व्याकरण और मुहावरा होता है। कविता की भाषा में संरचना उसी के अनुरूप सहज और स्फूर्ति होनी चाहिए।"[44] त्रिलोचन का भाषा सम्बन्धी यह दृष्टिकोण उनके समग्र काव्य में परिलक्षित किया जा सकता है। भाषाओं के अनंत समुद्रों का आवाहन करने वाले कवि का काव्यलोक बहुआयामी है। भाषा सिद्ध कवि की शब्द साधना और विलक्षण सृजन सामर्थ्य ने उनके काव्य को बहुरंगी बनाया है। इस रचनाशीलता का प्रमुख आधार विविधतापूर्ण अनुभव है। शैली को विभिन्नता और भाषा के विविध स्तरों से समृद्ध होती काव्ययात्रा नित नई राहों की खोज करती हुई आगे बढ़ती है। कवि नए चित्रों के साथ नई भाषा समाज को देने की बात करता है। जैसे -

"लड़ता हुआ समाज, नई आशा अभिलाषा,
नए चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा।"[45]

त्रिलोचन ने भाषा की अभिव्यक्ति, सुस्ती, संस्कार, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना, व्यंजक भाषा लाक्षणिकता तुलसीदास से हो लिया है। तुलसी के विचारों को स्वीकार करते हुए त्रिलोचन लिखते हैं-

"तुलसी बाबा, भाषा मैंने तुमसे सीखी,
मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो।"[46]

त्रिलोचन खड़ी बोली में कविता लिखते हैं जो कि उनकी मातृभाषा नहीं है। उनमें मूल में आंतरिक लय अवधि भाषा का है। त्रिलोचन की एक कविता है 'धूप में जग रूप सुन्दर, सहज सुन्दर।' यहाँ सहज शब्द ठेठ तुलसीदास और निराला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। त्रिलोचन उन बहुत थोड़े से कवियों में एक है जो खड़ी बोली हिन्दी के स्वभाव से, उसकी बोलचाल की भाषा से और साथ ही उसकी साहित्यिक भाषा से भी बहुत गहराई से परिचित हैं। जीवन की भाषा से उनके सम्बन्ध इतने नष्ट है कि किसी प्रकार का चेतन प्रयत्न उनके यहाँ नहीं दिखता। वह किसी अनुभवी कुम्हार की तरह उसका इस्तेमाल मिट्टी की तरह कर लेते हैं। जीवन से गहरी जुड़ी उनकी इस भाषा का सहज रूप इसप्रकार है-

"छिपकली घरों के अन्दर ही
रहती है,
वहाँ उसे रक्षा और आहार भी
मिलता है।
मनबहलाव के लिए भी कभी
घर से बाहर जाते हुए उसे कम देखा गया।"[47]

त्रिलोचन की यह भाषा स्वाभाविक, सरल और सहज बोधगम्य है। त्रिलोचन शास्त्री भाषा के प्रति अत्यन्त सजग है। उनकी भाषा अनेक स्वरूपों वाली है। इनकी भाषा गद्य के काफी निकट है। उनकी भाषा उस स्तर पर चलती है जहां कविता की लय और गद्य की लय परस्पर घुल-मिल जाती है। त्रिलोचन की इस प्रकार की भाषा का स्वरूप कुछ इस तरह का है-

"लोग अपने-अपने घेरे के अन्दर ही घूमते है,
तेली के कोल्हू के बैल से।
एक दूसरे से टकराते हैं बिना बात।
जीवन अकेला नहीं मिलता।
अकेलापन जीवन समूह से ही अलग है।
एक दूसरे का सहयोग समभाव से,
सबका सहारा बन सकता है।"[48]

त्रिलोचन की कविताओं की भाषा उनकी स्वयं की भाषा नहीं बल्कि जन की अनुभवजन्य भाषा है जिसे उन्होंने जन के बीच रम कर पाया है। इसे वे उसके मूल रूप में प्रयुक्त कर, आश्चर्यजनक रूप से प्रभावोत्पादक बनाते हैं। जैसे-

"चाचा चौधरी गए
रह गए अपने साबू (बाबू)
बेलगाम है
कौन करेगा इन पर काबू।"[49]

सम्भवतः इस भाषा में गहरी प्रभावोत्पादकता है और इसके साथ यही वास्तविक जनभाषा है। इससे जनभाषा का और अधिक एवं वास्तविक स्वरूप देखना हो तो एक उदाहरण और लिया जा सकता है-

"वह जो अमोला तुमने धरा था द्वार पर,
अब बड़ा हो गया है। खूब घनी
छाया है। मौरों की बहार है। सुकाल
ऐसा ही रहा तो फल अच्छे आएंगे।"[50]

इसप्रकार त्रिलोचन सहज, सुबोध तथा लोकभाषा के पक्षधर रहे है। त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत जीवन की ध्वनियां सुनाई देती है, जो आपकी काव्यभाषा को सपाटपन से बचाकर कविता के नजदीक ले जाकर खड़ा कर देती हैं। आपकी काव्यभाषा में जीवन बोध इतना गहरा है कि यह नदी की धारा की तरह बहती एवं फैलती महसूस होती है। लेकिन त्रिलोचन इसमें बहे नहीं बल्कि दृढ़ता के साथ पांव जमाकर चले हैं।

त्रिलोचन भाषा से हृदय के साथ एकरूप होकर रास्ता तैयार करते है। 'नगई महरा' शीर्षक कविता में ही उनकी यह आत्मीयता देखने को नहीं मिलती बल्कि अन्य काव्यान्तर्गत भी ये भाषा के प्रति सचेत रहकर उससे आत्मीयता प्रदर्शित करते है। 'दिगन्त' की एक कविता का कुछ अंश देखा जा सकता है, कितने स्नेह से वे रोजमर्रा की भाषा का स्वरूप सामने रखते हैं-

"ये बिल्ली के बच्चे, इनका आभारी
मेरा कमरा लगा सुरक्षित, यह लाचारी

थी इनकी माँ साई। सब अपना देते हैं
प्यार हृदय का, वह मैं इन पर वार रहा हूँ।"[51]

खड़ी बोली हिन्दी को त्रिलोचन अपने काम में अपनाते हैं लेकिन इसके साथ लोक अवधि को भी इन्होंने अपनी कविता में अपनाया है। यहां तक कि एक कविता संग्रह 'अमोला' में तो इन्होंने इसी घर की बोली में कविताएं लिखी हैं। इसके साथ ही 'मेरा घर' संकलन में भी कुछ कविताएं ठेठ अवधि में लिखी है। किंतु इन संकलनों में भी इनकी यह भाषा अभिव्यक्ति के गुणों से पूर्णता परिपूर्ण है। उसमें भी सरलता और स्वाभाविकता है। इसीलिए उन्होंने भाषा की महिमा को प्रकट करते हुए 'भाषा के महिमा' शीर्षक कविता की रचना की है-

"जब हम ई लाख पाए
अओरउ जियतार बा
जओने कै राखे से
तन मन फरहर होए
तब भाखा धई लिहे।"[52]

त्रिलोचन की काव्य-भाषा की परीक्षा के लिए हमें बार-बार यह याद करना होगा कि त्रिलोचन भाषा में क्रिया और गति पर सबसे अधिक बल देते है और यह मात्र उनके शाब्दिक दावों तक ही सीमित नहीं है। 'दिगन्त' में उनका पहला सॉनेट जो सम्भवतः इस संकलन की भूमिका भी है, जो इस तथ्य को बड़े स्वच्छ ढंग से रेखांकित करता है। त्रिलोचन की काव्य-भाषा में नाद सौन्दर्य का लालित्य भी देखने को मिलता है। नाद सौन्दर्य की सृष्टि से ये वातावरण को साकार करके रख देते हैं। जैसे-

"भरी रात भादों की.... पथ.... लपका वह कौंधा
दिप्ति पर उढी आंखों में इतनी फिर हम तुम...
तड़ तड़ तहत् तड़ाड् धाड् धुड्ड ध्रू हुम् ...
फिर चमक, कड़ कड़ कड़क कड़कग्धम् ...
रिम झिम रिम झिम, छक छक, सर् सर् सर्।
....फिर चमक, कड़ कड़ कड़क कड़कन्धम्
रिमझिम रिमझिम, छकछक एक छक, सद्सद् सद्।"[53]

इस सॉनेट में बिजली कौंधने, आंखो के चौंधियाने, बिजली के गिरने, तड़कने, बादलों के गरजने, चमकने और वर्षा के झमाके के साथ हवा के बहने का जो अत्यन्त संश्लिष्ट चित्रांकन हुआ है वह पूरी हिन्दी कविता में अनन्य है। संस्कृत में भवभूति को छोड़कर अन्य किसी कवि में प्रकृति के इतने ओजस्वी चित्र देने की क्षमता नहीं दिखायी देती है। "हिन्दी में अनुकारमूलक शब्दों और अलंकारों का स्वतन्त्र अध्ययन नहीं हुआ है, पर यदि कार्ल स्टम्फ और कोलर के विमर्श पर ध्यान दें तो 'तड़ तड़ तड़तड़ा' और 'कड़ कर कड़क कड़कग्घम्' की नाद योजना का महत्व और भी बढ़ जाता है जिनका दावा है कि दन्त्य और मूर्धन्य ध्वनियां चमक या प्रकाश का सम्मूर्तन है।"[54]

भाव-विचार की सघनता और पद की लाघवता के प्रति त्रिलोचन जितने सचेत तथा सावधान है, उतने कम कवि होंगे। निश्चित शिल्प और आकार में चित्र की प्रकृति और चरित्र की आत्मा को छू लेना अभिन्न भाव-सम्पदा और विश्लेषणपरक भाषा से ही संभव हो सकता है। इस दृष्टिकोण से त्रिलोचन भाषा की गहरी क्षमता के परिचायक है। जैसे -

"अभी भिखरिया होगा बारह-तेरह का।
समझ बूझ में कोई देखे बड़ा धनी है
गुण ही गुण दिखते हैं ऐसी सहज बनी है,
बाल चेतना उसकी, फूल अनोखा महका।"[55]

यहां पर कवि ने 'भिखरिया' के चरित्र का मार्मिक प्रभावशाली अंकन किया है। उसे समझ-बूझ में कुशल के स्थान पर 'धनी' कहा गया है जो कवि की काव्य-भाषा का बड़ा सटीक प्रयोग बन पड़ा है। यहां पर भिखारिया के चरित्र को पूर्णता में अभिव्यक्त किया गया है और ऐसा त्रिलोचन की विश्लेषणपरक काव्य-भाषा द्वारा ही सम्भव हो पाया है। काव्य-भाषा में वाक्यों की रचना और स्वरूप का भी विशेष महत्व होता है। वाक्य-रचना, शब्द-विन्यास के विमर्श के बिना काव्य-भाषा का सौन्दर्य अनुद्घाटित ही रह जाता है। अतः काव्य-भाषा के अन्तर्गत वाक्यविन्यास का विमर्श किया जाना सहज अपेक्षित होता है।

त्रिलोचन की कविताएं चाहे प्रारम्भिक हो या परवर्ती, वाक्यगठन पर बहुत ध्यान देती हैं। हिन्दी कविताओं पर उर्दू के इकबाल साहब ने यह आरोप लगाया था कि हिन्दी कविताओं के वाक्य

ठीक नहीं है इसलिए वे कविताएं जनता तक प्रेषित नहीं हो पाती है। त्रिलोचन शास्त्री की कविताओं की बहुत बड़ी विशेषता वाक्य गठन की है। वे वाक्य गठन पर बहुत ध्यान देते हैं। जैसे-

"कोल्हाड़ में
ईख आई
तो नन्हे बच्चों ने
अपनी पसंद से
एक एक ईख
उठा ली
उसे चुहने लगे।"[56]

हिन्दी के अधिकांश कवि वाक्यांशों में या शब्दों में कविता लिखते हैं। त्रिलोचन की उत्कृष्ट काव्यान्तर्गत तद्भव शब्दावली से कसा हुआ वाक्य वार्तालाप की लय में गतिशील होता है। सुवाचन से अर्थ-छवियां उद्घाटित करता हुआ वार्तालाप की लय भी वस्तुतः वाचन की अति नाटकीयता का वर्जन करती है। इस प्रकार की वाक्य-योजना त्रिलोचन की है। इसका एक उदाहरण है-

"चोच दबाए एक तिनका
गौरय्या
मेरी खिड़की के खुले हुए
पल्ले पर
बैठ गई
और देखने लगी
मुझे और
कमरे को
मैंने उल्लास से कहा
तू आ घोसला बना
जो पसंद हो
शरद के सुहावने दिनों से

हम साथी हो।"[57]

त्रिलोचन भाषा के मामले में किसी को रियायत देने वाले नहीं है। मलयज ने अलंकरणहीनता के बावजूद भाषा में कसाव की जो बात रघुवीर सहाय के सम्बन्ध में कही है वह रघुवीर सहाय से अधिक त्रिलोचन की कविता के बारे में सच रही है। रघुवीर सहाय के सन्दर्भ में कसाव की व्याख्या भी भिन्न रूप में करनी होगी। कई बार कसाव को छिन्न-भिन्न करने में ही रघुवीर सहाय की कला निखरती है। "सबकी बोली ठोली/लाग लपेट/ टेक, भाषा, मुहावरा / टेक, भाषा, मुहावरा/भाव, इंगित - यह सब त्रिलोचन के भाषायी कसाव में संश्लिष्ट सहायक होकर ही आता है।"[58]

निष्कर्षत: यह कहना समीचीन होगा कि त्रिलोचन की काव्य-भाषा एक समर्थ भाषा है। काव्य भाषा की सारी विशिष्टताएं उसमें अन्तर्मुक्त है।

6.5 बिंब-विधान :-

"बिम्ब एक प्रकार से वस्तु या घटना की प्रतिकृति है। साहित्य में अवतरित होने पर उससे कवि कल्पना को सहयोग मिलता है। यों तो वह एक शब्द चित्र ही है, परन्तु प्रत्येक चित्र बिम्ब की अभिधा प्राप्त नहीं कर पाता है। अनुभूति सम्पृक्त गोचरत्व और सम्बेदना संवलित चित्र ही बिम्ब की अभिया ग्रहण करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि यदि अपनी अनुभूतियों को पाठक तक सही रूप में सम्प्रेषित करना चाहता है तो उसकी मूल आवश्यकता बिम्ब-पुष्ट भाषा ही होती है।"[59] "बिम्ब वास्तव में कवियों का मानसी रूपात्मक साक्षात्कार है। दूसरे शब्दों में यह चित्र भाषा की रचनात्मक और ऐन्द्रिक स्तर पर सजग परिणति है। इससे कथ्य में दीप्ति और प्रयोजन में कलात्मकता आती है।"[60] सी.डी.लेविस के मतानुसार, "काव्यात्मक बिम्ब, न्यूनाधिक मात्रा में वह संवेदनात्मक शब्द चित्र है जो कुछ अंशों में रूपात्मक होता है और अपने सन्दर्भ में मानवीय अनुभूतियों से सम्बन्धित होता है, परन्तु साथ ही पाठक में विशिष्ट काव्यात्मक भावना या आवेग को समाविष्ट करता है।"[61] हिंदी में सबसे पहले आचार्य शुक्ल ने यह कहा कि काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, निम्न अपेक्षित होता है। उनके अनुसार यह विवाद निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। वही होता है जहां कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण आकृति तथा उनके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। कविता में गोचरता अथवा

इन्द्रिय-बोध का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि यह इस भौतिक जगत से ही सम्बन्धित होती है; किसी अध्यात्मिक जगत से नहीं। शुक्ल जी के शब्दों में, "कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए। अगोचर बातों या भावनाओं को भी जहां तक हो सकता है कविता स्थल गोचर रूप में रखने का प्रयत्न करती है।"[62] एक आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर की जा सकती है। उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों से ही व्यक्त होती है। ये बिम्ब पर्याप्त तीव्र होकर सतह पर आ जाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी धीरे-धीरे समाज में होने लगती है तभी साहित्य में व्यंग्य-विधान की और साहित्यकारों की दृष्टि प्रभावित होती है। कविता में निर्गुण भक्ति आन्दोलन युग का साहित्य इसका प्रमाण रहा है।

त्रिलोचन ने कई प्रकार के बिम्बों का प्रयोग अपनी कविता में किया है लेकिन वे हमेशा बिम्बों और प्रतीकों के प्रयोग में स्वाभाविकता के पोषक रहे हैं। बिम्बों, प्रतीकों के प्रयोग के विषय में उनका मत इस प्रकार हैं, "कवि या रचनाकार जिस समाज में रहेगा उसका प्रभाव उस पर पड़ना ही चाहिए। समाज से अलग होकर कोई कविता नहीं की जा सकती। भाषा जीवन के बीच से कवि उठाएगा तो बिम्ब और प्रतीक भी अपने आप आते चले जायेंगे। धरती की सोंधी गन्ध उसके बिम्बों में मिलेगी। ग्राम्य जीवन हो या शहरी जीवन, प्रतीक और बिम्ब का उपयोग करते समय स्वाभाविकता बनी रहें।"[63]

अनेक प्रकार के बिम्ब इन्द्रिय-बोध के आधार पर हो सकते हैं जैसे - चाक्षुष, रंग, ध्वनि, स्पर्श, प्राण और आस्वाद बिम्ब आदि त्रिलोचन के काव्यान्तर्गत सभी तरह के बिम्ब देखने को मिल जाएंगे। लेकिन इसमें प्रमुखता दृश्य और श्रवण बिम्बों की रही है। त्रिलोचन के बिम्बों में धरती की सोंधी-गंध मिलती है और समकालीन यथार्थ भी उनके बिम्बों में देखने को मिलता है। कवि समाज में व्याप्त संघर्ष, गरीब-अमीर, शोषणवृत्ति के बीच की विषमता आदि को पहचानता है। वह जानता है कि समाज दो वर्गों शोषक और शोषित में बंट गया है। स्थिति बड़ी त्रासद होती जा रही है। कवि इस यथार्थ को अपने बिम्बों में बांधने में सफल हुआ है। जैसे -

"एकाधिकार के पंजे में
जीवन के सारे व्यापार
धीरे-धीरे अब

समाते चले जा रहे हैं।
जैसे जैसे लड़ाई का वेग, बल और दिन
बढ़ता चला जाता है
वैसे वैसे एकाधिकार भी धरातल पर
अधिकाधिक संख्या में लोग इधर आए दिन
सर्वहारा होते चले जा रहे है
और पूंजी खीच करके सब दुनिया की
मुट्ठी भर पूंजीपति पहले से अधिक मोटे
होते चले जा रहे हैं।"[64]

कवि ने बिम्ब समकालीन यथार्थ के उतारने के साथ-साथ राजनीतिक स्थितियों के बिम्ब भी बड़ी तत्परता से कविता में लाए हैं। एक बिम्ब इस सन्दर्भ में देखने योग्य है-

"चमत्कार है,
दायत होने पर दुर्घटना
नेताओं को ज्ञात हुई। फिर कार दौड़ी
दौड़ी इधर से उपर पहुंचती, यों ही खटना
पड़ता है अवसर पर
सभी सजाई चौड़ी सड़क दहल सी उठी।"[65]

राजनीतिक स्थिति का एक और बिम्ब लिया जा सकता है, जहां कवि ने लोकतन्त्र के स्वरूप को बड़ी मार्मिकता से रखा है। जैसे -

"अपनी कहता हूँ, मुझको तो बात दूसरों
की कहने का कानूनन अधिकार नहीं है,
लोकतन्त्र का युग है अब तो, इधर ऊसरों
पर सुखदायी शीतल धारासार नहीं है,
उधर राजलक्ष्मी नहीं ताकती विभव नहीं है,
जिधर।"[66]

त्रिलोचन की संवेदना सभी कुछ को समेटने का प्रयत्न करती है, जो यथार्थ को संवेदित कर सके। इस यथार्थ में आंतरिक यथार्थ भी है, जहां सहानुभूति, प्रकृति-बिम्ब, प्यार, घृणा, परिवार के बिम्ब तथा अन्तर मन को प्रेरित करने वाले ऐसे चित्र है जो हमारी अन्तश्चेतना को झकझोरते ही नहीं है, वरन् कभी-कभी उस राग व अनुभूति को व्याख्या से परे मात्र महसूर करने की दशा तक ले जाते हैं। प्रेम होने के बाद की स्थिति को कवि ने अत्यन्त पुष्ट बिम्ब द्वारा व्यक्त किया है-

"मैं तुम्हारा
बन गया तो
फिर न हारा
आंख तक कर
फिरी थक कर
डाल का फल
गिरा पककर
वर्ण द्दग को
स्पर्श कर को
स्वाद मुख को
हुआ प्यारा।"[67]

अन्य प्रगतिवादी कवियों की भांति बिम्ब-विधान के क्षेत्र में कवि त्रिलोचन ने विशेष सतर्कता रखी है। प्रारंभिक छायावादी प्रभाव को सूचित करनेवाले बिम्बों तथा चित्रों में भी कवि की कल्पना उतनी ही समर्थ रही है, जितनी प्रगतिवादी प्रभाववश खींचे गए बिम्बों तथा चित्रों में प्रगतिवादी प्रमाण के कारण उसकी कल्पना ने ग्राम्य पद्धति के कतिपय सुन्दर रेखा-चित्र प्रस्तुत किए हैं। ग्राम्य प्रकृति तथा 'दिगन्त' के प्रकृतिपरक सॉनेटों में प्रकृति अंतर्गत कवि ने मनोरम द्दश्य प्रस्तुत किये है। इस सन्दर्भ में एक बिंब देखा जा सकता है। जैसे -

"नीम में नवसूल आए
सुरभिमय वातास।
मधुरमंजरियां तरंगित

कर रही मधु मौन इंगित

भर रहा ऋतुराज में प्रतिश्वास में विश्वास

सुरभिमय वातास।"[68]

त्रिलोचन ने प्रगतिशील कवियों अंतर्गत अत्यन्त सहज, सादे तथा प्रभावशाली ढंग से बिम्ब रचना में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। किसी अप्रस्तुत विधान का बिना सहारा लिये उन्होंने बिम्ब-विधान के नए क्षितिजों का उद्घाटन कर, सफलता भी प्राप्त की है। कवि ने रंग-बिम्बों को भी अपने काव्य में स्थान दिया है। उनका रंग-बोध जितना गहरा है, उतना ही साफ भी। कवि को लाल, हरे रंग से विशेष अनुराग रहा है। लाल रंग के प्रति कवि का मोह रेखांकित करने लायक रहा है-

"सेमल अपने लाल लाल फूलों से

भूमि और आकाश का

अभिनन्दन करता है।"[69]

कवि ने पीले रंग को भी बड़ी कुशलता और ममत्व के साथ बिम्ब में बांधा है-

"पीले गुलाबों को देखा

तो याद किया तुम्हे।"[70]

त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत रंग, प्राण, घ्राण, चाक्षुष आदि बिम्बों के साथ स्पर्श बिम्बों को भी अपने उत्कृष्ट रूप में विराजमान देखा जा सकता है। जिसमें -

"आए तउ बाबा के हाथे

हुक्की रही पहलेह से

चिलम हमरे हाथ से

लेड़ लिहेन

नियाली नरिअरि में लगाइके

पुड़ पुड़ सुरकई लागेन।"[71]

त्रिलोचन के द्वारा प्रयुक्त एक मिश्रित बिम्ब रेखांकित करने योग्य है जहां आस्वाद्य, रंग, चाक्षुष, प्राण चारों बिम्ब जुड़कर एक बनकर उपस्थित हुए हैं-

"नीम के फूलों की

हरी-हरी सुगन्ध पिये
रात
मौन रहती है
बांसुरी की तान सुना करती है
तारे चुपचाप देखा करते हैं
पृथ्वी को
राहें उदास देखती हैं
आकाश को।"[72]

कवि के काव्यान्तर्गत ध्वनि-बिम्बों का अपना महत्व है। ये बिम्ब अपनी ध्वनि से वातावरण को साकार करके रख देते हैं। इस सन्दर्भ में उदाहरण है-

"भरी रात भादों की...पथ... लपका वह कौंधा
दीप्ति भर उठी आंखों में इतनी, फिर हम तुम
कुछ भी पकड़ सके न डीठ से, छाया चौंधा।"[73]

उपरोक्त बिम्ब को देखकर यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि त्रिलोचन ध्वनि बिम्बों के सजग-शिल्पी हैं तथा उनका ध्वनि-बोध बड़ा ही प्रभावशाली रहा है।

कवि के बिम्बों में असमान्यता नहीं है। अधिकतर वे परम्परा से लिए गए हैं लेकिन कल्पना के सहारे त्रिलोचन ने उनमें नयी भगिमा भर दी है। आज के अनेक प्रयोगवादी कवि ऐसे असाध्य बिम्बों की ओर झुके दिख पड़ते हैं जिनमें जीवन की लघुता, उसका खण्ड-खण्ड होना, उसकी अराजकता का आभास मिले। जीवन की छोटी से छोटी स्थिति को भी नाटकीय आकस्मिकता से स्वप्न लोक का विस्तार और भव्यता देने की जो शैली हम निराला में पाते हैं उसे हम त्रिलोचन के सॉनेटों में भी देख सकते हैं। त्रिलोचन के बिम्बों में उनका प्रकृति-प्रेम भरा हुआ है। इस परिप्रेक्ष्य में प्राकृतिक बिम्ब का एक उदाहरण दृष्टव्य है -

"काली है
खुट्टियां जमी हुई हैं
ऊपर तने में

छाल जड़ों के समीप
जहां शाखाएं निकलती हैं
कांटे लसे हुए हैं
वर्ग वही शुभ्र हैं
और आगे
डाले हैं
एक पर एक निकली हैं
इस और उस और
क्या बुलाने वाली बाहें
फैली हुई हैं।"[74]

बिम्बों का महत्त्वपूर्ण स्थान त्रिलोचन के काव्य में है। यह बिंब कवि की अनुभूति को चित्रित करके उसे सहज ग्राहय बना देते हैं। कवि ने विभिन्न प्रकार के बिम्बों की रचना करके अपनी कविताओं को बृहद आयाम प्रदान किया है। उनके द्वारा निर्मित बिम्बों में विभिन्न प्रकार की स्थिति परिस्थितियों के चित्र देखने को मिलते है। बिम्बों के अंकन में त्रिलोचन ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। वे बिम्बों की झालरें नहीं बांधते। बिम्ब उनके यहां बहुत कम है और जहां है वहां वे अलग से उसे बतलाने का प्रयत्न नहीं करते। उस बिंब को केवल अपनी पारखी दृष्टि से जानना-पहचानना होता है।

6.6 प्रतीक-विधान :-

घर-गृहस्थी, लेन-देन, दैनिक परिचर्या, का काम सामान्य भाषा से चल जाता है परन्तु जहां हृदय अंतर्गत अव्यक्त, सूक्ष्म अनुभूतियों, जीवन के विविध सौन्दर्य एवं गूढ़ रहस्यों को दूसरों तक पहुंचाने का है वहां पर प्रतीकों की भाषा का सहारा लेना पड़ता है। सर्जन के हृदय में अव्यक्त अनुभूतियां तथा संवेदनाएं मौजूद होती है। अनेक प्रकार के गूढ़ विचार उमड़ते-घूमते रहते हैं। " 'प्रतीक' शब्द की व्युत्पत्ति (प्रति+इण [गती]) प्रति पूर्व गमनार्थक 'इण' धातु से मानी जाती है। (प्रति+इण+क्वण+स्वार्थेन) प्रति इण गतौ) में इण शेष रह जाएगा। स्विप प्रत्यय और दीर्यीकरण यह

प्रतीक बन जाता है फिर स्वार्थे 'रूप' प्रत्यय के योग से 'प्रतीक' शब्द सिद्ध होता है। इसके आधार पर 'प्रतीक' का अर्थ हुआ, वह वस्तु जो अपनी मूल वस्तु में पहुंच सके अथवा वह मुख्य चिन्ह जो मूल का परिचायक हो।"[75] "प्रतीक काव्यभाषा का महत्वपूर्ण उपादान है। प्रतीक अब अलंकार मात्र न रहकर स्वतन्त्र रूप से शिल्प तत्व कहलाने लगा है। प्रतीकों का प्रयोग प्रस्तुत को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है।"[76] त्रिलोचन शास्त्री की कविताओं के सम्बन्ध में प्रतीकों विषय में केदार नाथ सिंह का विचार है, " त्रिलोचन के शिल्पगत एक विशेषता यह है कि वे किसी भी वस्तु का प्रतीकवत् प्रयोग नहीं करते। अपने काव्यान्तर्गत वे अपनी सारी काव्यात्मक जिम्मेदारी के साथ उसे 'वस्तु' ही बने रहने देते है।"[77]

त्रिलोचन के काव्यान्तर्गत प्रतीकों का प्रयोग यत्र-तत्र देखने को मिल ही जाता है। त्रिलोचन के प्रतीक उनके अनुभवों के शाब्दिक प्रतिरूप है। प्रतीकों को कवि ने अपने आस-पास फैले परिवेश से ग्रहण किया है। त्रिलोचन ऐसे कवि हैं जिनका ध्यान अपने ग्राम्य समाज, प्रकृति पर रहा तथा इसके साथ ही राजनीति पर वे दृष्टि रखते हैं। दैनिक जीवन की घटनाएं, स्थितियां और मानव के आपसी सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के लिए त्रिलोचन ने प्रतीकों का प्रयोग किया है। इसलिए उनके प्रतीक या तो प्रकृति से सम्बन्धित है या दैनिक जीवन से या फिर सांस्कृतिक परिवेश से अपने काव्यान्तर्गत कवि ने उन प्रतीकों को अपनाया है जो स्वार्थपरता, शोषण, दुराचार, भ्रष्टता, गरीबी, अज्ञानता, खोखलेपन, खीज, आकोश आदि के स्वर को ध्वनित करते हैं। कुछ प्रतीक ऐसे भी हैं जो सांस्कृतिक विघटन, मूल्यों के विघटन के अर्थ को रेखांकित करते हैं। वास्तव में उनके प्रतीक चाहे जो भी अर्थ देते हो परन्तु वे लोक जीवन से ही आए हैं। जैसे -

"गया पढ़ा था, जान न थी। मालिक उदास था।
लोग देखते मुझसे बोला, बड़ा भला था
बेचारा! इसका दम रहते काम चला था
अपनी अच्छी तरह लगा, गम उसे खास था।
समझाने के लिए कहा मैंने,
ले लेना कोई और जानता था मैं भी। पैसे है,
नया ले सकेगा।"[78]

उपरोक्त पंक्तियों में 'गधा' उस आदमी का प्रतीक है जो मालिक की नौकरी करता हुआ, मेहनत-मजदूरी करता हुआ अपनी जान दे देता है और जीवन में कभी सम्पन्न नहीं बन पाता। उसकी वफादारी के कारण ही ऐसा होता है। वह अपना शोषण जीवनभर करवाता रहता है क्योंकि अभावों भरी उसकी जिन्दगी उसे विवश कर देती है। इसके साथ ही मालिक एक पूंजीपति के अर्थ को प्रतीकित करता है, जिसके पास इतना पैसा है लेकिन एक नौकर के न रहने पर वह दूसरा नौकर शीघ्र ही प्राप्त कर सकता है। सूक्ष्म अर्थ- छवियों को प्रतीकों और बिम्बों में ढालने के लिए कवि कुछ अपने निजी प्रतीक चुनता है। सांप, कुत्ता, मेंढक, गधा, गाय आदि ऐसे ही प्रतीक है। प्रतीक कविता में उस विकास को सूचित करते हैं जिनसे भावों का सम्पूर्ण जीवित संसार व्यक्त होता है। त्रिलोचन की एक कविता 'यही लोकतन्त्र है' इसमें 'दिक्फू' भ्रष्ट व्यापारियों का तथा कछुए, सांप और मेंढ़क तथा भोले-भाले ग्राम्य किसानों का प्रतीकत्व लिए हुए हैं। जैसे-

"जंगल में जिन्हें बसना पड़ा है
देखा है मैंने उन्हें
उनके किए धरे का लाभ तो
दिक्कू ही उठाते है
कछुए, सांप, मैड़क उनके आहार हैं
उनको शराब देकर बदले में
दिक्कू बनिया साग-भाजी, फल, फूल, मधु
मनमाने मोल पर लेता है।
आज भी ये मकान और दुकान की
पहेलियां समझ नहीं पाते।
लुटेरे इन्हें लूटते हैं
नेता भी बातों से इनको बहलाते हैं।
यही लोकतन्त्र है।"[79]

दुकानदारों की स्थिति जिसमें हेराफेरी, बेइमानी करने पर भी ईमानदारी का ढोंग रचने वाले को कवि ने 'धरम की कमाई' कविता में अभिव्यक्त किया है। इस कविता में 'बनिया' ऐसे ही भ्रष्ट व्यापारियों के अर्थ को प्रतीकित करता है-

"सौर और गोंड स्त्रियां चिरौंजी बनिए की दुकान
पर ले जाती है। बनिया तराजू के एक पत्ते पर नमक
और दूसरे पर चिरौंजी बराबर तोल कर दिखा देता है
और कहता है, हम तो ईमान की कमाई खाते है।"[80]

लेखन ने कविता में सर्वाधिक प्रतीक गरीबी, निर्धनता के प्रयुक्त हुए हैं। त्रिलोचन ने स्वयं इस तरह की जिन्दगी को जिया है और उसकी चिन्तनशीलता तथा मानसिकता भी गरीबों के प्रतीक बनी है। कवि ने पात्रों को भी प्रतीकवत कविता में रखा है। 'फेरू' कविता में फेरू एक ऐसे आम आदमी का प्रतीक है जो अभावों में जीता है और फिर भी मौज-मस्ती से, चिन्ताओं से मुक्त रहकर जीना चाहता है। जीवन के संघर्ष में यह बिल्कुल असमर्थता महसूस करता है तथा उदास रहना उसका भाग्य बन गया है-

"फेरू अमरेथू रहता है
वह कहार है
मन का मौजी
और निरंकुश
राग-रंग में ही रहता है... वह कलकत्ते
चला गया था
जब से लौटा है
उदास ही अब रहता है।"[81]

कवि की प्रतीक योजना हमें यह बतलाती हैं कि उन्होंने प्रतीक आम आदमी के लिए लिखे हैं। इसलिए मामूली-आदमी के प्रतीक इनके यहां अनायास ही चले आते हैं। आम आदमी की तमाम स्थितियों को इन्होंने प्रतीकित किया है। आम आदमी की स्थिति को प्रतीकित करने वाले 'नीम के पेड़' का प्रतीकत्व देखने योग्य है-

"पत्तियां झरती है
नीम का पेड़ चुपचाप खड़ा है
अभी और भी तो है।"[82]

उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से क त्रिलोचन ने 'नीम का पेड़' अभावों, विपदाओं से लड़ने वाले आम आदमी की स्थिति का परिचायक प्रतिपादित किया है। साधारण आदमी निर्धनता, अभावों में पिसता रहता है और संकटों से त्रस्त होता है। वह दारिद्रय के कारण कुछ न कर पाने के लिए विवश होता है। इसलिए वह लाचार होकर चुपचाप सबकुछ झेलता जाता है क्योंकि उसका जन्म ही विपदाओं को झेलने के लिए हुआ है। कितनी आत्मीयता एवं सौहार्द से कवि ने इस स्थिति को प्रतीकित किया है। वास्तव में त्रिलोचन आम आदमी की स्थितियों, त्रासदियों के कवि है। त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत ऐसे प्रतीक भी आए हैं जो क्रांति के अर्थ को व्यंजित करते हैं। 'तरुण' एक ऐसा ही प्रतीक है-

"तरुण
तुम्हारी शक्ति अतुल है
वैयक्तिक भी कार्य तुम्हारा
सामूहिक है
और
जहां हो
वहीं तुम्हारी जीवनधारा
जड़ चेतन को
आप्यायित आप्लावित करती है।"[83]

त्रिलोचन ने 'गधे' और 'सिंह' के प्रतीकों द्वारा क्रमशः एक भोलेभाले आदमी और एक बर्बर, खूंखार दरिन्दे का चित्र वर्णित किया है-

"बन्धु प्रशंसा की है मैंने सदा गधे की
कितना सहनशील होता है...
सिंह जंगली होता
का चित्र है, उससे डरता है

सारा जग... ।"[84]

'छुट्टा-बन्धुआ' त्रिलोचन की कविता में 'छुट्टा सांड' और 'बर्द बन्धुआ' यह अपने में एक विशिष्ट प्रतीकार्य को समेटे हुए हैं-

"छुट्टा सांड़ बर्द बंधुआ दोनों चैती के
करने पर सीवान में मिले हुई रमरमी।
कहा सांड़ ने, 'कैसे हाल चाल है जी के
इधर तुम्हारे।' कहा बर्द ने, 'नहीं है कमी
किसी चीज़ की खाने पीने का अच्छा-सा
डील हो गया है। ये दिन है सुस्ताने के।"[85]

उपरोक्त पंक्तियों में 'छुट्टा साँड़' यह उस आदमी का प्रतीक है, जो घर-गृहस्थी की भाग-दौड़ से दूर रहना चाहता है तथा जिन्दगी विपदाओं से संघर्ष न कर उनसे दूर भागता फिरता है। इसके साथ ही 'बर्द बन्धुआ' अर्थात बन्या बैल उस आदमी का प्रतीक बनकर प्रस्तुत हुआ है, जो गृहस्थी में पड़ा हुआ है और संघर्ष करके भी जीवन की त्रासदियों से उभर नहीं पाता। इस प्रकार कवि यह मानता है कि एक आम आदमी चाहे वह जिन्दगी की क्रियाओं में प्रवृत रहें या निवृत होकर जीना चाहे, उसे कहीं भी राहत नहीं मिलती। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में वह हार जाता है। इस स्थिति को त्रिलोचन ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रतीकित किया है। कवि की कविता में बच्चे भविष्य के प्रतीक बनकर आते हैं।

ऐसे भी कुछेक प्रतीक हैं जो त्रिलोचन की सांस्कृतिक चेतना को उजागर करते हैं यह वे प्रतीक हैं जो विघटित, विकृत मूल्यों के कारण के धनी त्रिलोचन के मानस से आए हैं। ऐसे प्रतीकों में कवि के मूल्यों और सांस्कृतिक समज़ की झांकी स्पष्ट झलकती है।

"परसों चाट लिया था
मिस डिंगेर का लिपस्टिका क्या ही ठाट लिया था,
सब रौनक उड़ गई, पड़ गया मुंह पर ताला,
आंखें भर आई, तुरन्त रूमाल निकाला।"[87]

उपरोक्त पंक्तियों में 'मिस डिगेर' यह उन आधुनिक युवतियों के अर्थ को प्रतीति करती है या सभ्यता के प्रभाव के कारण शरीर की सजावट की ओर अत्यधिक ध्यान देती है। इसके अतिरिक्त

कवि ने कई अन्य प्रतीक भी अपने काव्यान्तर्गत रखे हैं। ऐसे ही प्रतीकों में 'भौंरा' और 'कली' विशेष महत्व रखते है, जो प्रेमी और प्रेमिका का अर्थ अपने अंदर में समेटे हुए हैं।

'रामचन्द्र दूबे' यह त्रिलोचन की एक प्रसिद्ध कविता है। यह कविता उनके संकलन 'तुम्हें सौंपता हूँ में संकलित है। इस कविता में कवि ने 'रामचन्द्र दूबे' के चरित्र द्वारा एक महाजन, जो लोगों को पैसा उधार देता है और उसकी प्राप्ति कैसे न कैसे कर लेने में माहिर है, इसका चित्र उजागर किया है। इस प्रकार 'रामचन्द्र दुबे एक सूदखोर महाजन के चरित्र को संकेतित करता है। जैसे -

"रामचन्द्र दुबे पैंसठ से कुछ ऊपर ही
गोरा रंग, सफेदी सिर पर मुंह पर
किसी बड़े को बढ़ा ऋण दिया, ब्याज न आया,
फेरे करते रहे, पाँव उनके खिया गए।
प्राप्ति नहीं दिखी तो ब्राह्मण भाव आ गए,
न्याय देवता करे इसलिए बाल रखाया।
पांच साल पर ऋणी गया, कर दी भरपाई,
दूबे ने भी देव दया से जटा कटाई।"[88]

छायावादी शैली में कहीं-कहीं त्रिलोचन ने उचित के प्रतीकों को भी अपनी काव्यान्तर्गत शामिल किया है। यहां पर कवि के प्रतीक स्वाभाविकता का अतिक्रमण करते हुए से दिखाई पड़ते हैं। जैसे -

"इन आंखों की ज्योति
और इन केशों की छांह
पथ पर हो
और
कुछ और नहीं चाहिए।"[89]

कवि न यहां पर 'आंखों' की ज्योति' में मार्गदर्शन और 'कैशों की छांड में आत्मीयता का प्रतीकार्य निहित है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि के प्रतीक अर्थ सम्मत है, ये कवि के भावों को पूर्णतः व्यक्त करते हुए भाषिक शक्तियों को समृद्ध करते हैं। पथिक, पवन, बादल, संध्या और प्रकृति

के ऐसे ही अनेक गतिशील या सांकेतिक रूप, मनुष्य की रूढ़ियां और कुसंस्कार से जुड़े हुए हैं, जिसका त्रिलोचन ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का चुनाव किया हैं, जो शेष प्रगतिवादियों से भिन्न नहीं है। त्रिलोचन अपनी आरम्भिक रचनाओं में अपने विषयों का निर्वाह भी अन्य प्रगतिवादियों से बहुत भिन्न ढंग से नहीं करते, किंतु अपनी बाद की रचनाओं में वे इस सीमा को तोड़ते और विस्तार देते चलते हैं।' कविता को प्रतीक के अलावा संज्ञा में और वस्तु में रहना उनकी विशेषता है।

6.7 छंद-विधान :-

"पहली व्युत्पत्ति यदि छन्द की स्थिति की सूचिका है तो दूसरी उसके लक्ष्य, उसकी उपलब्धि की संकेतिका।"[90] "छंद की व्युत्पति दो धातुओं से बताई जाती है छदि सवरणे' तथा 'चदि आह्लादने दीप्तीच' अर्थात् पहली उत्पत्ति को 'यास्क' का भी समर्थन प्राप्त है। मंत्रः मननात् छंदासि छादनात् - मनन से मन्त्र और छादन या अच्छादन से छन्द बनता है। इसका अभिप्राय यह है कि छन्द यह रचना विधान है जो अपने द्वारा कथ्य को संप्रेष्य से आच्छादित किए हुए हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार छन्द वह है जो रचना को हर्ष और दीप्ति प्रदान करता है।"[91] यह दोनों अर्थ उपयोगी तथा परस्पर पूरक है। इसके अनुसार सफल छंद वही है जो अपने आच्छादन के द्वारा कविता को हर्ष और दीप्ति प्रदान करने में समर्थ हो। इस प्रकार छंद काव्य-शिल्प का एक नितांत अनिवार्य अंग है। कविता न केवल आधुनिक से आधुनिक विषयों और विचारों को अपना क्षेत्र मानती है। इसमें मनुष्य के जीवन के विश्वासों, जादू-टोनों और मिथकों से होकर आयी धारणाओं, किंवदन्तियों और रूढ़ियों को भी अपना क्षेत्र मानती है। भाषा के साठ प्रतिशत से ऊपर शब्द अपने आप में रूपक है। यदि यह मान लिया जाए कि बिम्ब-विधान मूर्त कलाओं के क्षेत्र में आते हैं तो कितने कवि इनका बहिष्कार कर सकेंगे। इसतरह तुकों के रूप में प्रयुक्त शब्द, अनुरणमूलक ध्वनियां, शब्द, शब्दों के स्वराघात, प्रयत्न लाघव और प्रयत्न विस्तार, बोलचाल से लेकर लिखित वाक्यों तक की लय, ये सभी भाषा के क्षेत्र में आते हैं और उनका बहिष्कार करके स्वयं भाषा ही जीवित नहीं रह सकती, कविता तो इसके पश्चात का घटक है। वास्तविकता तो यह है कि छन्दोबद्ध या मुक्त छंद की संपूर्णता ही कविता के लिए असंगत है। "एक स्वस्थ कवि छन्दों को अपनी सीमा के बाहर उसीतरह नहीं मान सकता जैसे

मुक्त छन्द को यह बहुत कुछ उसकी शक्ति और कथ्य पर निर्भर करता है कि वह किस काव्य के लिए किस तरह का छन्द अपनाए, जिस तरह यह कि वह इसके लिए कैसी भाषा का सहारा लें।"[92]

त्रिलोचन ने मुख्यतः सानेट तथा मतुक्तिबोध ने अपनी लम्बी कविताओं के लिए नया फार्म विकसित किया। प्रगतिशील कवियों ने अतुकान्त, तुकान्त, मुक्त छन्द, पारम्परिक छन्द और लोकगीतों की लय और तर्ज का जो सहारा लिया है उसमें भावाभिव्यक्ति के प्रकारों की ही खोज है। "जातीय संगीत और भाववृत्ति के आधार पर निर्मित की लयादर्श की आवृति को छन्द के रूप में परिभाषित किया जाता है। यदि वाक्य भाषा की इकाई है तो छन्द उस इकाई की भगिमा होती है। छन्द काव्य के भावों को लहरों की गति के समान ऊँचा-नीचा तथा संकुचित व विस्तारित करता है।"[93]

रोला छन्द को संगीत में डालकर त्रिलोचन ने एक अलग ढाँचा तैयार किया है। तुलसी की तरह त्रिलोचन की विद्वता भी रचनाओं में सहज रूप में दिखाई देती है। विविध छन्दों के मेल से नए छन्दों को जन्म देना परम्परा को आगे बढ़ाना यही कार्य त्रिलोचन ने किया है। "त्रिलोचन की छन्दगान ही परम्परा है। तुलसी और निराला की परम्परा को इन्होंने आगे बढ़ाया है।"[94] उन्होंने गीत, गजल, सानेट और मुक्त छन्द सभी का बहुत बेदाग ढंग से प्रयोग किया है। गीति के क्षेत्र में उनके प्रयोग 'धरती' में देखे जा सकते हैं जिन्हें पढ़ने के बाद केदारनाथ अग्रवाल की गीति रचनाओं का ध्यान आए बिना नहीं रहता। उस समय जब गीतकार कवि हास्यास्पद ढंग से लम्बी पंक्तियों में जिन्हें पूरे आलाप के साथ कवि सम्मेलनों में गाया जा सके, कविताएं लिख रहे थे, ये दो कवि गीति विधा में अनूठे प्रयोग कर रहे थे। त्रिलोचन में बिल्कुल वही खोज है जो केदारनाथ अग्रवाल में छंदों में दिखाई देती है।

जैसे -

"जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में
कि
फूल में
मिला है
तो
मिला है यह

मोल तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता
आज मैं अकेला हूं
अकेले रहा नहीं जाता।"[95]

इसी तरह का एक दूसरा प्रयोग इसी संग्रह में दिखाई देता है। जैसे-

"बरस रहे रस बरस रहे रस
गरज गरज धन ये
धरामयी धरा हो आयी
रंग-रंग की ले सुधराई
आयी सुन्दरता अब आयी
नवल बने सब
नवल बने सब
वन-उपवन
जन ये।"[96]

उपरोक्त दोनों काव्यों में सिर्फ छन्दों के नए प्रयोग ही नहीं है बल्कि इनकी सृष्टि कवि ने बड़ी खूबसूरती से की है। जहां पहले अंश में छोटी जमीन उदासी और मन की विकलता को कुछ भी कहने के प्रति अनमनेपन को व्यक्त करती है वहां दूसरी कविता में निचले क्रम से पंक्तियों का छोटा होता जाना, पहली पंक्ति में 'बरस रहे रस' और आगे चलकर 'नवल बने सब' की आवृत्ति तथा अन्तिम पंक्ति में 'ये' का लाघव मात्र छन्द के अनुशासन से ही ऊपर आकाश में घिरे हुए बादलों का और उनसे टपकती बूंदों का एक चित्र उभारने में सहायक होता है। कहीं-कहीं अपने गीतों में पारंपारिक छन्दों को उन्होंने ज्यों का त्यों भी अपनाया है। उदाहरण के लिए 'ताप के ताये हुए दिन' शीर्षक गीत एक सवैया है। 'मौन भी कैसे रहूं' और 'रात में' दोनों गीत सवैये से हैं।

त्रिलोचन पुराने छन्दों को उपरोक्त तरह से नए ढंग में विकसित करते हैं। श्री ओमप्रकाश शर्मा के शब्दों में- "नये कवियों को त्रिलोचन से यह हुनर सीखना है कि वे कैसे पुराने छन्दों की ऐसे सेटिंग करते हैं कि पुराने छन्द आधुनिक खड़ी बोली के श्रेष्ठ नवगीत में ढल जाते हैं।"[97] त्रिलोचन ने

गीतों की रचना मुक्त छन्द में भी की है। कवि ने वर्णों की संख्या की अपेक्षा स्वरों में उतार-चढ़ाव को विशेष महत्व दिया हैं-

"एक मधु मुस्कान से लिख दो
जगत की यह कहानी
यह नया पतझर, रहे झर
वे पुराने भाव के स्वर
मिट रहे वे चित्र घन के
रवि गया जिन को विरचकर
रात में जो स्वपन देखा
पुष्ट जिसकी भाव रेखा।"[98]

सॉनेट की लय गीत हो या कविताएं या कहीं भी देखी जा सकती है। "त्रिलोचन तो अखबारों की सुर्खियों तक में छंद और लय का संधान कर लेते हैं।"[99] छन्दों के क्षेत्र में चमत्कारपूर्ण प्रयोग न करते त्रिलोचन ने उनके विविध उदाहरण प्रस्तुत कर, भावों की गति के अनुसार कविताओं को छोटी-बड़ी पंक्तियों में विभक्त कर आकर्षक तथा प्रवाह बनाने का प्रयत्न किया है।

त्रिलोचन ने जानबूझ कर उसमें भावों की इकाइयों की जगह यतियों की विविधता का सौन्दर्य निर्माण किया है। "रोला छन्द हिन्दी का अत्यन्त गेय छन्द रहा है लेकिन इस तरह ये तुकों के बन्धन में रहकर भी अंग्रेजी के अतुकान्त काव्य के संगीत अनुच्छेद (Verse-Paragraph) की श्रृष्टि कर सके हैं।"[100] 'भाषा की लहरे' इस सानेट शीर्षक में इस सौन्दर्य को देखा जा सकता है-

"भाषाओं के अगम समुद्रों का अवगाहन
मैंने किया। मुझे मानव जीवन की माया
सदा मुग्ध करती है, अहोरात्र आवाहन
सुन-सुन कर धाया-धूपा, मन में भर लाया
ध्यान एक से एक अनोखे, सब कुछ पाया।"[101]

परम्परा प्राप्त छंदों का त्रिलोचन ने काफी उपयोग किया है। लेकिन उनके पारम्परिक प्रवाह को नए बोध से अनुकूलित करके उनके रूप में परिवर्तन किया है। 'दिन ये फूल के है', 'ओ सनेही',

'सरसों के फूल' आदि गीत राग की धुन में लिखे गए हैं। कई जगह लय से काम लिया गया है। कहीं-कहीं बिल्कुल नए छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। त्रिलोचन स्थिर, गम्भीर गद्यात्मक लय से लेकर एकदम चंचल लय तक का प्रयोग करने में सिद्धहस्त रहे है। 'दिन ये फूल के है' कविता से देखा जा सकता है जिसमें राग की लय विद्यमान है-

"मत जाना चले कहीं भूल के
दिन ये फूल के हैं।
किए मन के सिंगार
सामने कचनार
आम के बौर कहते हैं
देखो बहार
हाल ऐसे ही कुछ
अब बबूल के हैं।"[102]

कवि द्वारा तीन पंक्तियों वाले 'अरघान' संग्रह में 'हाइकू' को अभिव्यक्ति का आधार बनाया गया है। इसमें पच्चीस सानेट हैं और लोकधुनों पर अनेक कवितायें हैं। 'हाइकू' तीन पंक्तियों वाला का एक उदाहरण देखा जा सकता है-

"प्रतीक्षा की
नागिन ने मुझ को
लपेट लिया।"[103]

हिन्दी कवियों ने छायावादियों से लेकर आज तक अनेक सॉनेट और रोला छंद को लेकर प्रयोग किया है लेकिन यह कहना शायद अनुचित नहीं कि त्रिलोचन ने हिन्दी में उनकी शक्ति का उजागर कर, अन्य कवियों से कहीं ज्यादा उन्हें हिन्दी कविता में स्थापित कर दिया है। पहले पन्तजी ने आधुनिक हिन्दी कविता में रोला की सम्भावनाओं की ओर संकेत किया था। केदारनाथ सिंह को इन सानेटो के लचीलेपन ने आकर्षित किया है। उसके पहले भी रोला हिन्दी का लोकप्रिय छन्द था लेकिन त्रिलोचन ने उसमें लय की विविधता की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी कवियों का ध्यान नए सिरे से उसकी ओर खींचा है। अपने सॉनेटों में अधिकतर रोला छंदों का ही उन्होंने प्रयोग किया है। सॉनेट

में त्रिलोचन के छन्द प्रयोग को शमशेर बहादुर सिंह ने अपनी कविता 'सारनाथ की एक शाम' में इस प्रकार से वर्णित किया है-

"तूने शताब्दियों
सीनेट से मुक्त छन्द बनकर
संस्कृत वृतों में उन्हें
बांधा सहज ही लगभग
जैसे ये आकाश बंधे हुए है अपने
सरगम के अट्टहास में।"[104]

उपरोक्त छन्द के अन्तर्गत शमशेर बहादुर सिंह मात्रा, वर्ग, पद, तुक, यति को रखते हुए दिखाई देते हैं। कविता में छन्दों का प्रयोग प्राचीनकाल से लेकर आज तक गेयत्व की दृष्टि से होता रहा है। त्रिलोचन ने वार्णिक छन्दों की अपेक्षा मात्रिक छन्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में कर, रोला, चौपाई, छन्दों का प्रयोग भी बड़ी कुशलता से किया है। मात्राओं के छन्दों के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। "इसमें 16 मात्राओं के छन्दों को 'समात्रिक छन्द' कहते हैं। इनमें चार चरण होते हैं तथा प्रत्येक चरण में 16 मात्राएं होती हैं। यह देखने में चौपाई की तरह मालूम पड़ता है।"[105] इसी प्रकार 16 मात्राओं का एक और छन्द भी देखा जा सकता है -

"ताप प्रहार सभी कुछ सकते
बढ़ते हैं जो बढ़ने वाले
अपने क्षेत्र बनाते चलते
है अपनी धुन के मतवाले।"[106]

24 मात्राओं वाले छन्द त्रिलोचन के काव्यान्तर्गत सर्वाधिक मात्रा में दिखायी देते हैं। इसमें अन्त्यक्रम को स्वतन्त्र रूप से नियोजित किया गया है। इसे 'रोला छन्द' कहते हैं-

"मुझसे कहा चाँद ने, कैसे आज अकेले
घूम रहे हो। साथ तुम्हारा छूट गया क्या
पिछले दिन का प्रण अनजाने टूट गया क्या
तुम दोनों तो साथ-साथ जीवन में खेले-कूदे बढ़े।

इन दिनों क्या तुमने भी कितने पापड़ बेले।"[107]

इस छन्द के प्रति चरण में 24 मात्राएँ हैं। मात्रा और चरण-विस्तार में नवीनता की झलक मिलती है। प्राचीन हिन्दी एवं आंचलिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि ने तुकों को अच्छी तरह से मिलाया है।

त्रिलोचन का कविता संग्रह 'अमोला' में उन्होंने बरवै छन्द को अपनाया है। इस छन्द के विषय में स्वयं कवि की स्वीकारोक्ति इस प्रकार है- " 'अमोला' का छन्द बरवै 19 मात्राओं का है, 12 और 7 मात्राओं के मध्य यति होती है। 'यति' को कुछ लोग अनिवार्य मानते हैं। पहले के भी कवि ऐसे बहुत से हैं जिनमें यति के इस नियम का पालन नहीं मिलता। मेरे यहाँ भी यह यति न मिलने पर कुछ लोगों को बुरा लग सकता है। मैंने कविता के बनाव का ही ध्यान रखा है। छन्द आदि कविता के परिधान है।"[108] त्रिलोचन के इस बरवै छन्द का उदाहरण देखा जा सकता है-

"तार तार जीअनि सबकई अरूझानि
जै अलगानेन ने पइहँइ हित हानि।"[109]

उपरोक्त छन्द के दोनों चरणों में 16-16 मात्राएँ हैं लेकिन जैसा कवि ने स्वीकार किया है, 12 और 7 मात्राओं के मध्य यहाँ पर यति का ध्यान नहीं रखा गया है। त्रिलोचन ने परम्परागत छन्दों को अपनाकर और इनमें नए प्रयोग भी करके कविता में स्थान दिया है। इसके साथ ही मुक्त छन्द को भी उन्होंने अपनाया है। मुक्त छन्द भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा पड़ने पर स्वयं ही प्रस्फुटित हो जाता है और वास्तव में यही उसका मुख्य धर्म भी है। छन्द में बन्धन और मुक्ति दोनों रहते हैं। इसका संतुलन बिगड़ने पर छन्द या तो ध्वनि को यान्त्रिक आवृति बन जाता है या अत्यधिक मुक्ति से अव्यवस्थित शब्द-जंजाल हो जाता है। छन्द का अर्थ हो है भाषा को गत-लय के बन्धनों से नियन्त्रित करना, इसलिए कैसा भी आदर्श छन्द हो, यह बन्धनमुक्त नहीं हो सकता। मुक्त छंद मुक्त और छन्द परस्पर-विरोधी अर्थों के परिचायक है। त्रिलोचन छायावादी कवि निराला की परम्परा में मुक्त छन्द की रचना दिखायी देती हैं। उनके छन्द-मुक्त काव्यान्तर्गत मुक्त छन्द पूर्णतः मुक्त नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण उसका कवित है जिसमें अलग-अलग लय एवं रूप है। "त्रिलोचन की अधिकांश कविताएं बातचीत की लय पर रचित है, जो मात्रिक छन्द में नहीं बन्ध सकी। अतः मात्रिक

छन्द का अनुशासन कवि ने भंग करके मुक्त छन्द में रचना की है।"[110] त्रिलोचन की लम्बी काव्यान्तर्गत मुक्त छन्द की उपस्थिति स्पष्टता देखी जा सकती है।

त्रिलोचन ने अनेक तरह की कविताएं लिखी है। गीत, सॉनेट, बरवै और मुक्त छन्द की कविताएं लिखी हैं। भाषा और छन्द पर त्रिलोचन का असाधारण अधिकार है और सॉनेट जैसा मितव्ययी माध्यम उनके लिए विशष हो गया है। कवि ने छन्दों का बड़ा विलक्षण प्रयोग किया है। उनके काव्य में मुक्त छंद, सॉनेट, गीत तथा गद्य-काव्य के जो काव्य रूप प्राप्त होते हैं, उनमें लय और यति का विशेष ध्यान रखा गया है क्योंकि छंद चाहे जो भी हो लय उसका केन्द्रीय तत्व है। त्रिलोचन में यह लय भंग कहीं-कहीं तो प्राप्त होती है पर सामान्यतः प्रत्येक छन्द में इसका निर्वाह पूर्णरूपेण तथा यथोचित हुआ है।

6.8 लोकाक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग :-

भाषा की श्री-वृद्धि एवं शक्ति-वृद्धि हेतु उसमें विभिन्न् प्रकार के प्रयोग किये जाते है। मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों, कोष्ठकों आदि के प्रयोग के द्वारा भाषा को सशक्त बनाया जाता है। एक सफल साहित्यकार उन विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से अपने भावों का प्रकाशन अत्यंत रोचक ढंग से करता है। इससे भावों का स्पष्टीकरण तो होता ही है साथ ही साथ भाषा में चटपटापन भी आ जाता है। कभी-कभी इनके प्रयोगों द्वारा गूढ़ एवं चमत्कारिक भावों की अभिव्यंजना भी संभव होती है।

कवि अपने काव्य को अर्थ सार्थक बनाने के लिए भाषा में विभिन्न प्रकार के प्रयोग करते हैं। लोक जीवन से जुड़े कवियों के लिए लोक में प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का विशेष महत्त्व होता है। ग्राम्य जीवन से जुड़े कवि अपनी कविता की भाषा को लोकोक्तियों और मुहावरों के माध्यम से रोचक, प्रभावशाली बनाकर उसे सम्प्रेषणात्मक एवं सहज ग्राहय बना देते हैं। त्रिलोचन एक जनवादी कवि रहे हैं। वे आम जनता के ग्राम्य जीवन का यथोचित रेखाटन करने में माहिर हैं। उन्होंने अपनी भाषा को अधिक परिपूर्ण करने के लिए लोक में प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों का सार्थक प्रयोग किया है। इसके सहकार्य से उनकी भाषा में सजीवता और रोचकता उत्पन्न हो गयी है।

"त्रिलोचन की भाषा में गंवई संस्कार के लहजे, मुहावरें, लोकोक्तियों और शब्दों का अद्भुत कौशल है।"[111] लोकोक्तियों और मुहावरों ने कवि की भाषा में प्राण भर दिए है। जैसे -

"कहीं दान होता था, कहीं कथा होती थी,
कहीं कुचाल देखकर हृदय काठ होता था,
कहीं अभागा करमकटा झखमार रहा था।"[112]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'हृदय काठ होना', 'झख मारना' जैसे मुहावरों का यथोचित प्रयोग हुआ है। इस सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण है-

"क्रूर काल के हाथों, हाहाकार खो गए
सिर पर चढ़ा खून, आंसू से नहीं धूला था,
दबे हुए बात की बात में बिदा हो गए।"[113]

'सिर पर खून चढ़ना' मुहावरे का प्रयोग यहाँ पर कवि द्वारा किया गया है और अन्तिम पंक्ति में 'बात की बात में विदा होना' एक सुन्दर लोकोक्ति का प्रयोग दिखायी देता है।

त्रिलोचन मुहावरों का प्रयोग में खूब करते है तथा जो मुहावरे भाषा की दुनिया से उठ गए है उनका कविता में नये तरीके से पुन: प्रयोग की एक अपनी अलग शैली है। 'जलते घर से हाथ सेंकने वाले', 'एक और खाई है एक और कुआ', 'चाहो रहे रंग भी हल्दी लगे न फिटकरी', 'पड़ती नहीं दुबारा कभी काठ की हांडी', 'अधिया की खेती और पुआर की अग्नि आंखों को ही भरमाती है', 'घोड़ा अड़ना', 'नित्य कुआं खोदना तब कहीं पानी पीना' आदि उदाहरण दृष्टव्य है। त्रिलोचन मुहावरों एवं लोकोक्तियों को इस प्रकार भाषा में खपा देता है कि उनकी कविता को पढ़ते हुए एक नैसर्गिक आन्तरिक आनन्द मिलने लगता है। साथ ही अर्थ की प्रतीति भी सहज बोधगम्य होने लगती है। जैसे -

"जीवन की
जो उपाधियां है
उन से मन ही मन ऊब रहा हूँ
हो गया खाना खराब कहीं
तो कहीं
कुछ में कुछ खूब रहा हूँ।"[114]

उपरोक्त पंक्तियों में 'खाना खराब होना' अर्थात् 'हो गया खाना खराब कहीं' यह एक सुन्दर लोकोक्ति है। इसका बड़ा ही सटीक सार्थक प्रयोग त्रिलोचन द्वारा किया गया है। त्रिलोचन के लगभग सभी कविता में और लोकोक्तियों का लालित्य देखा जा सकता है। कहीं-कहीं तो कवि पूरी बात को ही मुहावरों में बयान कर देता है। जैसे –

"अनचाही भीड़ों से भीड़ना और सूरोंतों
की रेखाओं को उड़ती निगाह से पढ़ना।"[115]

उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने मुहावरों का ही प्रयोग दोनों पक्तियों में कर दिया है। इसमें 'अनचाही भीड़ों से भीड़ना' और 'उड़ती निगाह से पढ़ना' ये दोनों ही मुहावरे है, जिनको कवि ने बड़ी कलाकुशलता से अपनाया है। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करके अपनी कविता को सारगर्भित बना दिया है। वे जनमानस में प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों की भरपूर जानकारी रखते है। त्रिलोचन की भाषा के कई स्तर है। जहां वे कृषक जीवन के मुहावरों वाली भाषा का इस्तेमाल करते है, इसका प्रभाव उनके काव्य शैली के माध्यम से देखते ही बनता है।

****

संदर्भ संकेत :-

1. कालिका प्रसाद, वृहत हिंदी कोश, पृ. 135-36

2. मूल स. रामचन्द्र वर्मा, सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. 345

3. बादाम सिंह रावत, साठोत्तरी हिन्दी कविता में वस्तु चेतना, पृ. 16

4. गोबिन्द सिंह, महादेवी वर्मा के काम में सौन्दर्य भावना, पृ. 172

5. गोविन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ. 203

6. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता,संस्करण 2002, पृ. 71

7. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1888, पृ. 38-40

8. त्रिलोचन, जीने की कला, पृ. 30

9. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 20

10. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ.197

11. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, पृ. 99

12. त्रिलोचन, अरधान, पृ. 74

13. गोबिंद प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ. 88

14. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ.133

15. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ.36

16. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 30

17. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1966, पृ. 261

18. त्रिलोपन, मेरा घर, पृ. 48-49

19. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ.71

20. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1999, पृ.40

21. त्रिलोचन, धरती, पृ. 74

22. वही, पृ. 106

23. वही, पृ.108-106

24. त्रिलोचन, मेरा घर, पृ. 28

25. वही, पृ. 22

26. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 18

27. वही, पृ. 15-16

28. त्रिलोचन, अरघान, पृ. 27

29. वही, पृ. 31-32

30. वही, पृ. 58-59

31. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 28-29

32. त्रिलोचन, जीने की कला, पृ. 14

33. वही, पृ. 26-27

34. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 66-67

35. वही, पृ. 17

36. वही, पृ. 18

37. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 112-113

38. वही, पृ. 115

39. वही, पृ. 113

40. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 37

41. वही, पृ. 29

42. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ. 103

43. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 64

44. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1999, पृ. 134

45. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 24

46. वही, पृ. 59

47. त्रिलोचन, जीने की कला, पृ.16

48. त्रिलोचन, मेरा घर, पृ. 53

49. वही, पृ.74

50. त्रिलोचन, अरघान, पृ.74

51. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ.51

52. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 25

53. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 30

54. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ.133

55. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, पृ. 121

56. त्रिलोचन, मेरा घर, पृ. 45

57. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ.17

58. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ. 210

59. अनंत मिश्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता, पृ.269

60. चक्रधर शर्मा, काव्यात्मक शैलियां, पृ. 42

61. वही, पृ. 43

62. वही, पृ. 51

63. सापेक्ष, जुलाई-सितंबर 1999, पृ. 105-106

64. त्रिलोचन, धरती, पृ. 97

65. त्रिलोचन, अरधान, पृ. 59

66. त्रिलोचन, तुन्हें सौंपता हूँ, पृ. 61

67. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 24

68. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील धारा और त्रिलोचन, पृ.143

69. त्रिलोचन, जीने की कला, पृ. 43

70. त्रिलोचन, मेरा घर, पृ. 20

71. त्रिलोचन, मेरा घर, पृ.68-70

72. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 18

73. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 30

74. त्रिलोचन, अरघान, पृ. 32-33

75. हरिप्रसाद पाण्डेय, नयी कविता की भाषा: काव्य शास्त्रीय सन्दर्भ में, पृ.141

76. वही, पृ. 142-143

77. सापेक्ष, जुलाई-सितंबर 1996, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ.235

78. त्रिलोचन, ताप के साये हुए दिन, पृ.55

79. त्रिलोचन, जीने की कला, पृ. 20

80. वही, पृ. 39

81. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 20

82. त्रिलोचन, अरधान, पृ. 26

83. त्रिलोचन, मेरा घर, पृ. 25

84. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 62

85. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 28

86. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, पृ. 438

87. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ.43

88. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता है, पृ. 55

89. त्रिलोचन, अरधान, पृ. 19

90. सच्चिदानन्द वात्स्यायन (सं०), समकालीन कविता में छन्द, पृ.106

91. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर, पृ. 27

92. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ. 135-136

93. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ.138

94.सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1999, पृ.171

95. वही, पृ. 234

96. वही, पृ. 239

97. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ.153

98. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश, पृ.32

99. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, पृ. 21

100. सापेक्ष,जुलाई-सितंबर 1999, पृ. 328

101. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ.66

102. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ.23

103. त्रिलोचन, अरधान, पृ. 28

104. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ. 136

105. वही, पृ. 139

106. त्रिलोचन, धरती, पृ. 26

107. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, पृ. 129

108. वही, पृ. 347

109. वही, पृ. 350

110. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशीत काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ. 140

111. सापेक्ष, जुलाई-सितंबर, 1999, अभिनव प्रकाशन, पृ. 138

112. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 41

113. वही, पृ. 51

114. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 27

115. त्रिलोचन, दिगन्त, पृ. 33

****

सप्तम अध्याय

उपसंहार

त्रिलोचन का जनवादी साहित्य जनता का साहित्य रहा है। इसमें जनता के सुख-दुःखों, मनोभावों, विचारों के साथ संपूर्ण जीवन का सूक्ष्म प्रतिबिंब अंकित होता है। सामान्य जन ही इस साहित्य का केंद्रबिंदु रहा है। जनवादी साहित्य केवल साहित्य बनकर नहीं रहता तो जन सामान्य को शोषण से मुक्ति का सशक्त हथियार एवं साधन बनता है। जनवादी साहित्यकार के लिए साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि अपने सामाजिक दायित्व को निभानेवाला हथियार होता है। इसमें जनवादी साहित्यकार अपने समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव के लिए सामान्य जनता को उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता दिखाई देता है। इस साहित्य में सामान्य जनता के दुःख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं का सजीव चित्रण अंकित हुआ है, जो हमें अन्य साहित्य में दिखाई नहीं देता।

जनवादी साहित्य में व्यापक जनसमूह के समग्र जीवन का यथार्थ चित्रण किया जाता है। इस संदर्भ में जनवादी कवि मुक्तिबोध जी का मत द्रष्टव्य है- "जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श और मनोरंजन से लेकर क्रांतिपथ की तरफ मोड़नेवाला, प्राकृतिक प्रेम, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाला, स्वतंत्रता और मुक्तिगीतों को अभिव्यक्ति देनेवाला ये सभी कोटियाँ जनवादी काव्य में ही हो सकती हैं। बशर्ते वह मन को मानवीय, जन को 'व्यापक जन' बना सकें और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके।"[1] इसप्रकार जनवादी काव्य उसे कहा जाता है, जो मनुष्य जीवन का सर्वांगीण चित्र खीचते हुए शोषणकारी पूँजीवादी व्यवस्था का पर्दाफाश करता है। त्रिलोचन के संपूर्ण साहित्य में स्वतंत्रता एवं मुक्ति का स्वर सुनाई देता है। यह साहित्य मनुष्य के मन में मानवीय संवेदना जागृत करता है और उन्हें संगठित कर मुक्तिमार्ग की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

त्रिलोचन का जनवादी साहित्य प्रमुख रूप से जनता का साहित्य ही है। इसमें जनता के सुख-दुःखों, मनोभावों, विचारों के साथ संपूर्ण जीवन का सूक्ष्म प्रतिबिंब अंकित होता दिखाई देता है। मार्क्स

विचारों से प्रभावित इस साहित्य के लिए यह अनिवार्य नहीं कि इसमें मार्क्स के दर्शन की अभिव्यक्ति हो। इसमें इस साहित्य का केंद्रबिंदु सामान्य जन ही रहा है। जनवादी साहित्य मात्र साहित्य बनकर नहीं रहता बल्कि वह सामान्य जनता की शोषण से मुक्ति का सशक्त हथियार बनकर, जनता का पक्ष लेकर उसकी लड़ाई का सक्रिय हिस्सा बनता है। जनवादी साहित्य की उद्देश्य ही उसे जनता में लोकप्रिय बनाती है। उसे अभिजनवादी चमक-दमक या भड़कीलेपन की जरूरत नहीं पड़ती दिखाई नहीं देती।

त्रिलोचन के आधुनिक जनवादी चेतना के अंतर्गत शोषक-वर्ग के अन्याय-अत्याचार के खिलाफ संघर्ष करने के लिए शोषित-वर्ग में संगठन की आवश्यकता होती है। संगठित रूप से किया गया प्रयत्न ही विजय पथ पर ले जा सकता है। संगठन निर्माण के लिए चेतना जागृत होना आवश्यक होती है और इस चेतना जागृति का महत्त्वपूर्ण कार्य जनता से जुड़े साहित्यकार करते रहे है, जिसमें त्रिलोचन प्रमुख रहें हैं। जो साहित्यकार समाज के शोषित पीड़ित, मेहनतकश जनता का पक्ष लेकर उन पर होनेवाले अत्याचार के खिलाफ चेतना जागृत करने का कार्य करते हैं, क्रांति एवं परिवर्तन के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं उन्हें 'जनवादी साहित्यकार' तथा उनके साहित्य को 'जनवादी साहित्य' कहा गया हैं। इसी कारण साहित्य और समाज का संबंध घनिष्ठ माना जाता है। साहित्य समाज का केवल दर्पण ही नहीं बल्कि वह समाज के लिए 'प्रकाश- स्तंभ' बन जाता है। जनवादी साहित्यकार के लिए साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं है बल्कि अपने सामाजिक दायित्व को निभानेवाला हथियार होता है। जनवादी साहित्यकार अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव लाने के लिए, समाज के सामान्य जन को अन्याय-अत्याचार से निज़ाद दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता है। इस साहित्य में सामान्य जनता के दु:ख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं और विचारों का सजीव चित्र अंकित किया जाता है। इस साहित्य में समाज का चित्रण अपनी समग्रता के साथ किया जाता है। इसप्रकार त्रिलोचन का जनवादी साहित्य सामान्य जनता का पक्ष लेकर, उसके मन में परिवर्तनकारी चेतना जगाता करता है। इसके ही परिणामस्वरूप सामंतवादी, पूँजीवादी साम्राज्यवादी सत्ता के विनाश के लिए सामान्य शोषित पीड़ित मेहनतकश जनता की सत्ता स्थापना होती है।

इस अनुसंधान कार्य अंतर्गत हिंदी कविता के क्षेत्र में जनवादी काव्यधारा की महत्ता दिखाया गया है। हिंदी में जनवादी काव्यधारा का विकास भक्तिकाल से प्रारंभ होता है। भक्तिकाव्य की अंतर्वस्तु मानवीय प्रेम है। भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस स्वर्णयुग के निर्माण के पीछे सोने-चाँदी का नहीं बल्कि भारत की मिट्टी का हाथ है। मानवीय प्रेम वास्तव में जनवाद का ही एक उच्च रूप है जिसे विद्वानों के उद्धरणों द्वारा पुष्ट किया गया है। भक्तिकाल का जनवादी स्वरूप हमें जनपदीय कवियों की काव्यान्तर्गत प्राप्त होता है। जनपदीय संतों ने लोक धुनों पर आधारित अपने काव्यान्तर्गत जनता के सुख-दुःख के गीत गाये। भक्तिकाल के कवियों का सबसे बड़ा जनवादी प्रयत्न पूरे भारत को एक सूत्र में बांधना था जिसमें ये संत कवि काफी सफल हुए।

हिंदी साहित्य का नवजागरण काल (भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग) जनवादी काव्य का पुनरुत्थान था। हालांकि रीतिकाल में जनवादी काव्यधारा का पूर्णतया लोप नहीं हुआ था, हाँ, जनवादी काव्यधारा सामंतों के काव्य-प्रेम के कारण कुछ क्षीण अवश्य हो गयी थी। भारतेंदुयुगीन जनवादी काव्य में देश-भक्ति और यथार्थवाद, एक ही सर्वमान्य भाषा खड़ी बोली, स्वातंत्र्य प्रेम आदि प्रवृत्तियाँ स्पष्टरूपेण दिखायी पड़ती है, जो भारतेंदुजी की मुकरियों में जनवादी स्वरूप साफ-साफ परिलक्षित होता है। साम्राज्यवादी अंग्रेजी का विरोध, पुलिस, घूसखोर, अफसर, दूषित न्याय-व्यवस्था, अमीरों की मनमानी, शोषित पीड़ित जनता के दुःख-दर्द की अभिव्यक्ति इनमें खूब होती हुई दिखाई देती हैं।

जहाँ देश-प्रेम एवं स्वातंत्र्य प्रेम द्विवेदी युग की जनवादी कवियों में काफी सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है वहाँ सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार इस युग की काव्यान्तर्गत बड़े सशक्त ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। द्विवेदी युग की जनवादी काव्यान्तर्गत मात्र देशभक्ति का उद्घोष ही नहीं हुआ है बल्कि देश जिनसे बनता है उस सर्वसाधारण जनता के स्वेद कण एवं आँसू भी इन काव्यान्तर्गत दिखायी पड़ते हैं।

इसमें छायावादी काव्य पर सुखांतक काव्यधारा होने का आरोप लगाया जाता है, जो कुछ हद तक सही भी है लेकिन सामाजिक यथार्थ और जनवादी भावनाओं की जितनी सशक्त अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में दिखलायी पड़ती है, जो इसके पूर्व कभी नहीं दिखलायी पड़ी है। स्वतंत्रता और मुक्ति की चेतना छायावादी काव्य में कई स्तर पर दिखलायी पड़ती है। छायावादी कविता भारतीय

जनता के मुक्ति संग्राम की ही घनीभूत पीडायुक्त वाणी है। प्रसाद के नाटकों के देशभक्ति गीत, निराला की दृष्टि जिसमें वह तोड़ती पत्थर, दीन-हीन भिक्षुक, कैप्टलिस्ट, गुलाब आदि अनेकों भरे पड़े हैं, कवि की जनवादी चेतना में ढलकर विप्लव के स्वर समान उनकी कविता द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं।

यद्यपि प्रगतिवाद का संबंध, 1936 में हुए प्रगतिवादी लेखक संघटना की स्थापना के साथ जोड़ा जाता है और उसे 1919 की रूसी क्रांति की सफलता के फलस्वरूप सारी दुनिया में शुरू हो रहे प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलनों के अंग के रूप में देखा जाता है और कुछ लोग तो उसे कम्युनिस्ट विचारधारा का साहित्यिक रूप मात्र मानते हैं लेकिन वस्तुतः वह भारतीय इतिहास और नव-जागरण की स्वाभाविकता का ही विकास था।

प्रगतिवाद ने कविता के विषय क्षेत्र का विस्तार किया और अनंत और असीम पर टिकी निगाहों को भी बाध्य किया कि वे ग्रामवासिनी भारत माता की ओर भी आँखें खोलकर देखें। रामधारी सिंह दिनकर, नागार्जुन, केदारेनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शील, शिवमंगल सिंह सुमन, शमशेरबहादुर सिंह, विजय देवनारायण साही, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय दुष्यंत कुमार आदि कवियों ने कृषकों, मजदूरों, निम्न मध्यवर्गीय जनों के दुःख-सुख का अपनी काव्यान्तर्गत चित्रण किया।

साठोत्तरी जनवादी कविता को हालांकि अज्ञेय के रूपवादी जनविरोधी प्रयोगवादी खेमे का सामना करना पड़ा लेकिन स्वाधीनता के बाद साठोत्तरी अराजकतावाद के इस काल में जनविरोधी अभियान के वर्चस्व के बावजूद जनवादी चेतना और जनवादी काव्यधारा सदा ज्वलंत रूप में बरकरार रही है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना एवं धूमिल जैसे जनवादी कवियों ने अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं जन- वादी तेवर की कविताएँ इसी दौर में लिखीं है। जनवादी कविता की यह क्रमशः विकास धारा वर्तमान समय में लीलाधर जगूड़ी, ज्ञानेंद्रपति, अरुण कमल, कुमारेंद्र पारसनाथ, गोरख पांडेय, आलोकधन्वा, उदय प्रकाश आदि की काव्यान्तर्गत निरंतर पुष्ट होती जा रही है तथा युवा कवियों के काव्यान्तर्गत निरंतर परिपक्व होती जा रही है।

इसमें यह भी बतलाया गया कि आधुनिक युगबोध से तात्पर्य आज के समाज में होनेवाले विचार। आधुनिक युगबोध यह शब्द आधुनिकीकरण और आधुनिकता के संबंध में भी प्रयुक्त होता है। आधुनिकीकरण और आधुनिकता-बोध का गहरा संबंध त्रिलोचन के संदर्भ में बतलाया गया है। धर्म के संबंध में बदले हुए विचार, आंतरराष्ट्रीय रुचि संबंधी बदले विचार, रहन-सहन संबंधी मत, परंपरा और रूढियों का विरोध, मूल्यहीनता आदि आधुनिक युगबोध की प्रवृत्तियाँ बतलाई गयी हैं।

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के कारण हुआ परिवर्तन भी आधुनिक युगबोध के अंतर्गत ही आता है। विज्ञान का अर्थ है वैज्ञानिकों द्वारा की गयी खोज। उदा. बिजली और टेक्नॉलॉजी के इस परिप्रेक्ष्य में मायने है, जहां पर इस विज्ञान का व्यवहार में किया गया प्रयोग और इन सब कारणों से जो समस्याएँ उत्पन्न होती है, वह भी आधुनिक युगबोध के अंतर्गत ही आती है, यह भी स्पष्ट किया गया है।

हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि और आधुनिक हिंदी कविता के प्रमुख कवि त्रिलोचन शास्त्री के काव्यान्तर्गत पूरा भारत बसता है। उनकी कविता सधी हुई और संयमित होती है। प्राकृतिक सौंदर्य, जीवन, जिज्ञासा, संघर्ष, सकारात्मकता आदि बिम्ब उनकी काव्यान्तर्गत देखने को मिलते हैं, यह प्रतिपादित किया गया है।

त्रिलोचन जी को हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील काव्यधारा का प्रमुख कवि के रूप में जाने जाते है। त्रिलोचन शास्त्री ने हिंदी में प्रयोगधर्मिता का समर्थन किया है। उनका यह मानना था कि भाषा में जितने अधिक प्रयोग होंगे वह उतनी ही अधिक समृद्ध होगी। त्रिलोचन ने हमेशा ही नवसृजन कार्य को प्रोत्साहन दिया है तथा वे नए लेखकों के लिए प्रेरणास्रोत रहे हैं। वे आधुनिक हिंदी कविता की प्रगतिशील धारा के तीन स्तंभों में से एक रहे हैं। इसमें अन्य दो स्तम्भ नागार्जुन व शमशेर बहादुर सिंह थे।

भारतीय जनवादी साहित्यान्तर्गत प्रमुख कवि के रूप में त्रिलोचन रहे हैं। आपने जनवादी काव्य के माध्यम से जनता के मन-मस्तिष्क में चेतना जगाने का कार्य किया। यह आज के काव्य-परिपेक्ष्य में एक विशेष घटना मानी जा रही है, जिसे अच्छी तरह से जानना, हिंदी काव्यालोचना परंपरा के लिये एक चुनौती रही है। त्रिलोचन की कविताओं की विलक्षणता की पहचान में विलंब का एक और कारण उत्तर-आधुनिकता और पश्चिम के विजातीय विचार का भारतीय संस्कार में तीव्र और

विवेकहीन सम्मिलन भी होते है। लोक का जीवन और सौंदर्य तो उसके श्रम की संस्कृति से उद्भूत होता है पर जब तथाकथित विकास की आँधी हमारे यहाँ तेज हो गयी तो उसके वेग में लोक हाशिए पर धकेला गया, इसके सृजन को अविकसित, रूढ़, पारंपरिक और छोटी पहल की कहकर हेय समझा गया क्योंकि वह विचार पूँजी के संस्कार से फलित होता है जिसमें जीवन का रस कृत्रिम और देहवाद, निरा कलावाद और रूपवाद से निस्सरित होता दिखाई देता है। इस बारे में लोक के पक्षपाती समीक्षक डॉ. जीवन सिंह का विचार ध्यातव्य है। वे कहते हैं कि "दरअसल बौद्धिकता के ज्वार में हमने कविता में सरसता और भावपरायणता को इतना दरकिनार किया है कि ये बातें कविता के लिये अछूत जैसी बना दी गयी है। इनमें उन आलोचकों का भी हाथ रहा है जो अपनी काव्य-परंपराओं को भूलकर विदेशी काव्य-चिंतन के पीछे इतने पड़े कि अपनी सुध-बुध ही भूल गये।.....उसकी अनदेखी करके जो रचना होगी, वह नई और आधुनिक तो होगी परन्तु आत्मिक स्तर पर उतनी समृद्ध और पूर्ण नहीं होगी।"[2] उपर्युक्त कारणद्वय से आधुनिक पाठकों और बड़े आलोचकों कवियों की लिस्ट में त्रिलोचन जी को पीछे रख दिया गया। पर उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं की, न हार मानी। हरदम अपना देशी ठाठ और सृजन का अलग ढर्रा बनाये रखा क्योंकि त्रिलोचन के कवि-प्रकृति को पता था कि लोकहृदय ही दुनिया में मानवता की संस्कृति रच सकेगी।

त्रिलोचन के काव्यलोक से जुड़ा एक अहम् सवाल यह रहा है कि उनकी कविता का जनमानस में देर तक टिकने और आकर्षण की वज़ह क्या है? इस कारण की जाँच-पड़ताल, उनके काव्यविवेक और उसमें अंतर्निहित रूप और वस्तु को बिना समझे नहीं किया जा सकता।

त्रिलोचन के विचारों उनके लोकसंस्कारी स्वभाव के कारण उनके काव्यान्तर्गत वह परिलक्षित होती दिखाई देती है। वे गाँव के कृषक-संस्कार के काफ़ी करीब थे जो उन्हें चिरानीपट्टी गाँव और काशी में मिला था। उनका लोक जिन तत्वों से बना है, उसमें बड़ी-बड़ी बातों के लिये जगह नहीं। इसलिये त्रिलोचन बातूनी कवि नहीं थे। सीधे अपनी बात कहने में विश्वास करते थे, इसलिये कविता के बाहर भी निकल आना चाहते थे अर्थात् कला के बंधन में नहीं फँसते थे। कहने का अर्थ है कि वे हृदय से लिखते थे, बल्कि यूँ कहें कि कविता को अपना हृदय ही दे देना चाहते थे। कलम की दिमागी कसरत नहीं करते थे। उन्होंने स्वयं कहा हैं-

"मुझे वह रूप नहीं मिला है जिससे कोई

सुंदर कहलाता है,हृदय मिला है
जिससे मनुष्यता का निर्मल कमल खिला है।"[3]

आज समूचा राष्ट्र संक्रांति के नाना दौरों से गुजर रहा है। आज प्रत्येक भारतवासी के सामने आदर्श मानव मूल्यों तथा समुद्ध एवं उन्नत भारत के सृजन की समस्या है। इस दशा में साहित्यकार का सहयोग सर्वाधिक सुन्दर और फलप्रद सिद्ध हो सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि आज का तथाकथित नया कवि नवीनता के अन्धाधुंध मोह में केवल निजी विज्ञापनार्थ बरसाती मेंढकों के समान नित्य नवीन काव्य संप्रदायों की सृष्टि में व्यस्त है। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि उसका नया काव्य जन-मानस का प्रतिनिधित्व न करके अभिजात्य वर्ग के हितों का समर्थन करता है। उसकी रचनायें काव्योचित सहज संवेदना से शून्य तथा कृत्रिम बनती जा रही हैं। ये रचनायें काव्य के आदर्श से दूर होने के कारण नितान्त हल्की और शिल्प प्रधान की दृष्टि से प्रायः भौंडी बनती जा रही हैं। आज के नवीन काव्य संप्रदायों के प्रतिपल नवाग्रही पुरोधाओं को यह स्मरण रखना होगा कि "कविता सम्पूर्ण चेतना की अखंड अभिव्यक्ति है, वह खंड़ित व्यक्तित्व की बौद्धिक शब्द-लीला मात्र नहीं है।"[4] असंबद्ध शब्द-जाल और व्यक्ति वैचित्र्यवाद की कारीगरी से पाठक को उलझाने और वास्तविक कवि कर्म में काफी अंतर है। कविधर्म कोरे फैशन से भिन्न होता है। नया भावबोध या नयी अभिव्यक्ति के चिल्लाने मात्र से काव्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता। किसी काव्य की क्षमता उसमें चित्रित अनुभूति गहनता और शाश्वत मानवीय मूल्यों के प्रति सजगता में निहित है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए काव्य में हृदय के सहज उद्रेक और उसके साथ निश्छल अभिव्यक्ति का योग अनिवार्य है। एजरा पाऊंड, रिम्बों और एमोलावल के भारतीय अन्य श्रद्धालु भक्तों को ग्राह्य और अग्राह्य के संबंध में विवेक बुद्धि से काम लेकर निजी अनुभूतियों के सहारे जीवित रहने की कला सीखनी होगी। उन्हें अनुभूतियों के उस आयाम पर पहुंचना होगा जहां काव्य स्वयं प्रस्फुटित हो जाता है। कहीं ऐसा न हो कि 'कौवा चला हंस की चाल अपनी भी भूल गया' की उक्ति नये कवि पर चरितार्थ होने लगे। केवल नवीनता ही काव्योत्कर्ष की विधायिनी शक्ति नहीं हुआ करती है। पुरानी होने से ही न तो सब वस्तुएं अच्छी होती हैं और न कोई वस्तु नई होने के कारण हेय एवं तुच्छ होती है। विवेकशील मनुष्य गुणों और दोषों की परीक्षा कर, श्रेष्ठतर वस्तु को अपनाते हैं। मुर्ख जन दूसरों के बताने पर ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय किया करते हैं।

साठोत्तरी कविता इस सिद्धान्त पर चलती है कि केवल कवि कर्म ही नहीं करना चाहिए बल्कि समाज, राजनीति, व्यवस्था, व्यक्ति को बदलने का साहस भी रखना चाहिए। यह कविता समकालीन जीवनबोध को यथार्थ से जोड़ती है। इस कविता के केन्द्र में विशिष्ट व्यक्ति नहीं है, बल्कि सामान्य व्यक्ति के सुख-दु:ख पीड़ा, विसंगति, विडम्बना, कुण्ठा, सन्त्रास को ये कविता स्वर देती है और इन स्थितियों से निकलने की व्याकुलता को चित्रित करते हुए संघर्ष की प्रेरणा भी देती है। अपने समय का सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य इन काव्यान्तर्गत व्यक्त हुआ है यह व्यक्ति, समाज और विश्व के संदर्भ में नये प्रश्नों को उठाती है और यही इस कविता की सार्थकता भी है।

त्रिलोचन की पारिवारिक पृष्ठभूमि कृषक जीवन की है और उनकी कविता का आयाम तथा फलक दोनों किसानी जीवन से सराबोर रहा है। उनका पहला काव्य संग्रह 'धरती' इसका सद्यः प्रमाण है, जिसका प्रकाशन 1945 ई में हुआ था। गोबिन्द प्रसाद के अनुसार, "इन काव्यान्तर्गत काव्य के प्रत्यक्ष व्यापर पर बल है जिसमें किसानी जीवन के सामूहिक श्रम व संघर्ष के चित्रों को सहज और अनलंकृत ढंग से बेबाक़ी के साथ रखा गया है।"[5] इसमें अकेलेपन का दर्शन नहीं है। प्रेम है, सामूहिकता है, धरती है और उस धरती के प्रति सामाजिक दायित्व भी है। "वस्तुतः 'धरती' सामाजिक उत्तरदायित्व की रचना है। 'धरती' ही क्या अन्य रचनाओं में भी यत्र-तत्र त्रिलोचन की काव्यान्तर्गत ढेरों चरित्र बिखरे पड़े हैं। इनमें अनपढ़ बच्ची चम्पा है, चित्रा जाम्बोरकर है, नगई महरा है, भोरइ केवट है, अछूत निषाद है, मंगल, निरहू, अवतरिया, सोनी और सुकनी है तो सब्जी बेचने वाली बुढ़िया भी है। इन काव्यान्तर्गत भारत के कृषक -मजदूरों और दु:ख-सुख को सहती संघर्षशील जनता की मुंह से बोलती तस्वीर अपने सरल रूपों में सामने आती है। इन चरित्रों में कवि की वर्गीय दृष्टि और विचारधारा को देखा जा सकता है। इन तमाम चरित्रों को जोड़कर भारत के 'आम आदमी' की तस्वीर बनती है। इन चरित्रों के विभिन्न पहलुओं को सामने रखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि "त्रिलोचन का कवि किस मनुष्य का निर्माण अपनी काव्यान्तर्गत करना चाहता है। किन मानव-मूल्यों को वे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनकी पक्षधरता कहां है। इन चरित्रों के माध्यम से उनकी काव्य दृष्टि में निहित यथार्थ के उस रूप को सहज लक्षित किया जा सकता है।"[6] यही त्रिलोचन की काव्यदृष्टि है, उनकी वैचारिकी है। साथ ही उनकी जातीय परंपरा

और उसका विकास भी है, जो निरंतर जीवन पथ पर संघर्षरत है। जिनकी सांसों को आराम नहीं हैऔर जो दिन-रात समाज के कल्मष धोने में लगा हुआ है। इसीलिए त्रिलोचन जी कहते है-

"धन की उतनी नहीं मुझे जन की परवा है
जितनी। जो मुझ से खुलकर मन से मिलता है
मैं उसका वशवर्ती हूं। इस से खिलता है
मेरे प्राणों का शतदल। एक ही दवा है
जीवन के सौ रोगों की, चाहो तो ले लो
....
अपनापन सब पर पसार दो, खुलकर खेलो।"[7]

अर्थात् जीवन के विविध रंगों में से सिर्फ एक रंग ही जो सभी को आकर्षित करता है, वह अपनापन यानी प्रेम है। यह जो विविधता का रंग और प्रेम है उसकी अभिव्यक्ति 'सारनाथ' कविता है जहां प्रकृति और मानव जीवन की प्रकृति के बीच के समन्वय रूप है। साधारण में असाधारण का भाव त्रिलोचन के काव्य की प्रमुखता रही है। त्रिलोचन छोटी-सी छोटी चीजों को उसी की सहजता में व्यक्त करते हैं जिसके कारण उपेक्षा का भाव पैदा होता है। 'मैं कृतज्ञ हूं' में बाजारवाद और बाजार में बिकाऊ का उल्लेख किया गया है। इस कविता में एक तरफ प्रिय कवि की बात है तो दूसरी तरफ बाजार में सब कुछ बिकाऊ है और पैसों का अर्थ इस बाजारवाद में कौन नहीं जानता है। जो इस बाजार की भाषा जानता है वह बाजारवाद में टिकता है लेकिन जिनके भाव उनके जीवन का भाव है। उसे बाजारवाद से क्या लेनादेना है। त्रिलोचन को इस बात पर गर्व है कि मेरे जैसे सपने किसी और को नहीं है। इसी सपनों को वह अपनी कविता में संजोते हैं, उसे अभिव्यक्त करते हैं। यह अनुभूति और स्वप्न उनकी कविताओं को अन्य से अलग करती है। त्रिलोचन की काव्यानुभूति और दृष्टि दोनों ही आमजन के संघर्ष और स्वप्न हैं-

"मेरी कविताओं के सपने सब मेरे हैं
मुझे तो प्रसन्नता है
यदि मेरे सपनों को कोई भी नहीं कहता
मेरे हैं।"[8]

निश्चय ही यह त्रिलोचन की स्वानुभूति है जो किसी से मेल नहीं खा सकती है और न ही कोई दूसरा उसे अपना कह सकता है। यही इतिहास का सत्य है और इस सत्य पथ पर चलना और सत्य कहना बहुत ही दु:साहस का काम होता है। यह साहस त्रिलोचन में है कि वे अपने काल की रचनाओं को काल्पनिक कहते हैं और समीक्षक द्वारा उस कल्पना को सत्यता के आधार पर स्वीकृति भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। साहित्य में कल्पना और यथार्थ के बीच रचनाओं को अपनी जमीं बनानी होती है। तत्कालीन लेखन में कल्पना की सवारी जो हो रही थी और साहित्यिक विद्वानों के द्वारा उसकी स्वीकृति जो रही है। त्रिलोचन उसे नकार रहे थे और भाषाओं के माध्यम से बलात जो इतिहास रचने की प्रक्रिया चल रही थी उस पर वे सवाल उठाते है-

"इतिहास ऐसा ही था
कैसा
नए नए इतिहास रचे जाया करते हैं
बल देकर कहते हैं भाषा में अपनी अपनी सभी लोग
इतिहास ऐसा ही था।"[9]

इतिहास कुछ और नहीं, यह तथ्य आधारित दृष्टिकोण की स्वीकृति है। आप किस तथ्य को कैसे स्वीकार करते हैं और उसे किस रूप में ग्रहण और व्यक्त करते हैं। त्रिलोचन कविता के माध्यम से आमजन के आत्मसंघर्ष का इतिहास ही तो लिख रहे थे। उन लोगों का इतिहास जिसे भारतीय समाज में कभी जगह ही नहीं मिला है। जिनके संघर्ष को कभी श्रम ही नहीं समझा गया। जिनकी आवाजों की अनुगूंज संसद तक पहुंची ही नहीं। लेकिन वही भारतीय सभ्यता-संस्कृति का निर्माता तथा कर्ताधर्ता रहा है। शब्द से अभिव्यंजित जीवन की तलाश उनकी कविता में है। इसके लिए वह काव्यशास्त्र के प्रतिमान को धत्ता बता देते हैं। यह तलाश नामवर सिंह के शब्दों में 'गैर-आधुनिक ही नहीं बल्कि प्राक्-आधुनिक' भी हैं त्रिलोचन। इसी अभिन्नतम सत्ता की चाहत का आस्वाद त्रिलोचन साहित्य की दुनिया में चाह रहे थे। चाहे वह रूप की हो या अंतर्वस्तु की, गांव हो या शहर, प्रकृति हो या कृत्रिम सभी में। त्रिलोचन की कविता में गांव से लेकर शहर, परंपरा से लेकर आधुनिकता तक, मानव निर्मित सत्ता से लेकर प्रकृति सत्ता तक। सभी स्तर पर नवीनता की चाहत त्रिलोचन की काव्य संवेदना की मांग है। यह मांग देशज आधुनिकता और सरजमीं पर निर्मित साहित्यशास्त्र की भी

है। भूख, अभाव और दारिद्रता आदि की गहरी अनुभूति त्रिलोचन की कविता में है। वे संपूर्ण जनपद का कवि स्वयं को घोषित करते हुए भूख-दुख और अन्याय-अत्याचार की बात करते हैं। यह आत्मसाहस उनके आत्मसंघर्ष का ही परिणाम है जो निर्भय होकर अपनी बात कहने को मजबूर करता है। लड़ने की शक्ति और साहस देता है। उनके इस संघर्ष में नारी-शक्ति की भी अहम भूमिका है, जिसे वे अपनी कविता में जगह देते हैं।

त्रिलोचन के लिए कोई शब्द न तो छोटा है, न ही मूल्यहीन रहा है। त्रिलोचन के लिए शब्द वास्तव में उस समाज की जीवित सत्ता है, जिसमें वह प्रचलित है। शब्द उनके लिए जनता है। जैसे कोई जनता उनके लिए न तो हेय है, न तुच्छ वैसे ही वे शब्द के माध्यम से जनता का जीवित स्पंदित जन रूप में साक्षात्कार करते हैं और सुख-दुख में उसके साथ हो जाते हैं। "यह त्रिलोचन ही है जो 'चरकट', 'लूघर', 'धूम-धड़ाका, चिबिल्ला', 'सैलबिल्लू', जैसे शब्दों को इतिहास के से निकालकर, उनमें नवीनता भरते हुए चमका देते हैं। शब्दों से प्यार करना, उन पर दुलार बरसाना, उन्हें अपने अधिकार में करना, यह कोई त्रिलोचन से सीखे।"[10] त्रिलोचन शब्दों के अनुभूतियों को भलीभाँति जानने है, शब्दों के विषय में वे कहते हैं -

"उठी उई उँगली की ओर मैंने देखा
साँप और नेवला- दोनों गुत्थमगुथा,
दोनों एक दूसरे का अन्त कर देन पर
लगे हुए।"[11]

त्रिलोचन का शब्द-ज्ञान व्यापक तथा विस्तृत रहा है। वे तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी आदि सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में करते हैं। त्रिलोचन शब्द शिल्पी है। शब्दों की साधना उन्होंने योगी की तरह की है। उनकी संवेदना शब्द को अधिक ग्राहय बनाती है। वे शब्द को ठीक वहां व्यक्त करते हैं जहां शब्द अपने पूरे अर्थ को खोलकर रख देता है। शब्दों का सार्थक प्रयोग जब वे करते हैं तब उनकी छवि काफी विलक्षण दिखाई देती हैं। शब्द यह शब्द न रहकर व्यापक परिवेश और चरित्र का आकार लेते हुए अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं -

"आई थी घटाएं अभी
नाच कर चली गई

बिजली की मशाल जल-जल कर

बुझ जाती थी

हवा सनसनाती थी।"[12]

उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से त्रिलोचन 'बिजली की मशाल', 'सनसनाती हवा' जैसे शब्द प्रयोग पूरे वातावरण, परिवेश को साकार करके रख देते हैं। ये शब्द स्वयं परिवेश या चरित्र से बने हुए जान पड़ते हैं। साथ ही इन शब्दों ने कवि की अभिप्रेत अर्थ छवि को खोलकर रख दिया है।

त्रिलोचन की शब्द संवेदना से परिचित होने के लिए विविध छन्दों तथा प्रकारों की भाषिक बनावट पर ध्यान देना चाहिए। शब्द की सार्थकता प्रयोग की सार्थकता में है। प्रयोग की विशिष्टता में नहीं। शब्दों के माध्यम से धड़कते हुए जीवन की परख या पहचान में है। छन्द और लय, उक्ति और अर्थ के भेद के बावजूद भाषा पर त्रिलोचन की पकड़ का ही उदाहरण है-

"मंजर गए आम कोइलिया न बोली,

आंख मूंदे पेट पर सिर टेक

गाय करती है घमौनी बन्धी जड़ से

पेड़ की छाया खड़ी दीवार पर है।"[13]

त्रिलोचन हिन्दी के अलावा अंग्रेजी, फारसी, उर्दू तथा बंगला आदि भाषाओं के अच्छे जानकार है किन्तु जैसे कि वे मानते हैं, उन्होंने इस भाषा का अध्ययन ज्ञानार्जन के लिए किया है। इसके बावजूद इन भाषाओं के प्रभाव से मुक्त होकर वे एक भिन्न काव्य भाषा का विकास करते हैं। त्रिलोचन एक जन पक्षधर कवि है इसलिए भी सहज और सरल भाषा का प्रयोग उनका अभिष्ट रहा है। उनकी इस सहज बोधगम्य भाषा का स्वरूप देखा जा सकता हैं -

"मैंने जब देखा, अब इन हाथों से अपने

मैं भी कुछ कर सकता हूँ, फौरन अपनाया

सफल जनों का ढंग, सुखी का सुख अपनाया

फिर भी न तो फल, मिला न सुख

सांस के तप ने, मुझे तपा डाला।"[14]

इसप्रकार की सादगीपूर्ण, सरल भाषा के त्रिलोचन हमेशा प्रश्नयकर्ता रहे हैं। कविता के लिए अपेक्षित भाषा के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए त्रिलोचन का कथन इस प्रकार हैं - "कविता लिखते समय शब्दकोशों से भारी भरकम शब्द खोजकर कविता में रोपने के बजाय इसे जिंदगी की भाषा से ग्रहण करना चाहिए। कविता में नए मुहावरें और लोकोक्तियों का प्रयोग हो।"[15] भाषा स्थानीय सन्दर्भ से प्रवाहित होती है, जिनको जानने के लिए अलग-अलग टिप्पणियों तथा व्याख्याओं का सहारा आवश्यक हो जाता है। भाषा का सम्बन्ध आंतरिक विकास से भी होता है। किसी भाषा की गहराई में उतरना हो तो अपने क्षेत्र के ग्राम्य लोगों से मिलिए, उनका सुख-दुख बाटिए और उनसे बातचीत कीजिए। अनपढ़, अशिक्षित लोगों के बीच में रहिए, भाषा का मूल और सही रूप वहां मिलता है। इससे भाषा को नया रूप मिलता है। यही सहजता कविता को मूल्यवान और अधिक सार्थक बनाती है। सामान्य जन के सम्पर्क में कवि रहें तो अच्छी कविता लिख सकता है। प्रत्येक भाषा और बोली का अलग व्याकरण और मुहावरा होता है। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करके अपनी कविता को सारगर्भित बना दिया है। वे जनमानस में प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों की भरपूर जानकारी रखते है। त्रिलोचन की भाषा के कई स्तर है। जहां वे कृषक जीवन के मुहावरों वाली भाषा का इस्तेमाल करते है, इसका प्रभाव उनके काव्य शैली के माध्यम से देखते ही बनता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि त्रिलोचन अपने समय के प्रमुख जनवादी कवि के रूप में प्रमुख हस्ताक्षर रहे हैं, जिन्होंने अपने जनवादी विचारों को आधुनिकता संदर्भ में अपने काव्यमयी शब्दों के माध्यम से जीवन की गहराई को रूपायित कर अंकित किया है। त्रिलोचन ने विविध शब्द योजना, भाषागत सौष्ठव, बिंब, प्रतीक, छंद, लोकोक्ति तथा मुहावरों के माध्यम से देश के आम आदमी, शोषित, पीडित, दलित वर्ग की व्यथा एवं यातनाओं का सजीव तथा मार्मिक चित्रण कर, आनेवाली पीढ़ी तथा लेखकों को एक मार्मिक संदेश पहुँचाने महत्वपूर्ण कार्य किया हैं।

****

संदर्भ संकेत :-

1. सं. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली- खण्ड- 5, पृ. 76

2. रमेश शंकर उपाध्याय, नयी कविता सीमाएँ एवं संभावनाएँ, पृ. 67

3. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश, पृ.12

4. डॉ. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ. 120

5. वही, पृ. 73

6. गोविन्द प्रसाद, कविता के सम्मुख, पृ. 100

7. वही, पृ. 101

8. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, वही, पृ. 17

9. त्रिलोचन, चैती (1987), पृ. 55

10. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1888, पृ. 38-40

11. त्रिलोचन, जीने की कला, पृ. 30

12. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, पृ. 20

13. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ.133

14. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, पृ. 64

15. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, पृ.143

****

8. अध्यायनुसार संदर्भ ग्रंथ सूची :-

प्रथम अध्याय -

1. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 33

2. धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य कोष, भाग, एक, द्वितीय संस्करण, ज्ञानमंगल प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 333

3. कुंवरपाल सिंह, उत्तरार्द्ध, अंक 20 आक्टू. 1682, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.108

4. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 59

5. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग-1, लोकप्रभा प्रकाशन, कानपुर, पृ.1206

6. हिंदी साहित्य भाग-1, ज्ञानमंडल, वाराणसी, पृ. 247

7. संपा. आई. फोलोव 'डिक्शनरी ऑफ फिलासफी', लोकप्रभा प्रकाशन, कानपुर, पृ. 81-82

8. डॉ. शिव कुमार मिश्र, उत्तरार्ध अंक 20 अक्टू.1982, पृ. 21

9. डॉ० रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, नमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 12

10. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, उत्तरार्द्ध, जनवादी साहित्य विशेषांक, पृ. 87

11. चंद्रबली सिंह, नयापथ, जुलाई-सितंबर 1986, पृ. सं. 47

12. अज्ञेय, तार सप्तक की भूमिका से, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.88

13. नरेंद्रसिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 89

14. वही, पृ. 119

15. 'हरिजन', अंक 20 अप्रैल, 1940, इलाहाबाद, पृ. 33

16. 'हरिजन', अंक 13 मार्च, 1937, इलाहाबाद, पृ. 32

17. डॉ. धीरेंद्र मोहन दत्त 'महात्मा गांधी का दर्शन, लोकप्रभा प्रकाशन, कानपुर, पृ. 103

18. वही, पृ. 103

19. 'माडर्न रिव्यू' (अक्तूबर, सन् 1953), राजकमल प्रकाशन , इलाहाबाद, पृ. 413

20. डॉ० राममनोहर लोहिया: 'भारत में समाजवाद' (बुकलेट), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 1

21. वही, पृ. 2

22. संपा. ओंकार शरद 'लोहिया के विचार', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,पृ. 66

23. वही, पृ. 67

24. वही, पृ. 70

25. वही, पृ. 70

26. वही, पृ. 80

27. वही, पृ. 83

28. वही, पृ. 84

29. वही, पृ. 84

30. वही, पृ. 89

31. वही, पृ.90

32. वही, पृ. 91

33. वही, पृ. 92

34. आचार्य नरेंद्रदेव: 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', ज्ञानमंडल, वाराणसी,पृ. 267

35. वही, पृ. 273-274

36. वही, पृ. 280

37. वही, पृ. 282-283

38. वही, पृ. 284

39. विनोद भारद्वाज (संपा.) मेरे साक्षात्कार, कुंवर नारायण, ललित प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 4

40. हिंदी साहित्य कोश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 258

41. वही, पृ. 258

42. डॉ. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 221

43. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली, पृ. 36

44. माओ जे. दुंग, कला और साहित्य, ललित प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 29

45. माओ-जे. दुंग (अनु. नरेश नदीम), कला और साहित्य, ललित प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 31

46. लेनिन ग्रंथावली खण्ड- 2, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 117

47. माओ-त्से-दुंग, (अनु. नरेश नदीम) कला और साहित्य, ललित प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 35-36

48. वही, पृ. 40

49. वही, पृ. 37

50. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली, पृ. 265

51. संपा. नामवरसिंह आलोचना, त्रैमासिक, जनवरी-जून 1981, नई दिल्ली, पृ. 14

52. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली, पृ. 44

53. वही, पृ. 32

54. डॉ. रामनारायण शुक्ल, जनवाद समझ और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 14

55. संपा. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली- खण्ड- 5, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 76

56. हिंदी साहित्य कोश, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 257

57. संपा. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 76

58. रामनारायण शुक्ल, जनवादी समझ और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

59. संपा. कुंवरपाल सिंह, नमिता सिंह, वर्तमान साहित्य पत्रिका, संपादकीय, अनुराधा प्रकाशन, कानपुर, अंक फरवरी 2008, पृ. 80

60. मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली, पृ. 44

61. वही, पृ. 275

62. डॉ. इन्द्रबहादुर सिंह, जनवादी समीक्षा दृष्टि और जनवादी रचनाकार, पंचशील प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 24

63. चंद्रभूषण तिवारी, आलोचना की धारा, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली, पृ. 39

64. वही, पृ. 40

65. संपा. कुंवरपाल सिंह, साहित्य और राजनीति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 186

66. संपा. हिंदी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे, साठोत्तरी कहानी और जनवादी चेतना-लेख), पृ. 27

67. डॉ. रामविलास शर्मा, 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', निलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 95

68. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर', पंचशील प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 165

69. डॉ. रामविलास शर्मा, 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 12

70. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास', सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 138

71. वही, पृ. 257

72. वही, पृ. 266

73. रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास',वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 314

74. डॉ. रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली, पृ. 350

75. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20-21

76. वही, पृ. 48

77. वही, पृ. 53

78. वही, पृ. 59-60

79. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 91

80. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 54

81. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 156

82. डॉ. शिवकुमार मिश्र, 'प्रगतिवाद' लोकभारती प्रकाशन, कानपुर, पृ. 17

83. वही, पृ. 54

84. वही, पृ. 72

85. वही, पृ. 93

86. वही, पृ. 115

87. सुरेंद्र प्रसाद, हिंदी की प्रगतिवादी कविता, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहबाद, पृ. 45

88. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास',नेशनल पब्लिशिंग, नई दिल्ली, पृ. 95

89. मुक्तिबोध, नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 37

90. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास', सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 143

91. वही, पृ. 210

92. वही, पृ. 216

93. मुक्तिबोध, अंधेरे में, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

94. मुक्तिबोध, चकमक की चिंगारियॉं, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 21

95. मुक्तिबोध, अंधेरे में, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

96. वही, पृ. 23

97. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 59

98. डॉ. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद', लोकभारती प्रकाशन,कानपुर, पृ. 234

99. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 121

द्वितीय अध्याय -

1. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी सहित्य का इतिहास, नैशनल पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली, पृ. 402

2. वही, पृ. 403

3. डॉ. विनयकुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, लोकप्रभा प्रकाशन, दिल्ली,पृ. 77

4. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

5. डॉ. विनयकुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 57

6. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी सहित्य का इतिहास, नैशनल पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली, पृ.410

7. वही, पृ. 411

8. डॉ. पुरूषोत्तम उपाध्याय, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 67

9. डॉ. सधीरकुमार श्रीवास्तव, हिंदी साहित्य का विकास, लोकप्रभा प्रकाशन, दिल्ली,पृ. 49

10. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, नटराज प्रकाशन, दिल्ली,पृ. 32

11. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.53

12. डॉ. विनयकुमार पाठक,हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, लोकप्रभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ.32

13. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र,उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 29

14. वही, पृ.39-40

15. वही, पृ.56

16. वही, पृ.56

17. वही, पृ.57

18. डॉ. विनयकुमार पाठक,हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, लोकप्रभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ.32-33

19. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, पृ.13-14

20. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.41

21. वही, पृ.45

22. वही, पृ.133

23. वही, पृ.54

24. वही, पृ.133

25. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, पृ.19

26. कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर-आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नमन प्रकाशन, दिल्ली पृ.84

27. वही, पृ.30

28. वही, पृ.40

29. कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर-आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नमन प्रकाशन, दिल्ली पृ.83

30. वहीं, पृ. 74

31. सं.देवशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.17

32. डॉ. विष्णुस्वरूप, नया साहित्य: कुछ पहलू, नवप्रभा प्रकाशन, कानपुर, पृ. 5

33. अमृतराय, आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा, 'विकल्प' (प्रवेशांक) मई 1967, पृ. 32

34. लक्ष्मीकांत वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, पृ.265

35. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, नयी कविता और काव्य में स्थायी मूल्यों का प्रश्न, 'माध्यम', फरवरी 1968, पृ. 33

36. डॉ. हुकुमचंद राजपाल, विविध बोध: नये हस्ताक्षर-युगबोध:आधुनिक युगबोध तथा आधुनिकता बोध, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.101

37. डॉ. नगेंद्र-साहित्य: नया और पुराना-नवप्रकाशित आलोचनात्मक ग्रंथ, लोकप्रभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ.216

38. डॉ. रमेश कुंतल मेघ- 'आधुनिक बोध और आधुनिकीकरण', नवप्रभा प्रकाशन, कानपुर, पृ. 135

39. डॉ.कुमार विमल - अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य', रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 293

40. डॉ. रामधारीसिंह 'दिनकर''आधुनिक बोध', सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.75

41. डॉ. कुमार विमल, अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 229

42. डॉ. नगेन्द्र, नया साहित्य नये संदर्भ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 23

43. रमेश शंकर उपाध्याय, नयी कविता सीमाएँ एवं संभावनाएँ, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 67

44. त्रिलोचन, धरती, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 15

45. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ .112

तृतीय अध्याय -

1. डॉ. अनवकीर्ती तिवारी, समकालीन प्रतिनिधि कवि, साहित्य रत्नालय, कानपुर, 1995, पृ.91

2. शमशेर बहादुर सिंह, मेरे कुछ आधुनिक कवि, लोकप्रभा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 88

3. वही, पृ. 89

4. वही, पृ. 89

5. त्रिलोचन, दिगंत-1957, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ 29

6. वही, पृ. 29

7. शमशेर बहादुर सिंह, मेरे कुछ आधुनिक कवि, स्थापना 7, सितंबर 1970, लोकप्रभा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 88

8. त्रिलोचन शास्त्री, डायरी के पृष्ठ, घरावल-5, सितंबर 1978, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 51

9. त्रिलोचन शास्त्री, डायरी के पृष्ठ, घरावल-5, जून 1979, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ.44

10. त्रिलोचन शास्त्री, उस जनपद का कवि हूँ- 1981, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 42

11. स्मारिका, महत्व त्रिलोचन, 5-6 जून 1982, इन्दौर, पृ.4

12. विश्वनाथ मुखरजी, शास्त्रीजी मेरी नजरों में, स्थापना-6 अगस्त 1970, लोकप्रभा प्रकाशन दिल्ली, पृ. 84

13. स्मारिका, महत्व त्रिलोचन, 5-6, जून 1982, इन्दौर, पृ.7

14. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 88-89

15. शमशेर जी का मौखिक संस्मरण, 10 जनवरी 1983, साहित्य रत्नालय, उज्जैन, पृ.4

16. लक्ष्मीशंकर श्रेष्ठ, त्रिलोचन-दृष्टिदोष के चश्मे से, स्थापना 6 अगस्त 1970, लोकप्रभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 72

17. शिवप्रसाद सिंह, पौधा निर्वाक खड़ा है, स्थापना-6 अगस्त 1970, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 86

18. नंदकिशोर नवल, बनारस की डायरी, स्थापना 7, राजकमल प्रकाशन , कानपुर, पृ. 42

19. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ- 1981, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 11

20. वही, पृ. 11

21. विश्वनाथ मुखरजी, शास्त्रीजी मेरी नजरों में, स्थापना-6 अगस्त 1970, लोकप्रभा प्रकाशन दिल्ली, पृ. 82

22. शिवप्रसाद सिंह, पौधा निर्वाक खड़ा है, स्थापना-6 अगस्त 1970, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 89

23. वही, पृ. 89

24. विवरणिका, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जून-1981,इंदौर, पृ. 4

25. शिवप्रसाद सिंह, पौधा निर्वाक खड़ा है, स्थापना-6 अगस्त 1970, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 89

26. उमेशचन्द्र मिश्र, प्रगतिवादी काव्य-1966, राजकमल प्रकाशन , कानपुर, पृ. 248

27. डॉ. रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, स्थापना-8, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 85

28. फणीश्वरनाथ रेणु, अपने-अपने त्रिलोचन, स्थापना-7, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ 26

29. डॉ. रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, स्थापना-8, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 85

30. डॉ. कृष्णलाल हंस, प्रगतिवादी काव्य साहित्य-1971, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 49

31. शमशेर बहादुर सिंह, मेरे कुछ आधुनिक कवि, स्थापना-7, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 83

32. फणीश्वर नाथ रेणु, अपने-अपने त्रिलोचन, स्थापना-7, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 23

33. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

34. नेमीचन्द्र जैन द्वारा संपादित 'मुक्तिबोध रचनावली-भाग 5', राजकमल प्रकाशन-1980, दिल्ली, पृ.375

35. ओम भारती, 'जीवनसंघर्ष एवं जीवन सौन्दर्य के कवि त्रिलोचन', नमन प्रकाशन, इन्दौर, पृ. 4

36. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20

37. रामेश्वर शर्मा, राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 121

38. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 84

39. नेमीचन्द्र जैन द्वारा संपादित 'मुक्तिबोध रचनावली-भाग 5', राजकमल प्रकाशन-1980, दिल्ली, पृ. 231

40. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, स्थापना-6, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 12

41. वही, पृ. 14

42. उमेश चन्द्र मिश्र, 'प्रगतिवादी काव्य-1966, साहित्यलोक प्रकाशन, कानपुर, पृ. 249

43. त्रिलोचन, दिगंत-1957, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 25

44. त्रिलोचन, 'कुछ शब्द', 'ताप के ताये हुए दिन', परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 9

45. ओम भारती, 'प्रेम, प्रकृति और पीड़ा का कवि त्रिलोचन, नयी दुनिया, 6 जून, 1882,कानपुर, पृ. 7

46. त्रिलोचन 'कुछ शब्द', ताप के ताये हुए दिन, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 9

47. परमानंद श्रीवास्तव, 'ताप के ताये हुए दिन' (त्रिलोचन), अभिरुचि, फरवरी 1981, पृ. 54

48. त्रिलोचन, अरधान-1984,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 26

49. वही, पृ. 123

50. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ-1985, साहित्यलोक प्रकाशन, कानपुर, पृ. 8

51. वही, पृ. 88]

52. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ-1985, साहित्यलोक प्रकाशन, कानपुर, पृ. 20-21

53. त्रिलोचन, फूल नाम है एक-1895, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 7

54. वही, पृ. 48

55. वही, पृ. 77

56. वही, पृ. 103

57. वही, पृ. 68

58. वही, पृ. 52

59. वही, पृ. 64

60. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 71

61. वही, पृ. 77

62. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 15

63. त्रिलोचन, चैती-1987, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद पृ.13

64. वही, पृ. 27

65. वही, पृ. 33

66. वही, पृ. 35

67. विश्वनाथ त्रिपाठी, अमोला, आवरण लेख,साहित्यलोक प्रकाशन, कानपुर, पृ. 2

68. त्रिलोचन, अमोला-1990, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद पृ.27

69. भारतीय साहित्य के निर्माता 'त्रिलोचन' (रेवतीरमण) 'साहित्य अकादमी' (पुनर्मुद्रण 2014 एवं 16), दिल्ली, पृ. 105

70. वही, पृ. 105

71. कवि त्रिलोचन, डॉ.अजीत प्रियदर्शी, प्रथम संस्करण-2012, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, पृ. 81

72. वही, पृ. 81

73. सं.ध्रुव शुक्ल, त्रिलोचन संचयिता, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- आवृत्ति-2012, पृ. 124

74. वही, पृ. 126

75. वही, पृ. 129

76. वही, पृ. 132

77. वही, पृ. 134

78. वही, पृ. 137

79. भारतीय साहित्य के निर्माता त्रिलोचन (रेवतीरमण), साहित्य अकादमी पुनर्मुद्रण, दिल्ली 2016,पृ. 110

80. गोविन्द प्रसाद, त्रिलोचन के बारे में, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 22

81. डॉ. प्रभाकर क्षत्रिय, कालत्रयी है कविता, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 119

82. सं.ध्रुव शुक्ल, त्रिलोचन संचयिता,'आँसू बाँधे है मैंने गठरिया में'(सबका अपना आकाश-1962), संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 395

83. वही, पृ. 395

84. वही, पृ. 217

85. डॉ. प्रताप सिंह, त्रिलोचन का काव्यलोक, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 32

86. वही, पृ. 35

87. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश(1948), अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 17

88. डॉ. प्रताप सिंह, त्रिलोचन का काव्यलोक, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 76

89. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश(1948), अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 19

90. डॉ. प्रताप सिंह, त्रिलोचन का काव्यलोक, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 76

91. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 39

92. डॉ. प्रभाकर श्रत्रिय - 'कालत्रयी है कविता', संस्करण-2011, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.119

93. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ.118

94. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश (1948), अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 55

95. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ.87

96. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश (1948), अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-13

97. त्रिलोचन, धरती-1977, रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ.30

98. ओमप्रकाश सिंह (सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली - 3, लिपि प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 104-105

99. दुष्यंत कुमार, 'साये में धूप', प्रगति प्रकाशन, आगरा, पृ. 13

100. शमशेर बहादुर सिंह, रंजना अरगड़े (सं.) 'सुकून की तलाश', विभूति प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 43

101. त्रिलोचन, 'गुलाब और बुलबुल', रूपाभ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 28-29

102. दिविक रमेश, नए कवियों के काव्य-शिल्प- सिद्धांत, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 376

103. सं. अवधेश प्रधान, काव्य और अर्थबोध, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.50)

104. त्रिलोचन, सर्वनाम (1991), सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 21

105. वही, पृ.8

106. वही, पृ.53

107. सं. अवधेश प्रधान, काव्य और अर्थबोध, स्वराज प्रकाशन, वाराणसी, पृ.79

108. सॉनेट-त्रिलोचन शास्त्री, राजकमल प्रकाशन , नयी दिल्ली, आवृत्ति-1985, पृ. 89

109. वही, पृ.102

110. वही, पृ. 108

111. वही, पृ.109

112. वही, पृ.123

113. आलोचना, अमन प्रकाशन, दिल्ली, जुलाई-सितंबर-1987, पृ. 7

114. वही, पृ.10

115. वही, पृ. 12

116. वही, 24

117. कमलाकान्त द्विवेदी, दिविक रमेश, साक्षात् त्रिलोचन, स्वराज प्रकाशन, वाराणसी, पृ.२७-२८

118. संस्थापक-जीवनप्रकाश जोशी, संधान-6, 1983, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.10

119. आलोचना, अंक 82, जुलाई-सितम्बर1987, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 26

120. सं.केदारनाथ अग्रवाल, 'प्रतिनिधि कविताएँ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 42

121. कमलाकान्त द्विवेदी, दिविक रमेश, साक्षात् त्रिलोचन, स्वराज प्रकाशन, वाराणसी, पृ.149-50

122. सं.राजेश जोशी, 'ताप के ताए हुए दिन', साहित्य वाणी, पुराना अल्लापुर, पृ. 28

123. वही, पृ. 33

124. वही, पृ. 109

125. 'दिगन्त'-त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.8

126. सं. डॉ. मंजुल उपाध्याय, अथातो काव्य जिज्ञासा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 104-105

127. अजीत प्रियदर्शी, कवि त्रिलोचन, साहित्य भंडार-50, चाहचन्द, इलाहाबाद, पृ. 197

128. त्रिलोचन, अरधान, संस्करण 1997, विनय प्रकाशन, जौनपुर, पृ.66

129. अजीत प्रियदर्शी-कवि त्रिलोचन,विष्णुदत्त शर्मा से साक्षात्कार आजकल में प्रकाशित, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 197

130. वही, पृ. 200

चतुर्थ अध्याय -

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 210

2. रामविलास शर्मा,भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.14

3. वही, पृ. 18

4. वहीं पृ. 19

5. वहीं पृ. 20

6. वही, पृ. 168

7. बालकृष्ण भट्ट निबंध संग्रह, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, पटना, पृ.5

8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, संस्करण 2004, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 85

9. डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, पृ. 234

10. वही, पृ. 237

11. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ.104

12. वही, पृ. 105

13. वहीं, पृ. 120

14. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण 2002, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ.319

15. वही, पृ. 320

16. वही, पृ. 324

17. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 98

18. वही, पृ. 111

19. ओमप्रकाश सिंह(सं.),भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2,विश्वभारती पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, पृ.154

20. रामविलास शर्मा, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली, पृ.108

21. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली -1, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ.57

22. वही, पृ. 67

23. वही, पृ. 71

24. ओमप्रकाश सिंह(सं.),भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2,विश्वभारती पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, पृ.123

25. वही, पृ. 125
26. डॉ.नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, संस्करण 1991, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 124
27. वही, पृ. 128
28. ओमप्रकाश सिंह(सं.), भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली -1, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ.103
29. ओमप्रकाश सिंह(सं.),भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली-2,विश्वभारती पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, पृ.159
30. वही, पृ. 162
31. डॉ.नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 135
32. वही, पृ. 143
33. रामविलास शर्मा, द्विवेदी युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 27
34. वही, पृ. 18
35. वही, पृ. 121
36. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अठारहवां संस्करण: 2005, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 385
37. वही, पृ. 386
38. रामविलास शर्मा, रीतिकालीन संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2004, पृ. 85
39. वही, पृ. 126
40. डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण 1975, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 342
41. वही, पृ. 343
42. रामचंद शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण 2002, पृ. 351
43. डॉ. लक्ष्मीनारायण 'चातक', आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, संस्करण 2009, विश्वभारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ 62
44. वही, पृ.76
45. वही, पृ.79
46. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, संस्करण 2005, नई दिल्ली, पृ. 494

47. वही, पृ. 501

48. वही, पृ. 516

49. डॉ. लक्ष्मीनारायण 'चातक', आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, संस्करण 2009, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, ,पृ. 48

50.गंगाप्रसाद विमल, छायावादी काव्य-चेतना, संस्करण 1998, किताबघर प्रकाशन,नई दिल्ली, पृ. 49

51. वही, पृ. 52

52. सुमित्रानंदन पंत, छायावाद पुनर्मूल्यांकन,लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद,संस्करण 2009, पृ. 79

53. वही, पृ. 81

54. वही, पृ. 87

55. वही, पृ. 92

56. वही, पृ. 112

57. डॉ. विनयमोहन शर्मा, साठोत्तरी कविता में जनवादी चेतना, संस्करण 1992, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 73

58. वही, पृ. 123

59. वही, पृ. 157

60. सं. वाचस्पति पाठक, छायावादी कवि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएँ, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ. 75

61. वही, पृ. 87

62. वही, पृ. 88

63. वही, पृ. 88

64. वही, पृ. 135

65. सं. वाचस्पति पाठक, छायावादी कवि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएँ, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ. 88

66. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, संस्करण 2005, नई दिल्ली, पृ. 121

67. डॉ. लक्ष्मीनारायण 'चातक',आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, संस्करण 2009, विश्वभारती पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, पृ 79

68. वही, पृ. 111

69. श्रीरामप्रसाद द्विवेदी, प्रगतिवादी विचारधारा, लोकभारती प्रकाशन, कानपुर, पृ. 85

70. वही, पृ. 132

71. वही, पृ. 140

72. वही, पृ. 142

73. डॉ. हरनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और विकास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2000,पृ 20

74. वही, पृ. 33

75. डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. हरदयाल, नेशनल पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 342

76. वही, पृ. 65

77. डॉ. हरनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और विकास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2000,पृ 51

78. वही, पृ. 63

79. श्रीरामप्रसाद त्रिवेदी, प्रगतिवादी समीक्षात्मक काव्य, विश्वभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001,पृ. 85

80. वही, पृ. 121

81. वही, पृ. 133

82. प्रगतिवादी काव्यधारा का विकास, जगदीश चतुर्वेदी, युगबोध प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1984, पृ. 97

83. वही, पृ. 124

84. शिवदान सिंह चौहान, काव्यधारा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, पृ. 44

85. सं. अज्ञेय, तार सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, संस्करण 1984, पृ. 278

86. वही, पृ. 278

87. वही, पृ. 280

88. शिवदान सिंह चौहान, काव्यधारा, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1990, पृ. 46

89. स.ही.वात्सायन अज्ञेय, तार सप्तक (चतुर्थ संस्करण), सरस्वती प्रकाशन, नई दिल्ली,

संस्करण 1885, पृ. 270

90. डॉ.नरेंद्र सिंह, हिंदी साहित्य युग और धारा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2001, पृ.496

91. वही, पृ. 496

92. वही, पृ.496

93. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ.480

94. डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य विवेचनात्मक इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 1997, पृ. 480

95. वही, पृ. 464

96. वही, पृ. 464

97. वही, पृ. 465

98. वही, पृ. 465

99. वही, पृ. 467

100. डॉ. शिवकुमार शर्मा, तार-सप्तक, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2001, पृ. 282

101. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ.485

102. वही, पृ. 486

103. वही, पृ. 236

104. डॉ. संजय रणखांबे, हिंदी साहित्य वैविधता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001,पृ.235

105. वही, पृ. 240

106. अज्ञेय-तार सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1999, पृ. 282

107. जयशंकर माथुर, छायामत छूना मन, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 33

108. अग्रवाल, तार-सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991, पृ. 91

109. अज्ञेय-तार सप्तक, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1999, पृ. 97

110. डॉ. अनुराधा शर्मा, हिंदी साहित्य युग और धारा, विश्वभारती पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण-

2007, पृ. 386

111. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ.296

113. अज्ञेय, हवाई यात्रा, वाणी प्रकाशन, संस्करण 1985, नयी दिल्ली, पृ. 17

114. डॉ.नरेंद्र सिंह, हिंदी साहित्य युग और धारा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2001, पृ.396

115. डॉ. सुजरबाला दीक्षित, हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, अमन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ. 231

116. वही, पृ. 232

117. वही, पृ. 234

118. डॉ. माधवप्रसाद गुप्त, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ.392

119. वही, पृ. 392

120. डॉ. सुजरबाला दीक्षित, हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, अमन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ.259

121. डॉ.नरेंद्र सिंह, हिंदी साहित्य युग और धारा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2001, पृ.399

122. स. कलिका प्रसाद, बृहत् हिन्दी कोष, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1993, पृ.160

123. वही, पृ. 165

124. डॉ. विश्वबन्धु शर्मा, साठोत्तरी हिन्दी कविता, अमन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2004, पृ. 87

125. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा तथा डॉ. रामनिवास गुप्त, हिन्दी साहित्य का इतिहास, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1993, पृ. 360

126. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, विद्या प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण- 2000, पृ. 94

127. स. डॉ. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1995, पृ. 120

128. नई कविता एक साक्ष्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -1994, पृ. 45

129. आधुनिकता व हिंदी साहित्य, इंद्रनाथ मदान, नवप्रभा प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-1997, पृ. 88

130. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.33

131. वही, पृ. 35

132. वही, पृ.65

133. सव्यसाची-'सुबह होने से पहले', सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2001, पृ. 14

134. एक कण्ठ विषपायी, दुष्यन्त कुमार, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1995, पृ. 17

135. धूमिल, संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1992, पृ.14

136. नरेश मेहता- 'प्रसाद पर्व', अक्षर प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2007, पृ. 18

137. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना- 'जंगल का दर्द', अक्षर प्रकाशन, कानुपर, संस्करण- 2003, पृ. 11

138. श्रीकांत वर्मा- 'जलता घर', नवप्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2010, पृ. 22

139. मुक्तिबोध, 'चांद का मुँह टेढ़ा है', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 13

140. वही, पृ. 27

141. जगदीश गुप्त-'हिम बिद्ध', वसुमति प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2005, पृ. 18

142. गंगाप्रसाद विमल, 'विजय', किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2007, पृ. 25

143. भवानी प्रसाद मिश्र, 'अंधेरी कविताएँ', भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण 2004, पृ.45

144. लीलाधर जगुड़ी, 'नाटक जारी है', अक्षर प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2006, पृ. 22

145. गिरिजाकुमार माथुर, 'भीतरी नदी की यात्रा', किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2003, पृ. 16

146. शमशेर, 'कुछ और कविताएँ', वसुमति प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2003, पृ. 17

147. धूमिल-'संसद से सड़क तक', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1992, पृ. 23

148. लक्ष्मीकान्त वर्मा, 'तीसरा पक्ष', अक्षर प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2004, पृ. 19

149. धूमिल-'संसद से सड़क तक', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1992, पृ. 51

150. श्रीकांत वर्मा- 'जलता घर', नवप्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2010, पृ. 57

151. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. 76

152. श्रीहरि दामोदर, लकीरें, नवप्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2006, पृ. 44

153. अवधेश कुमार-'चौथा सप्तक', राजकमल प्रकाशन, नई दिली, संस्करण 2001, पृ.39

154. वही, पृ. 40

155. धूमिल-'संसद से सड़क तक', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1992, पृ.88

पंचम अध्याय -

1. मंगल किशोर पाण्डेय, हंस, 1946, जुलाई अंक, पृ. 12

2. डॉ. कुंवरपाल सिंह, ब्रजगरिमा (मथुरा). फरवरी-मार्च 1991. पृ. 30

3. त्रिलोचन शास्त्री, 'अनकहनी भी कुछ कहनी है', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 75

4. आर. एन. सिंह, व्यष्टि अर्थशास्त्र, अक्षर प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1985, पृ. 19

5. पंडित जगन्नाथ, नागार्जुन का काव्य और युग अन्तः सम्बन्धों का अनुशीलन, राधाकृष्ण प्रकाशन,संस्करण 1997, दिल्ली, पृ. 46

6. डॉ. संतोष शर्मा, प्रगतिशीलता की कसौटी पर त्रिलोचन, किताबघर प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 1999, पृ.6

7. त्रिलोचन-'धरती', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 90

8. त्रिलोचन-'धरती', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 97

9. त्रिलोचन, 'गुलाब और बुलबुल', वसुमति प्रकाशन, संस्करण1983, पृ. 103

10. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 98

11. डॉ. संतोष शर्मा, 'प्रगतिशीलता की कसौटी पर त्रिलोचन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 149

12. त्रिलोचन, 'नये जीवन का अमृत', सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1992, पृ.14

13. वही, पृ. 15

14. त्रिलोचन, 'मेरा घर', लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2001, पृ.31

15. त्रिलोचन, ' मैं उस जनपद का कवि हूँ', राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1992, पृ. 93

16. वही, पृ. 97

17. वही, पृ. 97

18. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ.14

19. त्रिलोचन का काव्य लोक- डॉ. प्रताप सिंह, विश्वभारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ.128

20. मार्क्स ऐंगल्स, दा जर्मन आइडियोलोजी, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007, पृ. 13

21. सम्पादक, श्याम सुन्दर दास, हिन्दी शब्द सागर, भाग-7, युगबोध प्रकाशन,वाराणसी, संस्करण 1974 पृ. 272

22. स.डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश भाग-1,लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991,पृ. 288

23. त्रिलोचन,'चैती', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 16

24. 'चैती'- त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 55

25. त्रिलोचन,मैं उस जनपद का कवि हूँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

26. त्रिलोचन, धरती- 'भोरई केवट के घर', विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 96

27. वही, पृ. 98

28. त्रिलोचन, सॉनेट- 'कस्मै देवाय', लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.56

29. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 98

30. त्रिलोचन, मैं उस जनपद का कवि हूँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 87

31. गिडिंग्स, समाजशास्त्र के सिद्धांन, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ. 160

32. दिविक रमेश, साक्षात् त्रिलोचन, किताबघर प्रकाशन, इलाहबाद, पृ. 130

33. त्रिलोचन, फूल नाम है एक, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 98

34. स. रामचन्द्र वर्मा, संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1992, पृ. 111

35. डॉ. उर्मिल गंभीर, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, अमन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2001, पृ. 29

36. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 97

37. वही, पृ. 97

38. वही, पृ. 14

39. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 96

40. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 98

41. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 35

42. वही, पृ. 92

43. त्रिलोचन, मैं उस जनपद का कवि हूँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 29

44. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 28

45. वही, पृ. 29

46. वही, पृ. 20

47. त्रिलोचन-'अरघान', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.79

48. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 96

49. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 17

50. मंजुलता सिंह, हिन्दी उपन्यासों में मध्य वर्ग, विद्याभारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 4

51. डॉ. श्यामसुन्दरदास, हिन्दी शब्द सागर, विद्या प्रकाशन, संस्करण -1993, कानपुर, पृ. 212

52. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 82

53. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 55

54. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 82

55. वही, पृ. 92

56. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 61

57. त्रिलोचन, फूल नाम है एक, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 78

58. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 96

59. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 102

60. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 93

61. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 96

62. सं. केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन प्रतिनिधि कविताएँ, विश्वभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2004, पृ. 52

63. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 40

64. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 105

65. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20

66. त्रिलोचन, अरधान, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 44

67. त्रिलोचन-'धरती', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. 108

68. वही, पृ. 112

69. त्रिलोचन, शब्द, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 19

70. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 16

71. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

72. त्रिलोचन, दिगंत, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

73. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 41

74. सं.केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.35

75. वही, पृ.35

76. वही, पृ.36

77. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएँ, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ.32

78. वही, पृ. 33

79. गोबिन्द प्रसाद, कविता के सम्मुख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 127

80. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएं, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 34

81. वही, पृ. 34

82. वही, पृ. 16

83. वही, पृ. 18

84. ध्रुव शुक्ल, त्रिलोचन संचयिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 10

85. वही, पृ. 11

86. वही, पृ. 11

87. त्रिलोचनः प्रतिनिधि कविताएँ, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वही, पृ. 20

88. वही, पृ. 23

89. वही, पृ. 25

90. वही, पृ. 29

91. वही, पृ. 73

92. गोविन्द प्रसाद, कविता के सम्मुख, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, वही, पृ. 100

93. वही, पृ. 101

94. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, वही, पृ. 17

95. त्रिलोचन, चैती, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 55

षष्ठ अध्याय -

1. कालिका प्रसाद, वृहत हिंदी कोश, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 135-36

2. मूल स. रामचन्द्र वर्मा, सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 345

3. बादाम सिंह रावत, साठोत्तरी हिन्दी कविता में वस्तु चेतना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 16

4. गोबिन्द सिंह, महादेवी वर्मा के काम में सौन्दर्य भावना, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 172

5. गोविन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 203

6. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता,संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 71

7. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1888, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 38-40

8. त्रिलोचन, जीने की कला, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

9. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20

10. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ.197

11. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 99

12. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 74

13. गोबिंद प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 88

14. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, किताबघर प्रकाशन, इलाहबाद, पृ.133

15. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.36

16. त्रिलोचन, दिगन्त, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

17. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1966, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 261

18. त्रिलोपन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 48-49

19. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.71

20. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1999, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ.40

21. त्रिलोचन, धरती, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 74

22. वही, पृ. 106

23. वही, पृ.108-106

24. त्रिलोचन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 28

25. वही, पृ. 22

26. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

27. वही, पृ. 15-16

28. त्रिलोचन, अरघान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 27

29. वही, पृ. 31-32

30. वही, पृ. 58-59

31. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 28-29

32. त्रिलोचन, जीने की कला, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 14

33. वही, पृ. 26-27

34. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 66-67

35. वही, पृ. 17

36. वही, पृ. 18

37. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 112-113

38. वही, पृ. 115

39. वही, पृ. 113

40. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 37

41. वही, पृ. 29

42. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 103

43. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 64

44. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1999, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 134

45. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 24

46. वही, पृ. 59

47. त्रिलोचन, जीने की कला, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.16

48. त्रिलोचन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 53

49. वही, पृ.74

50. त्रिलोचन, अरघान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.74

51. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ.51

52. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 25

53. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

54. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 133

55. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 121

56. त्रिलोचन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 45

57. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.17

58. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 210

59. अनंत मिश्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 269

60. चक्रधर शर्मा, काव्यात्मक शैलियां, साकेत प्रकाशन 2003, कानपुर, पृ. 42

61. वही, पृ. 43

62. वही, पृ. 51

63. सापेक्ष, जुलाई-सितंबर 1999, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 105-106

64. त्रिलोचन, धरती, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 97

65. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 59

66. त्रिलोचन, तुन्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 61

67. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 24

68. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील धारा और त्रिलोचन, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.143

69. त्रिलोचन, जीने की कला, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 43

70. त्रिलोचन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20

71. त्रिलोचन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ.68-70

72. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18

73. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

74. त्रिलोचन, अरघान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 32-33

75. हरिप्रसाद पाण्डेय, नयी कविता की भाषा: काव्य शास्त्रीय सन्दर्भ में, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.141

76. वही, पृ. 142-143

77. सापेक्ष, जुलाई-सितंबर 1996, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ.235

78. त्रिलोचन, ताप के साये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.55

79. त्रिलोचन, जीने की कला, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20

80. वही, पृ. 39
81. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20
82. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 26
83. त्रिलोचन, मेरा घर, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 25
84. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 62
85. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 28
86. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 438
87. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 43
88. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता है, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 55
89. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 19
90. सच्चिदानन्द वात्स्यायन (सं०), समकालीन कविता में छन्द, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.106
91. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, 1966, पृ. 27
92. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 135-136
93. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ.138
94.सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1999, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ.171
95. वही, पृ. 234
96. वही, पृ. 239
97. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ.153
98. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ.32
99. गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 21
100. सापेक्ष,जुलाई-सितंबर 1999, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 328
101. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 66
102. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 23
103. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 28
104. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 136
105. वही, पृ. 139

106. त्रिलोचन, धरती, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 26

107. ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिता, संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 129

108. वही, पृ. 347

109. वही, पृ. 350

110. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशीत काव्यधारा और त्रिलोचन, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 140

111. सापेक्ष, जुलाई-सितंबर, 1999, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 138

112. त्रिलोचन, अरधान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 41

113. वही, पृ. 51

114. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 27

115. त्रिलोचन, दिगन्त, अमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 33

सप्तम अध्याय -

1. सं. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली- खण्ड- 5, सरस्वती प्रकाश, दिल्ली, पृ. 76

2. रमेश शंकर उपाध्याय, नयी कविता सीमाएँ एवं संभावनाएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 67

3. त्रिलोचन, सबका अपना आकाश, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ.12

4. डॉ. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, शुभम पब्लिकेशन, कानपुर, संस्करण 2009, पृ. 120

5. वही, पृ. 73

6. गोविन्द प्रसाद, कविता के सम्मुख, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. 100

7. वही, पृ. 101

8. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वही, पृ. 17

9. त्रिलोचन, चैती (1987), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 55

10. सापेक्ष, जुलाई-सितम्बर 1888, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 38-40

11. त्रिलोचन, जीने की कला, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30

12. त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20

13. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.133

14. त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 64

15. हरिनिवास पाण्डेय, प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ.143

8.1 मूल कविता संग्रह :-

- केदारनाथ सिंह (सं.), त्रिलोचन प्रतिनिधि कविताएं (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985)
- त्रिलोचन, धरती (निलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977)
- त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985)
- त्रिलोचन, दिगंत (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006)
- त्रिलोचन, ताप के ताये हुए दिन (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004)
- त्रिलोचन, शब्द (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980)
- त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूँ (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982)
- त्रिलोचन, अरघान (यात्री प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983)
- त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985)
- त्रिलोचन, तुम्हें सौंपता हूँ (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985)
- त्रिलोचन, फूल नाम है एक (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985)
- त्रिलोचन, चैती (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987)
- त्रिलोचन, अमोला (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990)
- त्रिलोचन, मेरा घर (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002)
- त्रिलोचन, जीने की कला (किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004)

8.2 आलोचनात्मक ग्रंथ :-

- अशोक वाजपेयी (सं.), कविता का जनपद (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दल्ली, 1992)
- अजीत सिंह, प्रगतिवादी काव्य: उद्भव और विकास (साहित्यलोक, कानपुर, 1984)
- अनन्त मिश्र, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता (प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1987)
- आशा गुप्ता, खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना (नेशनल, दिल्ली, 1973)
- उमेशचन्द्र मिश्र, प्रगतिवादी काव्य (ग्रन्थम, रामबाग कानपुर 1966)
- कान्ति, नई कविता (मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972)
- कुमारेन्द्र पारस नाथ सिंह, काव्य भाषा का वाम पक्ष (विभूति प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986)
- कुमार कृष्ण, कविता की सार्थकता (साहित्य निपि, दिल्ली, 1986)
- कुमार कृष्ण, समकालीन साहित्य: विविध संदर्भ (प्रमा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984)

- कुमार कृष्ण, समकालीन कविता का बीजगणित (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004)
- गोविन्द प्रसाद, कविता के समुख (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002)
- गोबिन्द प्रसाद (सं.), त्रिलोचन के बारे में (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994)
- चन्द्रकला, आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद (मंगल प्रकाशन, जयपुर,1999)
- छेदीलाल पाण्डेय, छायावादोतर काव्यशिल्प (स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976)
- जगदीश चतुर्वेदी, दस्तावेज (वसुंधरा पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1980)
- जगदीश चतुर्वेदी (सं.), आधुनिक हिन्दी कविता (दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, 1975)
- जगदीश कुमार, नयी कविता की चेतना (सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1972)
- जगदीश कुमार, नयी कविता बिलायती सन्दर्भ (सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1976)
- जगदीश गुप्त, नयी कविता स्वरूप और समस्याएं (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1999)
- जार्ज थामसन, मार्क्सवाद और कविता (चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985)
- जीवनप्रकाश जोशी, त्रिलोचन की कविता यात्रा (संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983)
- तनूजा तिवारी, प्रगतिशील कविता में सौन्दर्य चिन्तन (भारतीय भाषापीठ, नई दिल्ली, 1987)
- दुर्गा प्रसाद झाला, प्रगतिशील हिन्दी कविता (ग्रन्थम, रामबाग कानपुर, 1997)
- द्वारिका प्रसाद सक्सेना, कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन (विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1993)
- नन्ददुलारे वाजपेयी नई कविता (प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली १६६०)
- नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां (नेशनल पब्लिशिंग दिल्ली 1966)
- नरेश, आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू के तत्व (राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1973)
- नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1986)
- निर्मला जैन, आधुनिक हिन्दी काव्य स्वरूप और संरचना (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1984)
- बादाम सिंह रावत, साठोतरी हिन्दी कविता की वस्तु चेतना (गिरनार प्रकाशन, गुजरात, 1984)
- बापूराव देसाई, स्वातन्त्र्योतर हिन्दी काव्य विधाएँ (विकास प्रकाशन, कानपुर, 2002)
- भक्तराज शास्त्री, आधुनिक हिन्दी काव्य और संस्कृति (चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, 1996)
- मलयज, कविता से साक्षात्कार (संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1979)
- मनोरमा प्रकाश, आधुनिक हिन्दी कविता पर कबीर का प्रभाव (राधा पब्लिकेसन्स, नई दिल्ली, 1992)
- रजनी सक्सेना, आधुनिक हिन्दी काव्य में पथिक भावना (चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984)
- रणजीत सिंह, हिन्दी की प्रगतिशील कविता (हिन्दी साहित्य संसार प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली, 1971)

- रमाशंकर तिवारी, प्रयोगवादी काव्यधारा (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964)
- राजीव सक्सेना (सं.), हिन्दी प्रगतिशील कविताएं स्वतन्त्रता प्राप्ति तक (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986)
- राजेन्द्र मिश्र, आधुनिक हिन्दी काव्य (ग्रन्थम, रामबाग कानपुर, फरवरी, 1966)
- राजेन्द्र मोहन भटनागर, आधुनिक हिन्दी कविता और विचार (भारतीय ग्रन्थ निकेतन, नई दिल्ली, 1987)
- रामस्वरूप, हिन्दी काव्य-संवेदना का विकास (लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003)
- रामदरश मिश्र, हिन्दी कविता आधुनिक आयाम (वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1975)
- रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तितत्ववाद (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1978)
- सन्तोष कुमार तिवारी, नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर (जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1980)
- सम्पत ठाकुर, हिन्दी की मार्क्सवादी कविता (प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978)
- सविता भार्गव, कवियों के कवि: शमशेर (स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004)
- सावित्री डागा: आधुनिक हिन्दी मुक्तक काव्य में नारी (देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1977)
- सुरेश चन्द्र पाण्डेय, आधुनिक हिन्दी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव (अनुभव प्रकाशन, कानपुर, 1983)
- सुरेन्द्र प्रसाद, हिन्दी की प्रगतिवादी कविता (चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985)
- सुधीश पचौरी, नयी कविता का वैचारिक आधार (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985)
- हरिप्रसाद पाण्डेय, नयी कविता की भाषा काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ में (बोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1989)

8.3 विविध :-

- कालिका प्रसाद, वृहत् हिन्दी कोश (ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी सम्वत् 2020)
- दुश्यन्त कुमार, आंगन में एक वृक्ष (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1966)
- दूधनाथ सिंह, नमो अंधकार (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998)
- अरविन्द कुमार, समांतर कोश (नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया 1977)
- उपेन्द्रनाथ अश्क पैतरे (नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद 1967)
- गोविन्द चातक, आधुनिक हिन्दी कोश (तक्षशिला प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983)
- धर्मपाल मैनी, मानवमूल्यपरक शब्दावली का विश्वकोश (स्वरूप एण्ड सन्ज, नई दिल्ली 2005)
- ध्रुव शुक्ल (सं.), त्रिलोचन संचयिका (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002)

- नवल जी, नालन्दा विशाल शब्द सागर (अदीश बुक डिपो, नई दिल्ली, 1978)
- नरेन्द्र अरुण, कचनार (कुमार सन्ज, सोलन, 1974)
- नरेन्द्र कोहली, हत्यारे (कल्पतरू दिल्ली, 1985)
- नागरी प्रचारिणी सभा काशी (मूल सं. रामचन्द्रवर्मा), संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर (नागरी प्रचारिणी सभा काशी,
  1971)
- प्रेम नारायण टंडन, ब्रजभाषा सूर कोश (लखनऊ विश्वविद्यालय, 1962)
- बदरीनाथ कपूर (सं.), शब्द-परिवार कोश (रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968)
- भोलानाथ तिवारी, हिन्दी पर्यायवाची कोश (प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1994)
- भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान कोश (ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी, माघ, सम्वत् 2020)
- भोलानाथ तिवारी, (सं.), बृहत् हिन्दी मुहावरा कोश (साहित्य सहकार, दिल्ली, 1988)
- मंजुल भक्त बैगाने पर में (सरस्वती विहार, नई दिल्ली, 1978)

8.4 पत्र-पत्रिकाएँ :-

- आलोचना, नामवर सिंह (सं.) :(जुलाई-सितम्बर, 1988)
- आलोचना, नामवर सिंह (सं.) :(अक्तूबर-दिसम्बर, 1987)
- कल्पना (जनवरी, 1974)
- कहानी, श्रीपतराय (सं.) : (जनवरी- दिसम्बर, 1972)
- गुरुकुलपत्रिका : (मई, १६७३ वैशाख, 2030)
- दस्तावेज, विश्वनाथप्रसाद तिवारी (सं.) :(अक्तूबर, 1987)
- धरातल : (दिसम्बर, 1977)
- धरातल : (जून, 1976)
- नया प्रतीक, स.ही.वात्स्यायन (सं.) : (1974)
- नई दुनिया :(जून, 1982)
- नटरंग : (1971-72)
- नया ज्ञानोदय, प्रभाकर श्रोत्रिय (सं.) : (अक्तूबर, 2006)
- भारतीय साहित्य, विश्वनाथ प्रसाद (सं.) : (जुलाई 1961)

- मधुमती, मंगल सक्सेना (सं.) :(जनवरी-दिसम्बर, 1973)
- स्थापना: (सितम्बर, 1970)
- समीक्षा, गोपालराय (सं.) : (अक्तूबर-दिसम्बर, १९६७)
- समकालीन भारतीय साहित्य, अरुण कमल (सं.) : (नवम्बर-दिसम्बर, 2004)
- सापेक्ष, महावीर अग्रवाल (सं.) : (जुलाई-सितम्बर, 1996)

****